इकाई-1 मनोविज्ञान की परिभाषा, लक्ष्य, उद्देश्य एवं शाखाएँ

P1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 मनोविज्ञान की परिभाषा
1.4 मनोविज्ञान का लक्ष्य
1.5 मनोविज्ञान का क्षेत्र
1.6 मनोविज्ञान की शाखाएँ
1.6.1 सैद्धान्तिक मनोविज्ञान
1.6.2 व्यावहारिक मनोविज्ञान
1.7 सारांश
1.8 शब्दावली
1.9 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

मनोविज्ञान एक नवीन विषय है। इसका इतिहास लगभग 130 वर्ष पुराना है। जर्मनी के लिपजिंग विश्वविद्यालय में इसकी पहली प्रयोगशाला स्थापित हुई। तब से अब तक यह अनेकों पड़ावों को पार करता हुआ अपनी अनेक शाखाएँ विकसित कर चुका है। इसके लक्ष्य निर्धारित किए जा चुके हैं विषय-विस्तार या क्षेत्र निश्चित किया जा चुका है और अध्ययन की नई-नई विधियाँ विकसित की जा चुकी है।

प्रस्तुत इकाई में आप मनोविज्ञान की परिभाषा से अवगत हो सकेंगे, इसके लक्ष्य को जान सकेंगे, इसके विषय-विस्तार या क्षेत्र को समझ सकेंगे एवं इसके अध्ययन की विभिन्न विधियों से परिचित हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त, इस इकाई में मनोविज्ञान की विभिन्न शाखाओं का भी वर्णन किया गया है ताकि आप इन शाखाओं की विषय-वस्तु को समझाने में सक्षम हो सकें।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप इस योग्य हो जायेंगे कि आप-

- मनोविज्ञान की विषय-वस्तु को समझ सकें एवं इसकी विभिन्न परिभाषाओं का विश्लेषण कर सकें।
- मनोविज्ञान का लक्ष्य निर्धारित कर सकें।
- मनोविज्ञान के क्षेत्र को रेखांकित कर सकें।
- मनोविज्ञान की विभिन्न विधियों की तुलना कर उत्तम विधि को अपना सकें।
- मनोविज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के महत्व को समझ सकें।

1.3 मनोविज्ञान की परिभाषा

मनोविज्ञान का आविर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। सन् 1879 ईसवी की घटना है। जर्मनी के एक विद्वान विल्हेम वुण्ट ने वहीं के लिपजिंग विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान की पहली प्रयोगशाला स्थापित की। यही प्रयोगशाला मनोविज्ञान की जन्मस्थली कही जाती है और विल्हेम वुण्ट को मनोविज्ञान का जनक माना जाता है।

तो एक प्रश्न उठता है कि क्या 1879 ई0 के पूर्व मनोविज्ञान नहीं था? इस सम्बन्ध में मनोविज्ञान का इतिहास' पुस्तक के रचनाकार बोरिंग लिखते है कि ''वुण्ट के पहले मनोविज्ञान तो बहुत था, पर वह दर्शनशास्त्र में समाहित था''। यदि हम प्राचीन दार्शनिक विचारों पर ध्यान दें तो पता चलता है कि ईसा के लगभग चार सौ वर्ष पूर्व ग्रीस के दार्शनिकों ने मनुष्य के अनुभवों और व्यवहारों की व्याख्या 'आत्मा' के आधार पर की। उस समय के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो, अरस्तू आदि के विचारों में मनोविज्ञान की झलक मिलती है।

प्लेटों ने विचारों के साथ मन का तादात्म्य स्थापित किया। विचारों की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि विचार अभौतिक होते हैं तथा भौतिक शरीर से अलग उनका स्वतंत्र अस्तित्व है। यानी, प्लेटों के अनुसार, शरीर और मन का समानान्तर अस्तित्व है, ये दोनों एक-दूसरे से अलग है।

अरस्तू ने शरीर और विचारों के सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए बतलाया कि विचारों का शरीर से अलग कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, बल्कि विचार शरीर के ही कार्य-मात्र है। अरस्तू के अनुसार, विचार की उत्पत्ति प्राणी पर वातावरण के प्रभाव के फलस्वरूप होती है। वातावरण में उपस्थित उत्तेजनाएँ ज्ञानेद्रियों को प्रभावित करती है और यह प्रभाव मनुष्य के हृदय तक पहुँचकर

विचारों की सृष्टि करता है। यानी, हृदय पर पड़े हुए प्रभाव के परिणामस्वरूप ही विचार उत्पन्न होते हैं।

स्पष्ट है कि दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत रहते हुए भी मनोविज्ञान को यूनानी दार्शनिकों ने स्वीकार किया तथा इसे आत्मा का विवेचन करने वाला विषय माना। सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में फ्रांसीसी दार्शनिक डेकार्टे ने प्राणी की अनुभूति और उसके व्यवहार की व्याख्या स्नायुमण्डल, ज्ञानेन्द्रियों तथा मांस-पेशियों की क्रियाओं के आधार पर की। उन्होंने बताया कि प्राणी एक ऐसी जटिल यन्त्र-रचना है जो प्रकाश आदि बाह्य भौतिक उत्तेजनाओं से ही क्रियाशील हो उठता है। उसमें क्रियाशीलता लाने के लिए किसी अभौतिक पदार्थ की आवश्यकता नहीं पड़ती। डेकार्टे ने स्नायुमण्डल के आधार पर अनुभूति और व्यवहार की व्याख्या करते हुए मनुष्य में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया था।

कुल मिलाकर, डेकार्टे ने मनोविज्ञान को आनुभविका विज्ञान बनाने की कोशिश की। उन्होंने भी मन तथा शरीर को एक-दूसरे से भिन्न माना, परन्तु यह बताया कि इन दोनों का पारस्परिक प्रभाव मस्तिष्क के एक खास बिन्दु पर पड़ता है जिसे 'पीनियल ग्रन्थि' कहते हैं।

मन तथा शरीर के आपसी सम्बन्ध पर ब्रिटिश दार्शनिक लॉक ने भी काफी प्रकाश डाला और अपने साहचर्यवादी विचार में यह स्पष्ट किया कि मन बाह्य वस्तुओं से विचार ग्रहण करता है। लॉक के अनुसार, जन्म के समय बच्चे का मस्तिष्क एक 'सादे कागज' के समान होता है। सभी प्रकार के ज्ञान या विचार साहचर्य द्वारा प्राप्त होते हैं।

मनोविज्ञान में वुण्ट के विचारों के आगमन के पूर्व तक इसे कभी तो 'आत्मा का विज्ञान' तथा कभी 'मन का विज्ञान' के रूप में ही परिभाषित किया जाता रहा। परन्तु वुण्ट ने इसे एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में स्थापित किया और इसे प्रयोगात्मक स्वरूप प्रदान किया। वुण्ट के अनुसार ''मनोविज्ञान एक स्वतंत्र प्रयोगात्मक मनोविज्ञान है जिसमें तात्कालिक अनुभूतियों का अध्ययन किया जाता है।'' इसी आधार पर वुण्ट ने मनोविज्ञान को परिभाषित करते हुए कहा कि ''मनोविज्ञान चेतन अनुभूति का विज्ञान है''। वुण्ट का समर्थन करते हुए विलियम जेम्स ने भी कहा कि ''मनोविज्ञान की सर्वोत्तम परिभाषा यह है कि यह चेतना की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन और व्याख्या कर सकता है"।

वुण्ट की परिभाषा को मनोविज्ञान की संरचनावादी परिभाषा कहा जाता है। अपने संरचनावादी मनोविज्ञान में वुण्ट ने मनोविज्ञान को न सिर्फ चेतना का विज्ञान माना वरन् चेतन अनुभवों के विश्लेषण को मनोविज्ञान का मुख्य लक्ष्य माना तथा अन्तः निरीक्षण को चेतना के अध्ययन की विधि। फिर भी, वुण्ट की परिभाषा में कुछ कमियाँ रह गई जो निम्नवत् है-

1. वुण्ट ने जिस चेतन अनुभूति को मनोविज्ञान की विषय वस्तु माना उसका स्वरूप इतना चंचल होता है कि वह हर समय बदलता रहता है, फिर इसका वैज्ञानिक अध्ययन कैसे संभव है?
2. चेतन अनुभूति के अध्ययन की विधि अन्तः निरीक्षण बतायी गयी जो केवल सामान्य व्यस्क मानव प्राणी तक ही सीमित है। इसका उपयोग पशु-पक्षी, असामान्य व्यक्ति, बच्चे आदि नहीं कर सकते । अतः यह परिभाषा मनोविज्ञान के क्षेत्र को सीमित करने वाली बतायी गयी।
3. अचेतन और अवचेनत मन की खोज से स्पष्ट हो गया कि मनोविज्ञान में केवल चेतना का अध्ययन ही काफी नहीं है, बल्कि अचेतन और अवचेतन के अध्ययन को भी इसमें शामिल कर इसके क्षेत्र का विस्तार किया जा सकता है।
4. चेतन अनुभव के आत्मगत होने के कारण इसका अध्ययन सिर्फ अन्तः निरीक्षण से ही सम्भव था। वाह्य निरीक्षण से नहीं और इसके लिए एक ही व्यक्ति को प्रयोगकर्ता और प्रयोज्य दोनों की ही भूमिका का निर्वहन करना होता था जो कि वैज्ञानिक नियमों के अनुकूल नहीं था।

वुण्ट के विचारों और उनके संरचनावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध एक नई विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ जिसे व्यवहारवाद के नाम से जाना गया। इस विचारधारा के प्रणेता थे जे0बी0 वाटसन। वाटसन ने मनोविज्ञान की विषय-वस्तु व्यवहार माना और इसकी परिभाषा ''व्यवहार का अध्ययन करने वाला विज्ञान'' के रूप में दी । उन्होंने स्पष्ट किया कि व्यवहार का स्वरूप वस्तुगत होता है तथा इसे न सिर्फ देखा और दिखाया जा सकता है, बल्कि इसे मापा भी जा सकता है। व्यवहार बाह्य भी होता है, आन्तरिक भी, यानी, यह प्रकट और अप्रकट दोनों तरह का होता है। बाह्य या प्रकट व्यवहार को खुली नजरों से देखा जा सकता है, जैसे-गाना, बजाना, दौड़ना, हँसना, रोना आदि। आन्तरिक या अप्रकट व्यवहार को खुली नजरों से तो नहीं देखा जा सकता, परन्तु इन्हें वस्तुगत रूप से मापा जा सकता है। हृदय की धड़कन, रक्त,-चाप, संवेदन, भाव, समायोजन, चिन्ता आदि को बाहर से तो नहीं देखा जा सकता , परन्तु उपयुक्त मापनी के सहारे इसे मापा जा सकता है।

प्राणी का प्रत्येक अनुभव और व्यवहार वातावरण से संबंधित रहता है। प्राणी वातावरण की विभिन्न परिस्थितियों का मानसिक रूप से अनुभव करता है और तदनुसार ही वह प्रतिक्रिया करता है। उदाहरण के लिए, किसी भयावह स्थिति के प्रति व्यक्ति में भय उत्पन्न होता है। यहाँ भयावह स्थिति वातावरण की एक परिस्थिति है जिसके प्रति प्राणी में भय की अनुभूति होती है और वह काँपने, चिल्लाने या भागने की क्रिया (व्यवहार) करता है। इसी प्रकार प्राणी का प्रत्येक व्यवहार वातावरण के साथ अभियोजन स्थापित करने के लिए होता है। अतः स्पष्ट है कि मनोविज्ञान के अतंर्गत प्राणी के व्यवहार एवं अनुभूतियों का अध्ययन वातावरण के साथ संबद्ध करके किया जाता है इसलिए मनोविज्ञान को आधुनिक मनोवैज्ञानिक 'व्यक्ति के समायोजन का विज्ञान' कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं।

मनोविज्ञान की परिभाषा के संदर्भ में अभी तक जो विवेचन किया गया उससे स्पष्ट है कि-

1. मनोविज्ञान अनुभूति एवं व्यवहार दोनों का अध्ययन करता है।
2. मनोविज्ञान अनुभूति एवं व्यवहार का अध्ययन वातावरण के साथ समायोजन की दृष्टि से करता है।
3. चूँकि यह प्राणियों के व्यवहार और अनुभूतियों का अध्ययन करता है, अतः सभी प्रकार के जीवित प्राणी, पशु और मनुष्य इसके अध्ययन -क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। अर्थात, मनोविज्ञान में पशु-पक्षी और मनुष्य दोनो का अध्ययन किया जाता है।

जैसे कि हम लोग चर्चा कर चुके हैं कि प्राणी की प्रत्येक क्रिया (व्यवहार एवं अनुभूति) वातावरण के साथ अभियोजन के लिए होती है इसलिए हाल के मनोवैज्ञानिकों ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है- ''मनोविज्ञान एक समर्थक विज्ञान है जो प्राणी और वातावरण के बीच सम्पूर्ण अभियोजन से संबद्ध अनुभूतियों और व्यवहारों का अध्ययन करता है।''

इस परिभाषा में एक नई बात जोड़ी गई है- अभियोजन से संबंधित 'अनुभूति और व्यवहार'। यह सही भी प्रतीत होता है, क्योंकि मनोविज्ञान व्यक्ति की क्रियाओं (मानसिक एवं शारीरिक) का अध्ययन वातावरण से पृथक रूप में नहीं करता । कोई भी मनुष्य 'शून्य' में नहीं रहता। यह चारों ओर से भौतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से घिरा रहता है। ये परिस्थितियाँ अत्यन्त जटिल स्वरूप की होती है तथा क्षण-प्रतिक्षण बदलती रहती है। इन परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुरूप ही मनुष्य मानसिक एवं शारीरिक रूप से प्रतिक्रिया करता है ताकि इन परिवर्तनशील अवस्थाओं के साथ 'अभियोजन' स्थापित हो सके। इन्हीं अवस्थाओं को वातावरण कहते हैं, जिन्हें मोटे तौर पर दो भागों- 'आन्तरिक' एवं 'बाह्य' में बाँटा जाता है। 'आन्तरिक वातावरण' व्यक्ति के जैविक अवयवों की अवस्था को कहते हैं, जैसे रक्त रसायन में परिवर्तन होने पर भूख की अवस्था का उत्पन्न होना। इसी प्रकार प्यास की अवस्था, शारीरिक तापमान में परिवर्तन, विभिन्न ग्रंथियों के कार्यों में परिवर्तन आदि आंतरिक वातावरण के उदाहरण है। बाह्य वातावरण व्यक्ति के बाहर की अवस्थाओं को कहते हैं, जैसे- मौसम (धूप, वर्षा, जाड़ा), प्राकृतिक वस्तुएँ एवं दूसरे जीवित प्राणी (पशु, पक्षी तथा अन्य व्यक्ति)। मनुष्य एवं अन्य प्राणी जब तक जीवित रहते हैं, वे सदा इन बाह्य एवं आन्तरिक परिस्थितियों से प्राप्त उत्तेजनाओं को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मनुष्य की प्रतिक्रियाएँ वातावरण के संपर्क को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मनुष्य की प्रतिक्रियाएँ वातावरण के संपर्क से प्राप्त उत्तेजनाओं के प्रति हुआ करती है। इसे 'सूत्र रूप' में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है-

उत्तेजना → प्राणी → प्रतिक्रिया

अर्थात् प्राणी में अनुक्रिया की उत्पत्ति वातावरण की उत्तेजक परिस्थितियों एवं प्राणी की सम्मिलित क्रिया के फलस्वरूप होती है। इस सूत्र को अच्छी तरह समझने हेतु एक उदाहरण लें। मान लें, दरवाजे पर एक घंटी बजाती है। यह घंटी उत्तेजक वस्तु है जिससे उत्पन्न आवाज की तरंगों को

व्यक्ति कानों द्वारा गहण करता है। अतः आवाज की तरंगें उत्तेजनाएँ है जिनके फलस्वरूप मानसिक अनुक्रिया के रूप में श्रवण संवेदना होती है और तब प्राणी दरवाजे तक जाने की अनुक्रिया करता है। वातावरण से उत्तेजना को प्राणी द्वारा प्राप्त करने, उन्हें मानसिक रूप से संगठित करने और तब उनके प्रति किसी प्रकार की अनुक्रिया करने की इस संपूर्ण प्रणाली को ही 'उत्तेजना-प्राणी अनुक्रिया कहते हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार 'उत्तेजना-प्राणी अनुक्रिया का उपर्युक्त सूत्र पर्याप्त नहीं है। इनकी राय में इस सूत्र में एक और पद का जोड़ा जाना अनिवार्य है। उत्तेजना-प्राणी-अनुक्रिया सूत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी उत्तेजना के प्रति प्राणी जैसे ही कोई अनुक्रिया करता है, प्राणी का व्यवहार वहीं समाप्त हो जाता है, लेकिन वस्तुतः ऐसे होता नहीं है। किसी उत्तेजना के प्रति प्राणी कोई अनुक्रिया करता है तो उसमें उस अनुक्रिया की भी संवेदना होती है, जो पुनः एक नई उत्तेजना का काम करती है और जिसके प्रति भी प्राणी में अनुक्रिया होती है। इसे 'सांवेदिक फीडबैक' की संज्ञा दी जाती है। अतः, उपर्युक्त सूत्र में 'सांवेदिक फीडबैक' को शामिल किया जाना आवश्यक है। सांवेदिक फीडबैक को शामिल करने पर इस सूत्र को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है उत्तेजना-प्राणी-अनुक्रिया-सांवेदिक फीडबैक।

इस सूत्र से यह तात्पर्य निकता है कि वातावरण से प्राप्त उत्तेजनाओं के फलस्वरूप प्राणी के भीतर संगठनात्मक प्रक्रिया होती है जिससे वह प्रतिक्रिया या अनुक्रिया करता है। पुनः इस प्रतिक्रिया की भी संवेदनात्मक अनुभूति होती है जो 'फीडबैक' का काम करती है।, अर्थात् एक नई उत्तेजना मिलती है और प्राणी इस नई उत्तेजना के प्रति भी अनुक्रिया करता है। यही नई उत्तेजना 'सांवेदिक फीडबैक कहलाती है। इसे और अधिक स्पष्ट करने हेतु हम एक उदाहरण का सहारा लें - मान ले, आप एक मोटरगाड़ी चला रहे हैं। आपको पीछे से आती हुई एक दूसरी गाड़ी के हार्न की आवाज सुनाई पड़ती है। यहाँ हार्न की आवाज उत्तेजना है और प्राणी अपने अनुभव के आधार पर पार्श्वदर्शी ऐनक में देखने की क्रिया करता है। ऐनक में देखने पर उसे मालूम होता है कि कोई गाड़ी पीछे से उसकी गाड़ी से काफी निकट पहुँच चुकी है। प्राणी का यह अनुभव ही 'सांवेदिक फीडबैक' के रूप में एक नई उत्तेजना का काम करती है, जिसके फलस्वरूप वह एक्सिलेटर को जोर से दबाने की प्रतिक्रिया करता है और अपनी गाड़ी को जल्दी से आगे बढ़ा लेता है। स्पष्ट है कि हॉर्न की आवाज मिलने पर प्राणी की जो पहली प्रतिक्रिया हुई (ऐनक में देखने की क्रिया) उसका व्यवहार वहीं समाप्त नहीं हुआ, बल्कि ऐनक में पीछा करती हुई गाड़ी को देखने के फलस्वरूप 'सांवेदिक फीडबैक' के रूप में नई उत्तेजना मिलती है जिससे एक दूसरी प्रतिक्रिया भी उत्पन्न होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि प्राणी की अनुक्रियाओं का क्या प्रयोजन है? प्राणी वातावरण में समुचित अभियोजन के उद्देश्य से ही विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ करता है, जैसे-मनुष्य जाड़े के मौसम में गर्म कपड़े पहनता है, भूख लगने पर भोजन करता है, प्यास का अनुभव होने पर पानी पीता

है इत्यादि। इन सभी क्रियाओं का लक्ष्य वातावरण की विशिष्ट परिस्थितियों के साथ अभियोजन करता होता है। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि प्रत्येक जीवधारी में अभियोजन करने की क्षमता पाई जाती है, लेकिन विकास की सीढ़ी पर जो प्राणी जितना ही ऊपर पहुँचा रहता है, अभियोजन की क्षमता उसमें उतनी ही अधिक रहतीहै। यही कारण है कि मुनष्य जो विकास की सीढ़ी पर सबसे ऊपर है, में यह गुण सबसे अधिक होता है और वह जटिल-से जटिल परिस्थितियों में भी अभियोजित होने की क्षमता रखता है।

वातावरण के साथ अभियोजन करने से हमारा अभिप्राय यह है कि वातावरण में होने वाले परिवर्तनों अनुरूप मनुष्य के व्यवहार और अनुभूतियों में परिवर्तन का होना।

प्राणी को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि जैसा उसका वातावरण हो, उसी के अनुसार वह अपने व्यवहारों में परिवर्तन ला सके। यह परिवर्तन वातावरण के प्रति उसके द्वारा की गई समुचित प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप होगा। उदाहरणस्वरूप- बारिश के समय सड़क पर चल रहे राही के पास यदि छाता है तो वह उसे खोलकर बारिश से बचने का प्रयास करेगा। ऐसा नहीं करने पर वर्षा का पानी उस पर असर करेगा और वह बीमार हो जाएगा, जो उसके लिए घातक सिद्ध हो सकता है। यहाँ बारिश से बचने के लिए छाता लगाने की क्रिया वातावरण से अपने को अभियोजित करने की क्रिया कही जाएगी। इसी प्रकार , व्यक्ति अपने घर पर जैसा व्यवहार करता है, मित्रों या अपने कार्यालय के सहयोगियों के साथ वैसा व्यवहार नहीं करता। तात्पर्य यह है कि वातावरण की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के साथ अभियोजन करने के लिए प्राणियों को अपनी प्रतिक्रियाओं को प्रकट करने के रूपों में भी परिवर्तन या तब्दीली लानी पड़ती है।

मनोविज्ञान की उपर्युक्त परिभाषा से एक बात और स्पष्ट होती है कि मनोविज्ञान एक जैव सामाजिक विज्ञान है। हम यह देख चुके हैं कि मनोविज्ञान मनुष्य का अध्ययन उसे वातावरण से संबद्ध करके करता है। मनुष्य अन्य प्राणियों की तरह एक जैविक इकाई है, अर्थात् मनुष्य की संरचना जैविक अवयवों से हुई और इन जैविक अवयवों के सम्मिलित रूप में कार्यशील होने के फलस्वरूप ही मुनष्य अपनी जैविक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रतिक्रियाएँ करता है। अर्थात्, मनुष्य अपनी जैविक आवश्यकताओं, जैसे-आत्मस्थापन, सामुदायिकता आदि की पूर्ति करके अपने को आंतरिक एवं बाह्य वातावरण में अभियोजित करने का प्रयास करता है। अभियोजन की इस प्रक्रिया में वह आंतरिक रूप से वातावरण की जटिल परिस्थितियों की कठिनाइयों पर विजय पाने का प्रयास करता है। इस प्रकार, अभियोजन के दो प्रमुख अंग होते हैं-

क- निर्वाह के अंग

ख- अभियोजन के अंग

निर्वाह के अंगों के अंतर्गत सामान्य विकास एवं स्वास्थ्य से संबंधित अवयव आते हैं, जैसे- रक्तकोशिकाएँ, हृदय, फेफड़ा, पाचनग्रंथियाँ, जिगर, इत्यादि । अभियोजन के अंगों में मांसपेशियों ग्रंथियों, अस्थिपंजर इत्यादि को शामिल किया जाता है। इन दोनों प्रकार के अभियोजन-अवयवों की क्रियाओं का समन्वय अन्तः स्रावी ग्रंथियों की संचार-प्रणाली एवं केन्दीय स्नायुमंडल की सहायता से होता है। इस प्रकार, मनुष्य की विभिन्न क्रियाओं का अध्ययन करने के क्रम में अभियोजन के इन अंगों का अध्ययन भी आवश्यक होता है, अतः यह एक प्रकार का जैविक विज्ञान है।

मुनष्य केवल जैविक प्राणी नहीं है एक सामाजिक प्राणी भी हैं। किसी भी मानव को उसके समाज से पृथक नहीं किया जा सकता है। मुनष्य समाज में ही जन्म लेता है, समाज में ही पलता है और जब तक जीवित रहता है वह दूसरे लोगों से घिरा रहता है। वह अपनी शारीरिक एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी समाज द्वारा ही करता है।

इस प्रकार, मनुष्य अपने को वातावरण में अभियोजित करने के सिलसिले में समाज के दूसरे लोगों को अपने व्यवहार और अनुभूतियों से प्रभावित करता है तथा स्वयं भी दूसरे से प्रभावित होता है। अतएव, मनोविज्ञान जब मुनष्य के व्यवहार और अनुभूतियों का अध्ययन करता है तब वह उनके सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण के अभियोजन के विषय में भी अध्ययन करता है। इसलिए मनोविज्ञान को जैव सामाजिक विज्ञान की संज्ञा दी जाती है।

मनोविज्ञान के स्वरूप एवं परिभाषा के संबंध में अब तक के वर्णन से यह स्पष्ट है कि यह एक 'प्रगतिशील विज्ञान' है। अतः हमें यह नहीं समझना चाहिए कि मनोविज्ञान की उपर्युक्त परिभाषा ही सर्वोत्तम है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में दिन-प्रतिदिन प्रगति हो रहीं है। अतः, इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि आगे आने वाले वर्षो में मनोविज्ञान की कई और नई परिभाषायें हमारे सामने आ जाए। यदि हम मनोविज्ञान के क्रमशः विकास पर ध्यान दें तो स्पष्ट होगा कि आरंभ में मनोविज्ञान की विषय-वस्तु 'आत्मा' अब बिल्कुल की बदल गयी है। आज हम 'आत्मा' की जगह प्राणी की संपूर्ण क्रियाओं का अध्ययन करने लगे हैं। प्राणी की क्रियाएँ अत्यन्त ही विस्तृत है। इसी के फलस्वरूप आज का मनोविज्ञान कई शाखाओं में बँट गया।

1.4 मनोविज्ञान का लक्ष्य

मनोविज्ञान एक विषय के रूप में अभी लगभग 130 वर्ष पुराना है। जब 1879 में इसे एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में स्थापित किया गया तो इसके संस्थापक प्रोफेसर विल्हेम वुण्ट ने इसे चेतना का अध्ययन करने वाला विज्ञान बताया। मनोविज्ञान का लक्ष्य निर्धारित करते हुए विल्हेम वुण्ट ने कहा कि मनोविज्ञान के तीन लक्ष्य होंगे-

1. चेतन अनुभूति का अध्ययन व विश्लेषण,

2. चेतना के निर्णायक तत्वों का पता लगाना तथा
3. निर्णायक तत्वों (संवेदन, भाव व बिम्ब) को मिलाने वाले बल (साहचर्य) की खोज।

परन्तु, समय के साथ मनोविज्ञान का स्वरूप भी परिवर्तित होता गया और आज का मनोविज्ञान व्यवहार का अध्ययन अनुभव के माध्यम से करने वाला विज्ञान है। अन्य विज्ञानों की तरह इसका भी लक्ष्य मनोवैज्ञानिक तथ्यों को निष्पक्ष रूप से एकत्र करना एवं उन्हें क्रमबद्ध ढंग से व्यवस्थित करना, इन तथ्यों का विश्लेषण कर सामान्य नियमों का प्रतिपादन करना तथा सामान्य नियमों द्वारा अध्ययन-विषय को स्पष्ट करना है। इसके अतिरिक्त, व्यवहार के अध्ययन एवं इसे प्रभावित करने वाले कारकों के परिप्रेक्ष्य में मनोविज्ञान मूलतः अपने दो लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास करता है-

1. व्यवहार को समझने का तथा
2. व्यवहार की भविष्यवाणी (पूर्व कथन) करने का

हालांकि, तथ्यों की समझ और पूर्वकथन लगभग सभी विज्ञानों का लक्ष्य होता है, परन्तु अन्य भौतिक विज्ञानों की तरह मनोविज्ञान की समस्याएँ और मनोवैज्ञानिक तथ्यों की समझ थोड़ी भिन्न होती है क्योंकि मनोविज्ञान एक जैव सामाजिक विज्ञान है। इसकी अपनी सीमाएँ हैं। फिर भी, आज मनोविज्ञान उन तकनीकों की खोज में लगा है जो मानव व्यवहार के नियंत्रण एवं नियम में सहायक हो, जो व्यक्ति की मानसिक एवं सांवेगिक समस्याओं का समाधान कर सके तथा जो व्यक्ति के भीतर के अनावश्यक भय, यौन-सम्बन्धों से उत्पन्न असंतुष्टि, मदिरा-सेवन से मुक्ति आदि में उसकी वांछित मदद करे सके। परन्तु, व्यवहार का नियंत्रण मनोविज्ञान का तीसरा लक्ष्य होना चाहिए या नहीं- इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों की मिश्रित राय है क्योंकि एक तो मानव व्यवहार वैसे ही विभिन्न प्रकार के नियंत्रण में विकसित व प्रस्फुटित होता है- पारिवारिक नियम के अधीन, स्कूल के नियम के अधीन, राष्ट्र के संविधान के परिप्रेक्ष्य में, विभिन्न धर्मों के परिप्रेक्ष्य में आदि-आदि, दूसरे, नैतिक मुद्दे भी व्यवहार के नियंत्रण के मनोवैज्ञानिक तरीके में विभिन्न प्रकार के प्रश्न खड़ा करते हैं। फिर भी, एक वैज्ञानिक विषय के रूप में मनोविज्ञान का लक्ष्य मानव व्यवहार को समझना, उसका पूर्वकथन करना, अनावश्यक व्यवहारों का नियंत्रण करना तथा मानव की मानसिक एवं सांवेगिक दशा में सुधार लाना है।

1.5 मनोविज्ञान का क्षेत्र

प्रत्येक विज्ञान का अपना एक निश्चित लक्ष्य होता है। मनोविज्ञान के 'स्वरूप' एवं उसकी परिभाषा से स्पष्ट है कि मनोविज्ञान का मुख्य लक्ष्य मनुष्य की अनुभूतियों तथा व्यवहारों का उचित अध्ययन कर उन्हें सही रूप में समझना और उनका नियंत्रण करना है। मनोविज्ञान की सहायता से हम मनुष्यों के बारे में सही-सही ज्ञान प्राप्त कर न सिर्फ दूसरों को ही समझने की कोशिश करने हैं बल्कि

अपने-आपको भी समझने में समर्थ होते हैं। यानी, मनोविज्ञान की सहायता से हम स्वयं के एवं दूसरों के बारे में ज्ञान प्राप्त करते हैं, तथा अपने और दूसरों के व्यवहारों को आवश्यकतानुसार नियंत्रित करने में समर्थ होते हैं। इस नियंत्रण के फलस्वरूप हमें वातावरण की जटिल परिस्थितियों से अनुकूल अभियोजन स्थापित करने में पर्याप्त मदद मिलती है, जिससे व्यक्ति का जीवन सुखी हो जाता है।

मनोविज्ञान अपने उपर्युक्त लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु मानव के व्यवहारों से संबंधित समस्याओं एवं तथ्यों की खोज करने की दशा में अग्रसर है तथा इस दिशा में मनोवैज्ञानिक अनुसंधान का क्षेत्र दिनों -दिन बढ़ता जा रहा है। जीवन के विविध पक्षों से लेकर सार्वभौम अभियोजन तक के विभिन्न तथ्यों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना इसका विषय बन गया है। इसी पृष्ठभूमि में मनोविज्ञान के कुछ प्रमुख क्षेत्रों का उल्लेख यहाँ किया जाएगा।

1) **मानव के सफल अभियोजन में सहायक-** मनोविज्ञान का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र मानव-जीवन के सफल अभियोजन से संबंद्ध तथ्यों का अध्ययन करने से है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों द्वारा हमें व्यक्ति के पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं जीवन के अन्य क्षेत्रों में सफलतापूर्वक अभियोजन करने से संबद्ध ज्ञान की वृद्धि करने में सहायता मिलती है तथा इस तरह से प्राप्त ज्ञान के आधार पर मनुष्य अपने को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अभियोजित करने में समर्थ होता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों का ही यह परिणाम है कि आज हम व्यक्ति के व्यक्तिगत एवं सामाजिक अभियोजन में होने वाली कठिनाइयों एवं उनके निराकरण के उपायों के बारे में जान पाए हैं तथा इनका उपयोग कर मानव- जीवन को अभियोजन योग्य बनाने में समर्थ हुए हैं। इस क्षेत्र में किए गए अध्ययनों से प्राप्त ज्ञान का भंडार इतना विशाल हो गया है कि इनके आधार पर आजकल मनोविज्ञान की अलग शाखाएँ विकसित हो चुकी हैं, जिन्हें क्रमशः असामान्य मनोविज्ञान एवं समाज मनोविज्ञान कहते हैं । असामान्य मनोविज्ञान के अंतर्गत असामान्यता के स्वरूप, कारण एवं उपचार के उपायों का अध्ययन किया जाता है । इस प्रकार, व्यक्ति के अभियोजन-संबंधी कठिनाइयों का वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन कर उन्हें पुनः अभियोजन के योग्य बनाया जाना संभव हो सका है।

समाज मनोविज्ञान द्वारा व्यक्ति के सामाजिक अनुभवों एवं व्यवहारों का विश्लेषण किया जाता है तथा व्यक्ति को अच्छा नागरिक बनाने और उनके पारस्परिक संबंधों को अनुकूल बनाने का प्रयास किया जाता है । इस क्रम में मनोवैज्ञानिक व्यक्ति के बीच के संबंधों का वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं।

2) **बालकों के विकासात्मक पहलुओं के अध्ययन एवं मार्गदर्शन में सहायक-** मनोविज्ञान का एक और महत्वपूर्ण क्षेत्र 'बालकों' के विकासात्मक पहलुओं का अध्ययन करने से है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों की मदद से हम बालकों के विकास में उत्पन्न कठिनाइयों या समस्याओं के कारणों का पता लगाते हैं तथा उचित विकास का मार्गदर्शन भी करते हैं। मनोवैज्ञानिक

बालकों के विकास की प्रक्रिया का गर्भावस्था से लेकर परिपक्वता की अवस्था तक अध्ययन करते हैं तथा इस संबंध में भविष्यवाणी करना, उनके व्यवहारों को उचित विकास हेतु नियंत्रित करना एवं सही मार्गदर्शन देना उनका मूल उद्देश्य होता है।

3) **शिक्षा, व्यापार एवं अपराध के क्षेत्र में उपयोगी-** आजकल मनोविज्ञान का प्रवेश शिक्षा, व्यापार कानून एवं अपराध इत्यादि क्षेत्रों में भी हो चुका है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक इन विभिन्न क्षेत्रों की समस्याओं का अध्ययन करने एवं उनके समाधान के उपायों की खोज करने में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त कर पाए हैं। शिक्षा के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग कर आजकल बालकों को उनकी योग्यता एवं अभिरूचि के अनुसार शिक्षा देने का व्यवस्था होने लगी है तथा विभिन्न प्रकार की मानसिक त्रुटियों से पीड़ित बालकों के लिए उचित शिक्षा दी जाने लगी हैं इससे शिक्षा को जीवनोपयोगी बनाने में काफी सहायता मिली है।

4) **उद्योग-धंधों में-** मनोविज्ञान का उद्योग-धंधों के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों के फलस्वरूप श्रम की बरबादी को रोकने में काफी सहायता मिली है। साथ- ही साथ यह मनोवैज्ञानिक अध्ययन का ही परिणाम है कि आजकल कार्य के अनुसार व्यक्ति तथा व्यक्ति के अनुसार कार्य का चुनाव किया जाने लगा है। इससे श्रमिक एवं मालिक दोनों लाभान्वित हुए हैं। इनके अतिरिक्त औद्योगिक शांति की स्थापना, दुर्घटनाओं के मनोवैज्ञानिक कारणों का पता लगाकर नियंत्रित करने, मजदूरों की कार्यकुशलता को बढ़ाने एवं अन्य औद्योगिक समस्याओं के समाधान में भी मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से बहुत अधिक मदद मिलती है।

5) **जीवन के अन्य क्षेत्रों में-** आज मनोविज्ञान का प्रवेश अभियंत्रण, चिकित्सा, अंतर्राष्ट्रीय संबंध, युद्ध इत्यादि क्षेत्रों में भी हो चुका है तथा इन सभी क्षेत्रो में नए-नए शोधकार्य होने लगे हैं। इतना ही नहीं, आर्मी, क्रीड़ा, मनोरंजन आदि के क्षेत्रों में मनोविज्ञान नया मुकाम हासिल कर चुका है। प्रशासन तथा प्रबन्धन का तो आधार ही है मनोविज्ञान। मनोविज्ञान के क्षेत्र के संबंध में उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मनोविज्ञान का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। मानव-जीवन का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र है, जहाँ मनोवैज्ञानिक अध्ययन नहीं हो पा रहा हो अथवा इसका उपयोग न किया जाता हो। हालाँकि, मनोविज्ञान एक अत्यंत ही 'युवा विज्ञान' है, फिर भी इसका प्रवेश हमारे जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में हो चुका है तथा विभिन्न क्षेत्रों में नए-नए अनुसंधान हो रहे हैं। । यही कारण है कि अब मनोविज्ञान की कई अलग शाखाएँ विकसित हो गई है। ये शाखाएँ सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही क्षेत्रों में मनोविज्ञान के विस्तार को प्रदर्शित करती है।

1.6 मनोविज्ञान की शाखाएँ

जैसे-जैसे मनोविज्ञान आत्मा के अध्ययन से व्यवहार के अध्ययन की ओर बढ़ता गया, इसका क्षेत्र व्यापक होता गया । आज इसके अंतर्गत असामान्य व्यक्तियों, बालकों एवं किशोरों की मानसिक एवं शारीरिक प्रतिक्रियाओं का भी अध्ययन किया जाने लगा है। इतना ही नहीं, मनुष्यों के

अतिरिक्त पशुओं का भी अध्ययन मनोविज्ञान में किया जाता है। साथ-ही- साथ मनुष्यों के जीवन से संबंधित भिन्न-भिन्न क्षेत्र, जैसे- चिकित्सा, शिक्षा, उद्योग एवं व्यवसाय, अपराध, प्रशासनिक व्यवस्था एवं प्रबंध, सामाजिक जीवन इत्यादि में भी मनोवैज्ञानिक अध्ययनों की होड़-सी लगी है।

विषय-विस्तार इतना हुआ है कि इसकी अनेक शाखाएँ विकसित हो गई हैं । सुविधा के दृष्टिकोण से मनोविज्ञान की विभिन्न शाखाओं को मुख्यतः दो भागों में बाँटा जा सकता है- (क) सैद्धान्तिक मनोविज्ञान एवं (ख) व्यावहारिक मनोविज्ञान । इन दोनों की भी अपनी -अपनी शाखाएँ हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख शाखाओं का वर्णन हम आगे करेंगे।

1.6.1 सैद्धान्तिक मनोविज्ञान:-

सैद्धान्तिक मनोविज्ञान का मुख्य उद्देश्य प्रक्रियाओं से सम्बन्धित नियमों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना तथा मनोवैज्ञानिक ज्ञान में वृद्धि करना है । इसके अन्तर्गत आने वाली मुख्य शाखाएँ निम्नलिखित हैं-

1) **सामान्य मनोविज्ञान-** 'सामान्य मनोविज्ञान' के अंतर्गत व्यक्ति की सामान्य क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। मनोविज्ञान की इस शाखा द्वारा व्यक्तियों की मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं की मनोवैज्ञानिक विधियों द्वारा खोज की जाती है तथा उनकी उत्पत्ति, वृद्धि एवं विकास से संबंधित तथ्य संग्रह किए जाते हैं। इस सिलसिले में मनोवैज्ञानिक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न मानसिक प्रक्रियाओं जैसे संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, अवधान, स्मरण तथा विस्मरण, चिन्तन, संवेग तथा भाव के साथ-साथ शिक्षण एवं अन्य शारीरिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। सामान्य मनोविज्ञान का मुख्य उद्देश्य मानव-व्यवहार के संबंध में सामान्य नियमों का पता लगाना उन्हें समझना, नियंत्रित करना एवं भविष्यवाणी करना है। दूसरे शब्दों में मनोविज्ञान की इस शाखा के तीन मुख्य कार्य हैं-
   (i) मानव-व्यवहारों को समझना,
   (ii) मानव व्यवहारों को नियंत्रित करना तथा
   (iii) मानव व्यवहारों की भविष्यवाणी करना।

अतः संक्षेप में, यह कह सकते हैं कि सामान्य मनोविज्ञान मानव के सामान्य व्यवहारों के संबंध में मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है।

2) **शरीर-क्रिया मनोविज्ञान-** मनोविज्ञान की इस शाखा के अंतर्गत प्राणी के क्रियातंत्र का अध्ययन किया जाता है। मनोविज्ञान मूल रूप से प्राणी की मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। लेकिन, इन क्रियाओं को ठीक से समझने के लिए स्नायुमंडल, ग्राहक इंद्रियों एवं भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवन-रक्षा-संबंधी अवयवों की रचना एवं कार्यों का अध्ययन करना अनिवार्य है। उदाहरण के लिए, प्रकाश एवं ध्वनि की संवेदना एवं प्रत्यक्षीकरण को लें। इन

मानसिक प्रक्रियाओं को ठीक से समझने के लिए संबंधित ग्राहक इंद्रियों, जैसे -आँख एवं कान और स्नायुमंडल की बनावट एवं कार्यों का ज्ञान आवश्यक है। शारीरिक मनोविज्ञान में प्राणी की अनुभूतियों एवं व्यवहारों के भिन्न-भिन्न अंगों की बनावट तथा उनके कार्यों का विशिष्ट अध्ययन किया जाता है।

3) **प्रयोगात्मक मनोविज्ञान-** प्रयोगात्मक मनोविज्ञान सामान्य मनोविज्ञान का ही एक अंग है। मनोविज्ञान की इस शाखा में प्रयोगात्मक विधि द्वारा व्यक्ति के व्यवहार से सम्बन्धित सामान्य नियमों की खोज तथा उनकी सत्यता की जाँच की जाती है। सन् 1879 ई0 में वुण्ट द्वारा लिपजिंग विश्वविद्यालय में प्रथम मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला की स्थापना के फलस्वरूप मनोविज्ञान प्रयोगात्मक विज्ञान के रूप में विकसित हुआ। फलतः दार्शनिकों की जगह वैज्ञानिकों ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश किया और मनोविज्ञान अब प्रयोगों द्वारा प्राप्त तथ्यों का वस्तुपरक ढंग से अध्ययन करने वाला एक स्वतंत्र विज्ञान बन गया है। सच्चाई तो यह है कि बिना प्रयोगों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन का कोई अस्तित्व नहीं रह गया है।

प्रयोगात्मक मनोविज्ञान में प्राणी की शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं के संबंध में पूर्वनिर्धारित एवं निश्चित अवस्थाओं में अध्ययन किया जाता है। यह अध्ययन नियंत्रित वातावरण में किया जाता है, ताकि विश्वसनीय एवं यथार्थ परिणाम प्राप्त किये जा सकें । इसमें यंत्रो एवं परिणात्मक रीतियों का भी उपयोग किया जाता है। इस प्रकार , प्रयोग द्वारा प्राप्त परिणामों के आधार पर प्राणी की विभिन्न क्रियाओं (मानसिक तथा शारीरिक) से संबद्ध नियमों को व्यवस्थित करने का प्रयास किया जाता है।

संक्षेप में, हम यह कह सकते है कि प्रयोगात्मक मनोविज्ञान सामान्य मनोविज्ञान का ही एक अंग है, जिसके द्वारा व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं का प्रयोगात्मक विधि द्वारा नियं-त्रित वातावरण में निरीक्षण किया जाता है तथा उनसे संबद्ध नियमों की सत्यता की जाँच की जाती है।

4) **बाल मनोविज्ञान या विकासात्मक मनोविज्ञान-** बाल मनोविज्ञान गर्भावस्था से प्रौढ़ावस्था का अध्ययन विकासात्मक दृष्टिकोण से करता है। यह बालक के ज्ञानवाही एवं गतिवाही विकास, संवेगात्मक विकास, सामाजिक विकास, भाषा का विकास, खेल का विकास तथा बौद्धिक विकास इत्यादि का अध्ययन कर इनकी तुलना प्रौढ़ व्यक्ति से करता है तथा इनमें कैसे एवं क्यों भिन्नता होती है, इस पर प्रकाश डालता है। इसलिए बाल मनोविज्ञान को विकासात्मक मनोविज्ञान के नाम से भी पुकारा जाता है। आज इसके अन्तर्गत गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त विकास की विभिन्न अवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाने लगा है।

5) **पशु मनोविज्ञान-** डार्विन ने विकासवाद के सिद्धान्त द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि अमीबा जैसे छोटे जीव और मनुष्य दोनों विकास की सीढ़ी पर क्रमशः सबसे नीचे और सबसे ऊपर है। इनके

बीच अविच्छिन्नता या निरंतरता पाई जाती है। इन दानों में अंतर केवल विकास की मात्रा का है। अतः मनुष्य के मन और शरीर की बनावट और क्रियाएँ पशुओं के मन और शरीर की बनावट एवं कार्यों के समान है। इनमें अन्तर केवल सरलता एवं जटिलता का है। निम्नकोटि के जीव 'सरल' होते हैं और उच्चकोटि के जीव 'जटिल'।

अतः पशुओं का अध्ययन करना मनुष्यों के अध्ययन से सरल है। यही कारण है कि पशुओं के व्यवहारों का अध्ययन आजकल अधिक होने लगा है। पशुओं और मनुष्यों की क्रियाओं में केवल विकास की मात्रा का अन्तर पाया जाता है। अतः पशुओं का अध्ययन कर मनुष्यों के व्यवहारों के संबंध में निष्कर्ष निकाला जा सकता हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्यों की अपेक्षा पशुओं को अध्ययन के सिलसिले में आसानी में नियंत्रित किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों के लिए प्रयोज्य के रूप में पशुओं की उपलब्धता भी आसान है। सीखने की क्रिया, समस्या समाधान, संवेगों में होने वाले परिवर्तन, मानसिक कार्यों की तुलना मानव व्यवहारों के साथ की जाती है। इसीलिए पशु मनोविज्ञान को तुलनात्मक मनोविज्ञान भी कहा जाता है। मानव-प्रकृति को भली-भाँति समझने हेतु पशुओं एवं मनुष्यों की प्रकृति का 'तुलनात्मक अध्ययन' करना ही पशु मनोविज्ञान का मुख्य ध्येय है।

6) **समाज मनोविज्ञान-** मुनष्य जन्मकाल से मृत्युपर्यत दूसरों के साथ रहता है। फलस्वरूप, उसके प्रत्यक्षीकरण, संवेग, भाव, चिंतन आदि मनोविज्ञान प्रक्रियाओं पर दूसरों के भाव, संवेग, चिन्तन आदि का प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव एकतरफा न होकर सदा दुतरफा पड़ता है। अर्थात्, एक व्यक्ति का व्यवहार और उसकी अनुभूति उसके समाज के दूसरे लोगों को प्रभावित करती है और दूसरे लोगों के व्यवहार और अनुभूति द्वारा वह व्यक्ति भी प्रभावित होता है। इसलिए व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंधों के 'अन्योन्याश्रय संबंध अर्थात् 'टू-वे ट्रैफिक' की संज्ञा दी जाती है। समाज मनोविज्ञान के अंतर्गत व्यक्ति और समाज के इस पारस्परिक अंतःक्रिया का अध्ययन किया जाता है। विभिन्न अध्ययनों से यह भी पता चला है कि मनुष्य जब एकांत में अर्थात् दूसरों के साथ नहीं रहता और जब वह दूसरों के साथ रहता है, तब उसके व्यवहार और अनुभूतियों में भिन्नता पाई जाती है। अतः सामान्य मनोविज्ञान के अंतर्गत व्यक्ति के व्यवहार एवं अनुभवों का अध्ययन बिना उसके सामाजिक पृष्ठभूमि के किया जाता है। लेकिन, समाज मनोविज्ञान में व्यक्ति के व्यवहार और अनुभूतियों का अध्ययन उसके सामाजिक वातावरण में किया जाता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि समाज मनोविज्ञान व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक क्रियाओं का अध्ययन उसके सामाजिक संदर्भों में करता है। इसके अंतर्गत समाजीकरण, नेतृत्व,प्रचार, मनोवृत्ति, सामाजिक संघर्ष सामुदायिक जीवन, इत्यादि समस्याओं का अध्ययन मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया जाता है। इन समस्याओं के अध्ययन से व्यक्ति के वैयक्तिक एवं सामाजिक-दोनों प्रकार के व्यवहारों को अच्छी तरह समझने में पर्याप्त मदद मिलती है।

7) **असामान्य मनोविज्ञान-** मनोविज्ञान के स्वरूप पर प्रकाश डालते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मनोविज्ञान मनुष्य की अभियोजन-संबंधी क्रियाओं (मानसिक एवं शारीरिक) का अध्ययन करता है। मुनष्य अभियोजन के क्रम में कभी सफल होता है तो कभी विफल। सफलतापूर्वक अभियोजन होने पर व्यक्ति का विकास सामान्य ढंग से होता है और उसके सभी व्यवहार सामान्य होते हैं। लेकिन, असफल होने पर व्यक्ति का विकास असामान्य रूप से होता है और उसका व्यवहार असामान्य हो जाता है। मनोविज्ञान सफल और असफल दोनों प्रकार के अभियोजन-संबंधी व्यवहारों का ही अध्ययन करता है। मनोविज्ञान की इस शाखा में व्यवहार के असामान्य स्वरूपों का वर्णन, कारण एवं निवारण के उपायों का पता लगाया जाता है। इस प्रकार, इसके अंतर्गत विभिन्न प्रकार के मानसिक रोगों, चारित्रिक दोष एवं मनोविकारी व्यक्तित्व, अपराध एवं बाल अपराध, यौन विकृतियाँ, मद्यपानता एवं मादक द्रव्य व्यसन, मानसिक दुर्बलता तथा इनकी चिकित्सा आदि की समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।

1.6.2 व्यावहारिक मनोविज्ञान:-

व्यावहारिक मनोविज्ञान का सम्बन्ध सैद्धान्तिक मनोविज्ञान द्वारा अर्जित मनोवैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग मानव जीवन की विभिन्न समस्याओं का समाधान करने एवं मानव जीवन को सुखमय बनाने से है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित मुख्य शाखाएँ आती हैं -

1) **शिक्षा मनोविज्ञान-** शिक्षा मनोविज्ञान में बालकों की शिक्षा से संबद्ध विभिन्न समस्याओं - जैसे बालकों की योग्यताओं, अभिरूचियों एवं ग्राह्य क्षमता के अनुरूप शिक्षा की व्यवस्था करना, उनकी शैक्षणिक योग्यता में वृद्धि का उपाय करना, छात्रों एवं शिक्षकों के बीच के पारस्परिक संबंधों को उपयुक्त अभियोजन के योग्य बनाना इत्यादि का अध्ययन किया जाता है तथा नई-नई विधियों का प्रयोग भी किया जाता है।

शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत मनोवैज्ञानिक उपर्युक्त समस्याओं का अध्ययन करने के अतिरिक्त मार्गदर्शन एवं परामर्श का भी कार्य करते हैं। आधुनिक समय में शिक्षा मनोवैज्ञानिक छात्रों को शैक्षणिक मार्गदर्शन एवं व्यवसाय-संबंधी मार्गदर्शन के साथ-साथ उनके संपूर्ण अभियोजन से संबंधित समस्याओं का अध्ययन भी करने लगे हैं। वे छात्रों की वैयक्तिक योग्यताओं की जाँच कर उनकी मानसिक शक्तियों का पता लगाते हैं तथा तदनुसार ही शिक्षा का कार्यक्रम भी बनाते हैं। इस दायित्व के अंतर्गत पिछड़े बालकों, श्रेष्ठ बालकों, एवं अन्य समस्यामूलक बालकों की समस्याओं का अध्ययन करना एवं उनके योग्य शिक्षा-व्यस्था का कार्यक्रम तैयार करना शामिल है। इस प्रकार, शिक्षा मनोविज्ञान का क्षेत्र और इस क्षेत्र में कार्यरत मनोवैज्ञानिकों के कार्य अत्यन्त ही विस्तृत एवं जटिल हैं।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि शिक्षा मनोविज्ञान की विषय-वस्तु को निम्न चार भागों में बाँटा जा सकता है- शिक्षार्थी, सीखने की प्रक्रिया, सीखने की परिस्थितियाँ एवं मूल्यांकन तथा परीक्षण। शिक्षा मनोवैज्ञानिक का कार्य इन चारों क्षेत्रों की समस्याओं को सुलझाने एवं शिक्षा व्यवस्था को समय के अनुरूप बनाने में सहयोग करना है।

2) **औद्योगिक मनोविज्ञान-** औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप पूरे विश्व में एक नये समाज का उद्भव हुआ जिसे औद्योगिक समाज कहा गया। अपने गाँव-घर से दूर लोग शहरों में जा-जाकर विभिन्न उद्योग-धन्धों में लगकर अपनी जीविका चलाने लगे। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व मशीनों की तरह ही औद्योगिक प्रतिष्ठानों में काम करने वाले मजदूरों से भी काम लिया जाता था। वे यह भी विश्वास रखते थे कि प्रत्येक व्यक्ति सभी कार्यों को सफलतापूर्वक कर सकता है। लेकिन, जब मनोविज्ञान के मूलभूत सिद्धान्तों का उपयोग मनोवैज्ञानिकों द्वारा इन प्रतिष्ठानों में किया जाने लगा तब उपर्युक्त धारणाएँ गलत साबित हुई । इन गलत धारणाओं के कारण ही पहले औद्योगिक प्रतिष्ठानों में श्रम की बरबादी, कार्य में अकुशलता, दुर्घटनाएँ, एवं मजदूरी में हेर-फेर जैसी गंभीर समस्याएँ रहती थी। इन समस्याओं का वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन पर बहुत बुरा असर पड़ता था तथा अर्थव्यवस्था भी काफी हद तक प्रभावित होती थी। इन समस्याओं से निबटने हेतु धीरे-धीरे लोगों में जागृति आई और सरकार एवं कल-कारखानें के मालिक श्रम-कल्याण एवं आर्थिक लाभ को बढ़ाने के नए-नए तरीकों की खोज करने की दिशा में अग्रसर हुए। इनके इस प्रयास में मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययन से यह सिद्ध किया कि मनोवैज्ञानिक नियमों एवं सिद्धान्तों का उपयोग कर औद्योगिक प्रतिष्ठानों की अनेक समस्याओं को दूर किया जा सकता है और साथ ही साथ इन प्रतिष्ठानों के स्वामियों एवं काम करने वाले श्रमिकों-दोनों पक्षों को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाया जा सकता है।

उपर्युक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु औद्योगिक मनोवैज्ञानिक ने औद्योगिक कुशलता को बढ़ाने की आवश्यकता पर बल दिया और इस निमित्त उचित काम के लिए उचित व्यक्ति के चयन के तरीकों को उपयोग में लाया गया । इस कार्य में वैयक्तिक विभिन्नता संबंधी मनोवैज्ञानिक तथ्यों से काफी सहायता मिली है। इन अध्ययनों से अब यह साबित किया जा चुका है कि प्रत्येक व्यक्ति हर काम को सफलतापूर्वक नहीं कर सकता। इसलिए कार्यकुशलता को बढ़ाने के लिए यह जरूरी है कि वैस ही व्यक्ति का चयन किया जाए, जिसमें किसी कार्यविशेष को सफलतापूर्वक करने की मानसिक एवं शारीरिक योग्यता, अभिरूचि, झुकाव और गुण विद्यमान हों। इसके लिए जिन लोगों में कार्य विशेष को करने की अपेक्षित योग्यता पाई जाती है उनको उक्त कार्य के लिए चुना जाता है। कामगारों के चयन हेतु उनकी मानसिक एवं शारीरिक क्षमताओं, अभिरूचियों आदि की जाँच करने हेतु वस्तु परक, विश्वसनीय एवं सही परीक्षणों का निर्माण किया जाता है, जिससे उपर्युक्त कार्य के लिए उपर्युक्त व्यक्ति का चयन करने में मदद मिलती है।

कार्य में कुशलता, काम करने के भौतिक वातावरण जैसे- प्रकाश, आर्द्रता, शोरगुल, हवा, प्रदूषण, इत्यादि, 'मनोवैज्ञानिक वातावरण, जैसे- थकान एवं विश्राम, कार्य का रूचिकर होना, कार्य का मितव्ययी होना इत्यादि एवं 'सामाजिक वातावरण' जैसे- उद्योगों के कार्यरत विभिन्न स्तर के कर्मचारियों, प्रबंधन, कल-कारखानों के मालिकों इत्यादि के बीच के पारस्परिक संबंध, सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक जीवन से संबंधित सुविधाओं इत्यादि पर भी निर्भर करता है। आधुनिक औद्योगिक मनोवैज्ञानिक इन क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

कार्य में कुशलता की वृद्धि के साथ-ही-साथ उद्योग-धंधों से संबंद्ध कुछ अन्य समस्याएँ, जैसे-हड़ताल, औद्योगिक अशांति, तालाबंदी, दुर्घटना, इत्यादि के मनोवैज्ञानिक पहलुओं का अध्ययन करना भी औद्योगिक मनोविज्ञान का विषय है।

3) **व्यावसायिक मनोविज्ञान-** औद्योगिक मनोविज्ञान की एक स्वतंत्र शाखा के रूप में ही इन दिनों व्यावसायिक मनोविज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ है। इसमें व्यावसायिक मार्गदर्शन, परामर्श एवं व्यावसायिक अभियोजन संबंधी समस्याओं का अध्ययन किया जाता है तथा इन समस्याओं को दूर करने हेतु मनोवैज्ञानिक नियमों का उपयोग किया जाता है। इस क्षेत्र में कार्यरत मनोवैज्ञानिक के दो प्रधान लक्ष्य होते हैं- (क) व्यक्ति का विश्लेषण करना एवं (ख) कार्य का विश्लेषण करना। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए मनोवैज्ञानिक व्यक्ति की मानसिक शक्ति, योग्यता, अभिरूचि, आदि को मापने के लिए परीक्षणों का निर्माण एवं कार्य-विश्लेषण की अनेक विधियों को उपयोग में लाते हैं यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि औद्योगिक मनोविज्ञान का मुख्य उद्देश्य 'काम' के अनुसार व्यक्ति का चयन करना होता है, जबकि व्यावसायिक मनोविज्ञान का मुख्य उद्देश्य 'व्यक्ति के अनुसार काम का चयन करना होता है। मनोवैज्ञानिक अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु बालकों की बाल्यावस्था में ही उनकी मानसिक योग्यता, झुकाव तथा अभिरूचियों का पता लगाते हैं, जिससे उन्हें उपयुक्त व्यवसाय के योग्य प्रशिक्षण एवं मार्गनिर्देशन दिया जा सके तथा वयस्क होने पर वे अपनी योग्यता का पूरा-पूरा उपयोग चुने हुए व्यवसाय में कर सकें।
4) **नैदानिक मनोविज्ञान-** नैदानिक मनोविज्ञान मूलतः असामान्य मनोविज्ञान की एक व्यावहारिक शाखा है। असामान्य मनोविज्ञान में विभिन्न प्रकार की असामान्यताओं का अध्ययन जहाँ सैद्धान्तिक रूप से किया जाता है वहीं नैदानिक मनोविज्ञान में इन असामान्यताओं को दूर करने हेतु व्यावहारिक तरीके अपनाने पर जोर दिया जाता है।

मनोविज्ञान की इस शाखा की विषय वस्तु है- विभिन्न मानसिक बीमारियों, जैसे- मनःस्नायुविकृति, मनोविकृतियाँ, मनोदैहिक बीमारियाँ, लैंगिक तथा चारित्रिक दोष, अपराध एवं बाल अपराध, मनोविकारी व्यक्तित्व इत्यादि का अध्ययन करना तथा इनकी चिकित्सा हेतु विभिन्न विधियों, जैसे- संसूचन, सम्मोहन, मनोविश्लेषण, पुनःशिक्षण, आघात चिकित्सा, व्यवहार-

परिमार्जन, मनोशल्य विधि आदि का उपयोग कर स्वास्थ्य लाभ पहुँचाना। इसके अतिरिक्त, नैदानिक मनोवैज्ञानिक इस बात में भी विश्वास रखते हैं कि 'चिकित्सा से संयम सदा उत्तम होता है' इसलिए मानसिक स्वास्थ्य को ठीक रखने का निर्देशन देना भी इनका दायित्व हो जाता है। इस प्रकार नैदानिक मनोविज्ञान अभियोजन, मानसिक स्वास्थ्य, मानसिक रोग तथा विकृतियों के उपचार के संबध में अध्ययन करता है।

5) **चिकित्सा मनोविज्ञान-** आजकल मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से प्राप्त तथ्यों का उपयोग चिकित्सा के क्षेत्र में भी बहुत अधिक होने लगा है। प्रायः यह देखा जाता है कि विभिन्न शारीरिक व्याधियों से पीड़ित व्यक्ति किसी-न-किसी रूप से मानसिक तौर पर भी अस्वस्थ या बीमार रहता है। अतः शारीरिक रोगों का मन पर भी प्रभाव रहता है। इतना ही नहीं बल्कि कई प्रकार की शारीरिक बीमारियाँ भी मानसिक कारणों से होती हैं, जैसे- पेट की बीमारी, हृदय-संबंधी रोग, रक्तचाप-संबंधी गड़बड़ी इत्यादि। अतः मनोविज्ञान की सहायता से इन रोगों की चिकित्सा करने पर रोगी के शीघ्र ठीक होने की संभावना बढ़ जाती है। इसलिए, कुशल डॉक्टर अपने रोगियों की चिकित्सा हेतु मनोवैज्ञानिकों की राय भी आवश्यक रूप से लेते हैं। प्रायः सभी अच्छे अस्पतालों में मनोवैज्ञानिकों की नियुक्ति की जाती है, जो मरीजों की चिकित्सा में डॉक्टरों की सहायता करते हैं।
6) **अपराध-संबंधी मनोविज्ञान-** मनोविज्ञान की इस शाखा का संबंध अपराधियों की मनःस्थिति का अध्ययन करने, उनके कारणों का पता लगाने तथा इसे नियंत्रित करने के उपायों से है। मनोविज्ञान का विकास होने से पूर्व आम धारणा यह थी कि अपराधी जन्म से ही अपराधी होता है वह कभी भी अपने को समाज में अभियोजित नहीं कर सकता। लेकिन, मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि अपराध की प्रवृत्ति एक प्रकार की असामान्यता है जो व्यक्ति के असामान्य विकास का सूचक है। अतः जिस प्रकार व्यक्तित्व की अन्य असामान्यताओं को दूर किया जा सकता है, उसी प्रकार अपराधियों को भी पुनः सफल अभियोजन के योग्य बनाया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से अब यह भी स्पष्ट हो गया है कि कोई भी व्यक्ति जन्मजात अपराधी नहीं होता, अपितु जन्म के बाद सामाजिक वातावरण में अभियोजन के क्रम में उत्पन्न कठिनाइयों, पारिवारिक विकृतियों, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकृतियों , जीवन से निराशा आदि कारणों से व्यक्ति धीरे-धीरे अपराधी बनता है। अतः इन कारणों को नियंत्रित कर अपराध को नियंत्रित किया जा सकता है तथा अपराधियों के व्यक्तित्व का अध्ययन कर उन्हें पुनः अच्छे नागरिक के रूप में परिणित किया जा सकता है। इस प्रकार, हम देखते है मनोवैज्ञानिक अध्ययनों के परिणामस्वरूप समाज की एक महत्वपूर्ण समस्या के संबंध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उदय हुआ और इन दिनों अनेक मनोवैज्ञानिक अपराधा शाखा में सराहनीय कार्य कर इस समस्या पर नियंत्रण पाने का प्रयास कर रहे हैं। इस क्षेत्र में कार्यरत मनोवैज्ञानिकों का उद्देश्य अपराधियों का पता लगाना, उनके कारणों को जानना और अपराधियों में सुधार लाकर उन्हें अपने समाज में

सफलतापूर्वक अभियोजन के योग्य बनाना होता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मनोविज्ञान की इस शाखा के अतंर्गत अपराध से संबंधित समस्याओं को जानने एवं उन्हें नियंत्रित करने के उपाय किए जाते हैं।

7) **कानून-संबंधी मनोविज्ञान-** आजकल मनोविज्ञान का उपयोग कानून एवं न्याय-संबंधी क्षेत्रों में भी होने लगा है। इससे अपराधियों का सही-सही पता लगाने में बहुत अधिक मदद मिलती है। जैसे- लाई डिटेक्टर, साइको गैल्वेनोमीटर, आदि का उपयोग कर अपराध में अंतर्लिप्त व्यक्तियों का पता आसानी से लगाया जा सकता है।

इसके साथ ही साथ, अब यह भी महसूस किया जाने लगा है कि अनेक अपराध मानसिक असामान्यताओं के कारण होते हैं। अतः ऐसे अपराधियों को जेल की सजा न देकर उनकी असामान्यता को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से दूर करने का प्रयास किया जाना चाहिए। इस दायित्व का निर्वाह करना भी इस क्षेत्र में कार्यरत मनोवैज्ञानिकों का उद्देश्य होता है।

अतएव, संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कानून-संबंधी मनोविज्ञान के अंतर्गत मनोवैज्ञानिक विभिन्न मनोवैज्ञानिक परीक्षणों एवं यंत्रों द्वारा सही अपराधी का पता लगाने एवं उनकी मानसिक असामान्यताओं को दूर करने का कार्य करते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि अपने उद्भव के लगभग 130 वर्षों के भीतर ही मनोविज्ञान की अनेक सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक शाखाएँ विकसित हो चुकी हैं तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में हो रहे दिन-प्रतिदिन के शोधों एवं प्रगतियों के फलस्वरूप प्रतिदिन नई-नई शाखाओं का प्रादुर्भाव हो रहा है। यहाँ तक कि इन दिनों अभियंत्रण तकनीकी, प्रशासन एवं प्रबंधन, योग, खेलकूद, आदि क्षेत्रों में भी मनोवैज्ञानिक अध्ययनों का उपयोग होने लगा है और आशा है, आने वाले कुछ वर्षों में और भी नई शाखाएँ खुल जाएँगी।

1.7 सारांश

- मनोविज्ञान एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में सन् 1879 ई0 में जर्मनी के लिपजिंग विश्वविद्यालय में स्थापित हुआ। विल्हेम वुण्ट को इसका जनक माना जाता है।
- मनोविज्ञान की आधुनिकतम परिभाषा इस प्रकार है- ''मनोविज्ञान एक समर्थक विज्ञान है जो वातावरण में प्राणी के सम्पूर्ण अभियोजन से सम्बद्ध अनुभूतियों और व्यवहारों का अध्ययन करता है। ''
- मनोविज्ञान का अध्ययन-विषय ''उत्तेजना-प्राणी-अनुक्रिया से सम्बद्ध प्रणाली है।
- मनोविज्ञान का लक्ष्य व्यवहार को समझना तथा उसके सम्बन्ध में पूर्व कथन करना है।

- मनोविज्ञान का क्षेत्र काफी व्यापक है। इसके अन्तर्गत शिक्षा, व्यापार, मिलिटरी, उद्योग, स्वास्थ्य, अपराध, अभियंत्रण, चिकित्सा, प्रबन्धन, अन्तर्राष्ट्रीय संबन्ध, क्रीड़ा आदि का अध्ययन किया जाने लगा है।

1.8 शब्दावली

- **मनोविज्ञान**: प्राणियों के व्यवहार और अनुभूति का अध्ययन वातावरण के परिप्रेक्ष्य में करने वाला विज्ञान कहलाता है।
- **चेतन अनुभूति:** किसी उत्तेजना के सम्बन्ध में व्यक्ति की तात्कालिक अनुभूति को चेतन अनुभूति कहते हैं जो संवेदन, भाव और बिम्ब का योग होती है।
- **जैव-सामाजिक विज्ञान**: यह विज्ञान जो व्यक्ति के जैविक अवयवों द्वारा होने वाले सभी मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं का अध्ययन सामाजिक प्राणी के रूप में करता है, जैव सामाजिक विज्ञान कहलाता है।

1.9 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) मनोविज्ञान को 'चेतन अनुभूति का विज्ञान' किसने कहा?
   अ) फ्रायड ब) वुण्ट स) वाटसन द) नंडाइक
2) मनोविज्ञान की परिभाषा से सम्बन्धित वाटसन के विचार को निम्नलिखित में से किस 'वाद' के अन्तर्गत रखा जाता है-

   अ) संरचनावाद ब) प्रकार्यवाद

   स) व्यवहारवाद द) गेस्टाल्टवाद
3) निम्नलिखित में से मनोविज्ञान की कौन-सी शाखा व्यावहारिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत आती है-

   अ) सामान्य मनोविज्ञान ब) शिक्षा मनोविज्ञान

   स) बाल मनोविज्ञान द) असामान्य मनोविज्ञान

उत्तर: 1) ब 2) स 3) ब

1.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान - डॉ0 अरूण कुमार सिंह- मोतीलाल- बनारसीदास।
- साइकोलॉजी (एन इन्ट्रोडक्शन) कगन एवं हैवमैन- हार्कोर्ट ब्रेस, लंदन।
- सामान्य मनोविज्ञान- सिन्हा एवं मिश्रा- भारती भवन।
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान - सुलेमान एवं खान- शुक्ला बुक डिपो, पटना।

1.11 निबन्धात्मक प्रश्न

2. मनोविज्ञान की परिभाषाओं पर प्रकाश डालते हुए इसकी सर्वोत्तम परिभाषा बतायें।
3. मनोविज्ञान के स्वरूप एवं विषय-वस्तु का वर्णन करें।
4. मनोविज्ञान के लक्ष्य का उल्लेख करें।
5. मनोविज्ञान की परिभाषा दें। इसके क्षेत्र की विवेचना करें।
6. सैद्धान्तिक मनोविज्ञान की विभिन्न शाखाओं का परिचय करायें।
7. व्यावहारिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न शाखाओं का संक्षिप्त वर्णन करें।

इकाई-2 मनोविज्ञान की विधियाँ, अवलोकन एवं प्रयोगात्मक विधि

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 मनोविज्ञान की विधियाँ
 2.3.1 वैज्ञानिक विधियों की विशेषताएँ
2.4 अवलोकन विधि
 2.4.1 अन्तर्निरीक्षण विधि
 2.4.2 बाह्य निरीक्षण विधि
2.5 प्रयोगात्मक विधि
 2.5.1 परिवर्त्य या चर
 2.5.2 परिवर्त्यो के प्रकार
 2.5.3 प्रयोगात्मक विधि के गुण
 2.5.4 प्रयोगात्मक विधि की सीमाएँ
2.6 सारांश
2.7 शब्दावली
2.8 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

अन्य विषयों की तरह मनोविज्ञान की विषय-वस्तु के अध्ययन हेतु भी विभिन्न विधियों का इस्तेमाल किया जाता है। इन विधियों के द्वारा मनोविज्ञान की विभिन्न शाखाओं से सम्बद्ध अध्ययन-विषय की आवश्यक सामग्री एकत्रित की जाती है, फलतः मनोविज्ञान के विषय-विस्तार में इजाफा होता है और उसका क्षेत्र व्यापक होता जाता है। आजकल मनोवैज्ञानिक अध्ययनों के लिए दूसरे विज्ञानों की तरह ही वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित कई विधियों का उपयोग किया जाने लगा है। इन विधियों के कारण ही मनोविज्ञान विज्ञान का दर्जा प्राप्त कर सका है।

प्रस्तुत इकाई में हम लोग विधियों की महत्ता, वैज्ञानिक विधियों की विशेषता, अवलोकन विधि के अन्तर्गत अन्त:निरीक्षण एवं बाह्य निरीक्षण विधि के गुण-दोष तथा प्रयोगात्मक विधि की विशेषताओं पर विस्तृत रूप से चर्चा करेंगे।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि आप-

- वैज्ञानिक विधियों की विशेषताओं से अवगत हो सकेंगे।
- अवलोकन का अर्थ समझ सकेंगे तथा अन्तःनिरीक्षण एवं बाह्य निरीक्षण विधियों की विशेषताओं एवं खामियों का खाका खींच सकेंगे।
- प्रयोग एवं प्रयोगात्मक विधि के गुण-दोषों पर प्रकाश डाल सकेंगे।
- परिवर्त्य एवं उनके विभिन्न प्रकारों को रेखांकित कर पायेंगे।

2.3 मनोविज्ञान की विधियाँ

प्रत्येक विज्ञान अपनी विषय-वस्तु के अध्ययन हेतु कुछ विशेष विधियों का उपयोग करता है। किसी विज्ञान द्वारा अपनी विषय-वस्तु से संबद्ध आवश्यक सामग्री एकत्र करने का जो तरीका इस्तेमाल किया जाता है, इसे ही अध्ययन की विधि कहते हैं। किसी विज्ञान की अध्ययन- विधि क्या होगी, यह उसकी विषय-वस्तु पर निर्भर है। मनोविज्ञान की विषय-वस्तु प्राणी की मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं (व्यवहार) का अध्ययन है। प्राणी का व्यवहार अत्यन्त जटिल होता है, क्योंकि यह गत्यात्मक स्वरूप का होता है, अर्थात यह प्रत्येक क्षण बदलता रहता है । उसमें स्थिरता नहीं पाई जाती है। इसलिए मनोविज्ञान की विधियाँ भौतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र या अन्य पर्यावरणीय विज्ञान की तरह निश्चित तथा यथार्थ नहीं हो सकती। प्राणी के व्यवहारों को तत्वों एवं परमाणुओं की तरह नियंत्रित करना भी संभव नहीं। इस संबंध में एक और बात यह भी है कि चूँकि मनोविज्ञान एक नवीन विज्ञान है, इसलिए अन्य प्राकृतिक विज्ञानों की तुलना में मनोविज्ञान के क्षेत्र में पूर्व-अर्जित ज्ञानभंडार एवं पूर्व-परीक्षित वैज्ञानिक विधि का अभाव होना स्वाभाविक है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि मनोविज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिक अध्ययन बिल्कुल भी संभव नहीं है। आजकल मनोवैज्ञानिक अध्ययनों के लिए दूसरे विज्ञानों की तरह ही वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित कई प्रकार की विधियों का उपयोग किया जाने लगा है। सच्चाई तो यह है कि आधुनिक मनोविज्ञान को वैज्ञानिक विधियों के कारण ही विज्ञान का दर्जा प्राप्त हो चुका है।

2.3.1 वैज्ञानिक विधियों की विशेषताएँ-

वैज्ञानिक विधियों की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ होती हैं जो निम्नलिखित हैं-

1) **वस्तुनिष्ठता -** किसी भी वैज्ञानिक विधि की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता या गुण वस्तुनिष्ठता होती है। जब अध्ययनकर्ता आलोच्य विषय से संबद्ध विभिन्न तथ्यों को ज्यों-का-त्यों एकत्र करता है, न कि अपनी व्यक्तिगत इच्छा के अनुसार, तब उसके अध्ययन के तरीके को वस्तुनिष्ठ या निष्पक्ष कहते हैं। वैज्ञानिक अध्ययन में यह गुण सबसे अधिक महत्व रखता है। यही कारण है कि ज्ञान के जिस क्षेत्र में वस्तुनिष्ठता का अभाव पाया जाता है, उसे विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखा जाता।
2) **सत्यापन गुण-** वैज्ञानिक विधि का दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसे ठीक उसी रूप में, अर्थात पहले की तरह, दुहराया जा सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि कोई वैज्ञानिक जिस तरह एक किसी घटना के बारे में कोई परिणाम या निष्कर्ष एक बार प्राप्त करता है, उसी विधि एवं परिस्थिति का उपयोग कर कोई भी दूसरा वैज्ञानिक प्राप्त परिणामों की जाँच कर सकता है। इसी तरह एक वैज्ञानिक स्वयं भी जब चाहे उस विधि की पुनरावृत्ति कर अपने पूर्व के अध्ययनों से प्राप्त परिणामों की पुष्टि या जाँच कर सकता है।
3) **नियंत्रित परिस्थिति में अध्ययन-** कोई भी विधि वैज्ञानिक तभी कही जाएगी जब उसका इस्तेमाल नियंत्रित परिस्थिति में किया जाए, ताकि जिस घटना विशेष का अध्ययन वैज्ञानिक करता है, उसके बारे में निश्चित एवं ठोस तथ्य प्राप्त किया जा सके। नियंत्रित परिस्थिति से हमारा अभिप्राय यह है कि अध्ययन इस तरह से किया जाए जिसमें अध्ययन हेतु जिस परिवर्त्य को चुना गया है, उसके अतिरिक्त अन्य परिवर्त्य अध्ययन- विषय पर प्रभाव न डाल सकें। ऐसा न होने पर प्राप्त परिणाम निश्चित, ठोस एवं विश्वसनीय नहीं होगा।
4) **विश्वसनीयता एवं वैधता-** वैज्ञानिक विधि की एक और महत्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि उसमें विश्वसनीयता एवं यथार्थता का गुण विद्यमान हो। जब किसी विधि द्वारा अध्ययन करने पर बार-बार एक ही तरह का परिणाम मिलता है तब इस विधि को विश्वनीय विधि कहते हैं। इसी तरह किसी विधि का प्रयोग कर वैज्ञानिक जिस घटना विशेष के बारे में अध्ययन करना चाहता है, यदि उस विधि द्वारा उसी घटना पर प्रकाश पड़ता है तो उस विधि को यथार्थ विधि कहते हैं।
5) **क्रमबद्धता-** वैज्ञानिक विधि की यह भी एक महत्वपूर्ण विशेषता होती है। वस्तुतः क्रमबद्धता वैज्ञानिक अध्ययनों की एक आवश्यक शर्त होती है। वैज्ञानिक अपने अध्ययन को क्रमबद्ध बनाने के उद्देश्य से ही पूर्ण-नियोजित ढंग से अध्ययन करता है। प्रयोगात्मक विधि में क्रमबद्धता का गुण सर्वाधिक पाया जाता है, इसलिए वैज्ञानिक इस विधि का ही उपयोग अधिकतर करते हैं।
6) **सांख्यिकीय विश्लेषण की संभावना-** वैज्ञानिक अध्ययनों की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि अध्ययन के क्रम में प्राप्त विवरणों का विश्लेषण सांख्यिकीय रूप से हो सके। इस तरह से प्राप्त परिणाम संक्षिप्त, निश्चित, एवं प्रामाणिक होते हैं।

2.4 अवलोकन विधि

मनोविज्ञान में अवलोकन विधि का विशेष महत्व है। अवलोकन किसी भी विज्ञान की एक महत्वपूर्ण एवं मौलिक विधि है। इसमें अवलोकनकर्ता सूचना के विभिन्न क्षेत्रों में उपस्थित रहता है तथा अपने शोध के लिए उपयोगी सामग्री एकत्र करता है। यह सहभागी तथा असहभागी दोनों ही प्रकार का होता है। सहभागी अवलोकन में अवलोकनकर्ता उस समूह का सदस्य बन जाता है जिसका या जिसके सदस्यों का वह अध्ययन करना चाहता है। असहभागी अवलोकन में अवलोकनकर्ता समूह से अलग रहकर समूह के सदस्यों के व्यवहारों का अध्ययन करता है।

अवलोकन नियंत्रित और अनियंत्रित दोनो ही परिस्थितियों में किया जाता है। मनोविज्ञान में अवलोकन आन्तरिक एवं बाह्य दोनों तरह से किया जाता है। प्रयोगकर्ता स्वयं अपना अवलोकन कर सकता है या फिर वह दूसरे प्रयोज्यों का अध्ययन कर सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में अवलोकन विधि के अन्तर्गत जिन दो महत्वपूर्ण विधियों का उपयोग मनोवैज्ञानिक समस्याओं के अध्ययन हेतु किया जाता है वे हैं -

क- अन्तर्निरीक्षण विधि

ख- बाह्य निरीक्षण विधि

इसके अतिरिक्त, आधुनिक मनोविज्ञान का आधार प्रयोगात्मक विधि पर आधारित है। जो मनोविज्ञान को एक विज्ञान का दर्जा दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन विधियों का वर्णन आगे किया गया है-

2.4.1 अन्तर्निरीक्षण विधि-

अन्तर्निरीक्षण मनोविज्ञान की एक पुरानी विधि है। यह विधि संरचनावादी स्कूल के मनोवैज्ञानिक की देन है जिन्होंने मनोविज्ञान को चेतन अनुभूति का विज्ञान कहकर पुकारा और अन्तर्निरीक्षण को ही इसके अध्ययन की एकमात्र विधि माना। अन्तर्निरीक्षण का तात्पर्य अपने अन्दर देखना या झाँकना होता है अर्थात् जब व्यक्ति अपनी ही मानसिक क्रियाओं (अनुभूतियों) का स्वयं निरीक्षण करता है तथा उसके बारे में 'रिपोर्ट' देता है तब उसे अन्तर्निरीक्षण करना कहते हैं। अन्तर्निरीक्षण में व्यक्ति अपने अंतस् या अन्दर की मानसिक क्रियाओं का निरीक्षण करता है। अर्थात्, किसी परिस्थिति विशेष में व्यक्ति जो अनुभव करता है (सुखद या दुखद) उसके अन्दर जो भाव उत्पन्न होते हैं अथवा वह मानसिक रूप से जो सोचता है, इत्यादि अन्दर की आत्मगत बातों का निरीक्षण करता है और 'रिपोर्ट' देता है तब वही अन्तर्निरीक्षण है। इस प्रकार, व्यक्ति जब अपनी मानसिक क्रियाओं को 'स्वयं' अपने ही अन्दर देखता है और अपनी वर्तमान एवं तात्कालिक अनुभवों को बताता है तब निरीक्षण की इस विधि को अन्तर्निरीक्षण कहेंगे। दूसरे शब्दों में, किसी

उत्तेजना से होने वाले तात्कालिक चेतन अनुभवों को स्वयं निरीक्षण कर व्यक्त करना ही अन्तर्निरीक्षण है। चेतन अनुभवों के इस वर्णन में दो महत्वपूर्ण विशेषताएँ पाई जाती है-

1. चेतन अनुभूतियों का वर्णन करना और अनुभव का होना-दोनों क्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं। अर्थात् यदि अनुभव समाप्त होने पर उसका वर्णन किया जाए जो उसे अन्तर्निरीक्षण की संज्ञा नहीं दी जा सकती।
2. अन्तर्निरीक्षण में चेतन अनुभव के प्रत्यक्ष एवं प्रकट रूपों का वर्णन नहीं किया जाता, बल्कि उनके मूल रचनात्मक तत्वों को वर्णन किया जाता है। प्रत्येक अनुभव तीन प्रकार के रचनात्मक तत्वों के योग से निर्मित होते हैं- संवेदना, प्रतिमा एवं भाव। अतः किसी उत्तेजना से होने वाले चेतन अनुभवों के इन्हीं तीन तत्वों की खोज कर उनके गुणों के साथ वर्णन करना अन्तर्निरीक्षण की क्रिया कही जाती है। उदाहरण के लिए, मान लें आपके हाथ में गुलाब का एक फूल है जिस आप देख रहे हैं। अतः, दृष्टि संवेदना द्वारा उसके प्रकार-यथा लाल, पीला या काला रंग, उसकी तीव्रता यथा- चमकीला, गाढ़ा या फीका और चूँकि वह आपके हाथ में है, इसलिए गति संवेदना द्वारा उसके वजन का अनुभव एवं चूँकि उसकी पंखुड़ियाँ आपके हाथ से स्पर्श हो रही है इसलिए मुलायम या कड़ा होने का अनुभव आपको होता है। इसके साथ-साथ, उस गुलाब के फूल को देखने पर आपको सुख या दुःख का अनुभव होता है, वह आपको प्रिय लगता है या अप्रिय लगता है- इन सभी आत्मगत बातों का निरीक्षण कर अभिव्यक्त करना ही अन्तर्निरीक्षण कहलाता है।

(i) **अन्तर्निरीक्षण विधि के गुण-** चूँकि, मनोविज्ञान में मनुष्य की मानसिक क्रियाओं, अर्थात् चेतन अनुभवों का अध्ययन किया जाता है, इसलिए इन अनुभवों का क्रमबद्ध अध्ययन करने हेतु 'अन्तर्निरीक्षण विधि' का उपयोग अत्यन्त आवश्यक है। दूसरी किसी विधि द्वारा चेतन अनुभूतियों का अध्ययन करना संभव नहीं है क्योंकि अनुभूतियाँ वैयक्तिक या आत्मगत स्वरूप की होती हैं।अतएव यदि मनोवैज्ञानिक अध्ययनों में इस विधि का उपयोग न किया जाए तो अनुभूतियों का अध्ययन नहीं किया जा सकेगा और इस प्रकार मनोवैज्ञानिक अध्ययन अधूरा रह जाएगा। किसी व्यक्ति की मानसिक क्रियाओं, जैसे-सुख या दुःख के अनुभव, स्मरण, कल्पना, स्वप्न आदि का सीधा अध्ययन, अन्तर्निरीक्षण विधि द्वारा ही संभव है।

अन्तर्निरीक्षण मनोविज्ञान की एक अनोखी विधि है, जिसके फलस्वरूप मनोविज्ञान को दूसरे विज्ञानों से भिन्न किया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप, भौतिकी, रसायन आदि भी विज्ञान हैं, परन्तु इन विज्ञानों द्वारा अन्तर्निरीक्षण विधि का उपयोग नहीं किया जाता। अब मान लें हमें दो वजनों का तुलनात्मक अध्ययन करना है , यह अध्ययन भौतिक और मनोविज्ञान -दोनों में किया जाता है। भौतिकी में दिए गए दोनो वजनों को तौलने वाले तराजू के पल्लों पर चढ़ाकर, आँखों से तराजू के

काँटों को देखकर दोनों में किसी को भी या हल्का और दूसरे को भारी होने का निर्णय किया जाएगा। यहाँ यह निर्णय अन्तर्निरीक्षण पर आधारित होगा, जो भौतिकी में संभव नहीं है।

अन्तर्निरीक्षण विधि का ऐतिहासिक महत्व भी है, क्योंकि मनोविज्ञान को दर्शनशास्त्र से अलग एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में परिणित करने में इस विधि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रारम्भ के वुंट, टिचनर आदि मनोवैज्ञानिकों ने इसी विधि के सहारे मनोविज्ञान में वैज्ञानिक अध्ययन किया था। अन्तर्निरीक्षण विधि से प्राप्त सामग्री द्वारा मनोविज्ञान की दूसरी वस्तुनिष्ठ विधियों से प्राप्त सामग्री की विश्वसनीयता की जाँच की जा सकती है तथा दूसरी विधियों की कमियों को पूरा भी किया जा सकता है। इस प्रकार, दूसरी विधियों के साथ एक पूरक विधि के रूप में इसका उपयोग विशेष महत्व रखता है।

अतः इम देखते हैं कि अन्तर्निरीक्षण विधि एक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण विधि है। परन्तु साथ-ही-साथ इस विधि में कुछ त्रुटियाँ भी पाई जाती हैं जिसका उल्लेख किया जाना भी अपेक्षित है।

(ii) **अन्तर्निरीक्षण विधि के दोष-** अन्तर्निरीक्षण विधि की पहली त्रुटि यह बताई जाती है कि यह वैयक्तिक एवं आत्मनिष्ठ विधि है। अन्तर्निरीक्षण विधि में मानसिक अनुभूतियों का निरीक्षण केवल अन्तर्निरीक्षण अर्थात् अनुभवकर्ता ही कर सकता है, दूसरा कोई व्यक्ति नहीं। फलस्वरूप, एक ही परिस्थिति में दो निरीक्षकों के अनुभव भिन्न हो सकते हैं । जैसे मान लें, आप किसी खास स्थिति में कोई कार्य करते हैं और कुछ देर तक उस कार्य को करने के पश्चात् आपको उस कार्य के प्रति नीरसता का अनुभव होता है । अतः जब आप अन्तर्निरीक्षण करेंगे तब नीरसता का अनुभव अभिव्यक्त करेंगे। लेकिन उस स्थिति में उस कार्य को जब कोई दूसरा व्यक्ति, जो हर तरह से आपके समान ही है, करता है तब उसे वह कार्य नीरस या अरूचिकर नहीं लगता । यहाँ कार्य का स्वरूप, कार्य करने की स्थिति एवं कार्य करने वाले व्यक्ति, सब समान रहते हुए भी दोनो की मानसिक अनुभूतियों में भिन्नता होती है। जो व्यक्ति विशेष की वैयक्तिक अनुभूति कही जाएगी। स्पष्ट है कि इस स्थिति में अन्तर्निरीक्षण के आधार पर प्राप्त तथ्यों द्वारा सामान्य नियमों की स्थापना नहीं की जा सकती, क्योंकि अनुभूतियां वैयक्तिक एवं आत्मनिष्ठ हुआ करती हैं अतः इस विधि पर आधारित निष्कर्ष विश्वसनीय एवं वैध नहीं होते । अतएव, यह एक अवैज्ञानिक विधि है।

अन्तर्निरीक्षण विधि की दूसरी त्रुटि यह है कि अन्तर्निरीक्षण करते समय अन्तर्निरीक्षण को एक ही साथ दोहरा कार्य करना होता है । इसका नतीजा यह होता है कि मन दो भागों में बँट जाता है। एक तरफ उसका मन जिस मानसिक क्रिया का अन्तर्निरीक्षण किया जा रहा है, उसके बारे में जानकारी हासिल करता है और दूसरी तरफ उस क्रिया के बारे में भी जानकारी प्राप्त करता है । इस तरह के विभाजन के कारण अन्तर्निरीक्षण की क्रिया बदल जाती है। हाँ, अनुनिरीक्षण संभव हैं अर्थात्

कोई क्रिया हो रही हो ,उसी समय निरीक्षण नहीं करके उस क्रिया की समाप्ति के बाद निरीक्षण किया जा सकता हैं जैसे भय की अवस्था में अन्तर्निरीक्षण न कर, भय समाप्त होने के बाद अनुनिरीक्षण करना। परन्तु, अनुनिरीक्षण में कुछ कमियाँ हैं-

a. अनुर्निरीक्षण की क्रिया अनुर्निरीक्षण की स्मृति पर निर्भर करता है। मानसिक क्रियाओं का सही-सही वर्णन सदा संभव नहीं। अनुभव करने की क्रिया के समाप्त होने के बाद किए गए निरीक्षण में उस अनुभव के कुछ अंश मिट सकते हैं अथवा उनके वर्णन के ढंग में कुछ परिवर्तन आ सकता है। इसलिए अनुर्निरीक्षण बहुत अधिक विश्वसनीय नहीं है।
b. अनुर्निरीक्षण के पक्षपातपूर्ण होने की बहुत अधिक संभावना है, क्योंकि निरीक्षण दोषपूर्ण मनोभावों को छिपा सकता है तथा उसकी जगह असत्य बातों को प्रकट कर सकता है। फिर, अर्धचेतन एवं अचेनत अनुभवों का निरीक्षण करना तो संभव ही नहीं है। अतः मन के इन स्तरों के मनोभावों का अध्ययन संभव नहीं।
c. हमारी मानसिक क्रियाएँ इतनी चंचल होती हैं कि बहुत अल्प समय के लिए ही हमारी चेतना में रहती हैं और इतने अल्प समय में निरीक्षण करना एक कठिन कार्य है। अन्तर्निरीक्षण में निरीक्षक एवं जिसका निरीक्षण किया जाता है, अर्थात् प्रयोज्य, दोंनों एक ही व्यक्ति होता है, जो परस्पर विरोधी होते हैं। अतः कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता कि दोंनों कार्य एक ही व्यक्ति करे और यदि ऐसे संभव भी हो तो वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह उपयुक्त नहीं है।

अन्तर्निरीक्षण द्वारा प्राप्त तथ्यों को दुबारा जाँच करके उन्हें सत्यापित भी नहीं किया जा सकता। सत्यापन किसी भी वैज्ञानिक अध्ययन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है। अतः इस दृष्टिकोण से भी यह विधि अवैज्ञानिक मालूम पड़ती है।

अन्तर्निरीक्षण विधि की एक कठिनाई यह भी है कि भाषा ज्ञान के अभाव में अनेक प्रकार के अनुभवों को सही-सही शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि वैसे अनुभवों के लिए उपयुक्त शब्दों का प्रायः अभाव होता है।

इस विधि के संबंध में एक और आपत्ति यह उठाई जाती है कि इसका उपयोग सभी प्रकार के अध्ययनों में नहीं किया जा सकता। इसका उपयोग केवल प्रौढ़ व्यक्तियों पर ही किया जा सकता है। बच्चे, बूढ़ों एवं असामान्य व्यक्तियों अथवा पशुओं की मानसिक क्रियाओं का अध्ययन इस विधि द्वरा संभव नहीं। अतः इसके उपयोग का क्षेत्र अत्यंत सीमित है।

इस विधि की एक सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि इस विधि द्वारा चेतन अनुभवों के रचनात्मक तत्वों का निरीक्षण करना आसान नहीं है। यह कार्य केवल प्रशिक्षित व्यक्ति ही कर सकते हैं। अतः, सभी प्रयोज्यों पर इस विधि का सफल प्रयोग नहीं हो सकता।

कुछ मनोवैज्ञानिक इस विधि पर यह आपत्ति भी आरोपित करते हैं कि इसके द्वारा प्राप्त प्रदत्त निश्चित नहीं होते तथा उन्हें ठीक-ठीक मापा भी नहीं जा सकता। इसके अनुसार इस विधि द्वारा मानसिक अनुभूतियों का केवल गुणात्मक वर्णन ही संभव है।

इन कमियों के रहते हुए भी इस विधि की उपयोगिता से इंकार नहीं किया जा सकता। सच तो यह है कि मानसिक प्रक्रियाओं जैसे संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, चिंतन, प्रतिमा, कल्पना, संवेग, भाव इत्यादि, का अध्ययन अन्तर्निरीक्षण विधि द्वारा प्राप्त प्रदत्त के अभाव में संभव नहीं। इस प्रकार, इस विधि से मनोवैज्ञानिक अध्ययन में बहुत सहायता मिलती है। इतना ही नहीं, अपितु मनुष्य की मानसिक अनुभूतियों तथा उसके प्रकट व्यवहारों में निश्चित रूप से पारस्परिक संबंध रहता है। इसलिए वस्तुगत निरीक्षण विधि द्वारा मनुष्य के प्रकट व्यवहारों का निरीक्षण कर उसकी अनुभूतियों के बारे में भी जाना जा सकता है। अतएवं, अन्तर्निरीक्षण विधि की कमियों को वस्तुगत निरीक्षण द्वारा पूरा किया जा सकता है।

2.4.2 बाह्य निरीक्षण विधि-

मनोविज्ञान की यह दूसरी प्रमुख विधि है। व्यवहारवादियों के अनुसार मनोविज्ञान की यही एकमात्र उपयुक्त विधि है। इसमें प्राणी के व्यवहारों का वास्तविक अध्ययन किया जाता है, क्योंकि अध्ययनकर्ता या निरीक्षक प्रयोज्य के व्यवहारों का वस्तुपरक अर्थात् ज्यों-का-त्यों निरीक्षण करता है और इस निरीक्षण से प्राप्त सामग्री का विश्लेषण कर किसी परिणाम या निष्कर्ष पर पहुँचता है, जिसके सहारे वह किसी सामान्य नियम की स्थापना करता है।

अन्तर्निरीक्षण और बाह्य निरीक्षण, निरीक्षण की ही विधियाँ हैं लेकिन इनमें निरीक्षण करने के तरीके एवं निरीक्षण की जानेवाली विषय-सामग्री का अन्तर है। अन्तर्निरीक्षण में अनुभवकर्ता यानी प्रयोज्य अपनी मानसिक अनुभूतियों का स्वयं निरीक्षण करता है और रिपोर्ट देता है जबकि बाह्य निरीक्षण विधि में प्रयोज्य के व्यवहारों का निरीक्षण कोई दूसरा व्यक्ति (निरीक्षक) करता है। इसके अतिरिक्त, इन दोनों विधियों के विधेयक भी भिन्न होते हैं। अन्तर्निरीक्षण विधि द्वारा व्यक्ति की आत्मगत अनुभूतियों, जैसे भाव, प्रतिमा, चिंता, संवेदना आदि मानसिक प्रक्रियाओं का निरीक्षण किया जाता है, जबकि बाह्य निरीक्षण विधि द्वारा प्रयोज्य की क्रियाओं अर्थात् वह जो कुछ भी प्रकट रूप से करता है, उसका निरीक्षण किया जाता है।

प्राणी के व्यवहार दो प्रकार के होते हैं- आन्तरिक तथा बाह्य।

क) आंतरिक व्यवहार- आंतरिक व्यवहार के अन्तर्गत प्राणी के वैसे व्यवहार आते हैं जिनका निरीक्षण खुली नजरों से संभव नहीं है। वे व्यवहार प्राणी के शरीर के अन्दर होते हैं और उन्हें विशिष्ट प्रकार के यंत्रो की सहायता से ही मापा या अध्ययन किया जा सकता है, जैसे हृदय की

गति को स्टेथोस्कोप से, रक्चचाप को स्फिग्मोमेंनोमीटर से, मस्तिष्कीय प्रवाहों को एलेक्ट्रोइनसाइफैलोग्राम से मापकर इनकी क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

ख) बाह्य व्यवहार- बाह्य व्यवहार उन्हें कहते हैं जो शरीर के बाहर होते हैं और जिनका निरीक्षक खुली या नग्न आँखों से निरीक्षण कर सकता है, जैसे मुखाकृति में परिवर्तन, शारीरिक मुद्रा में परिवर्तन इत्यादि।

बाह्य निरीक्षण विधि द्वारा उपर्युक्त दोनों प्रकार के व्यवहारों (बाह्य एवं आंतरिक) का निरीक्षण क्रमबद्ध एवं वस्तुनिष्ट ढंग से किया जाता है। इसीलिए कुछ मनोवैज्ञानिक इसे 'क्रमबद्ध निरीक्षण' अथवा वस्तुनिष्ठ निरीक्षण की संज्ञा देते हैं।

बाह्य निरीक्षण विधि के प्रकार-

बाह्य निरीक्षण दो अलग-अलग परिस्थितियों में अलग- अलग ढंग से किए जाते हैं और तदनुसार इसके दो प्रकार होते हैं- (क) स्वाभाविक निरीक्षण एवं (ख) नियंत्रित निरीक्षण।

(क) स्वाभाविक निरीक्षण की विधि- निरीक्षण की इस विधि में अध्ययनकर्ता प्राणी के व्यवहारों का निरीक्षण उनके स्वाभाविक वातावरण, जहाँ वे रहते हैं, खेलते हैं, या कोई कार्य करते हैं, में ही करता है। अर्थात् अध्ययनकर्ता अपनी ओर से न तो वातावरण की किसी भी परिस्थिति को नियंत्रित करता है और न किसी प्रकार से हेर-फेर करता है। अर्थात्, प्राणी अपने स्वाभाविक वातावरण में स्वाभाविक रूप से कई प्रतिक्रिया करता है, और निरीक्षक उसका हूबहू निरीक्षण करता है।

(ख) नियंत्रित निरीक्षण- नियंत्रित निरीक्षण में प्राणी के व्यवहारों का निरीक्षण नियंत्रित परिस्थिति में किया जाता है, अर्थात् अध्ययनकर्ता कृत्रिम रूप से वातावरण की किसी परिस्थिति को अपने पूर्व-नियोजित ढंग से उत्पन्न या उसकी रचना करता है। यहाँ अध्ययनकर्ता प्राणी के किसी व्यवहार विशेष पर पड़ने वाले प्रायः हर संभव बात से अवगत रहता है, इसलिए आवश्यकतानुसार उन्हें नियंत्रित करना संभव होता है। इस प्रकार, किसी खास परिस्थिति और उससे संबंधित प्रतिक्रिया का विशुद्ध अध्ययन संभव है, इसलिए इस ढंग से प्राप्त परिणाम व निष्कर्ष सबसे अधिक यथार्थ, विश्वसनीय एवं प्रामाणिक होते हैं। इस तरह का निरीक्षण प्रयोगशाला में ही संभव है। इसलिए इसे प्रयोगात्मक निरीक्षण भी कहते हैं।

यहाँ हम केवल स्वाभाविक निरीक्षण के बारे में वर्णन करेंगे। नियंत्रित निरीक्षण के बारे में अलग से प्रयोगात्मक विधि के रूप में आगे वर्णन किया गया है।

स्वाभाविक रूप से किए जाने वाले निरीक्षण में निरीक्षक किसी घटना या व्यवहार को उसके स्वाभाविक प्रवाह में बहने देता है और वह जैसा है, ठीक उसी रूप में क्रमबद्ध ढंग से नोट करते जाता है। इस तरह से प्राप्त सामग्री को वह एक खास ढंग से व्यवस्थित करता है और तब

उसका विश्लेषण कर किसी नतीजे या निष्कर्ष पर पहुँचता हैं इस प्रकार, इसमें क्रमबद्ध ढंग से प्राणी की स्वाभाविक परिस्थिति में स्वाभाविक रूप से प्रकट होने वाले व्यवहारों का निरीक्षण किया जाता है।

इसे एक उदाहरण द्वारा समझें-मान लें, कोई मनोवैज्ञानिक स्वाभाविक रूप से यह निरीक्षण करता है कि जो छात्र जितना अधिक अभ्यास करते हैं, वे उतनी ही अधिक सफलता से किसी पाठ या कार्य को सीखते हैं। इस निरीक्षण के फलस्वरूप वह यह निष्कर्ष निकालता है कि सीखने की क्रिया एवं शिक्षण- अभ्यास में निकट का सह-संबंध है। इसी प्रकार कोई अध्ययनकर्ता यह निरीक्षण करता है कि जिन बच्चों के माता पिता उनकी सफलताओं के लिए पुरस्कार देते हैं, वे बच्चे और अधिक सफल होने की कोशिश करते हैं। इस निरीक्षण के आधार पर निरीक्षक यह निष्कर्ष निकालता है कि सफलता के लिए पुरस्कृत करने पर कार्य-अभिरूचि में वृद्धि होती है। ये दोनों निरीक्षण चूँकि स्वाभाविक वातावरण में किए गए हैं, इसलिए इन्हें स्वाभाविक निरीक्षण कहा जाएगा। इसी तरह, कोई मनोवैज्ञानिक किसी बच्चे के स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया का उसके स्वाभाविक वातावरण में ही निरीक्षण करता है तो इस प्रकार का निरीक्षण स्वाभाविक निरीक्षण कहलाएगा।

बाह्य निरीक्षण के गुण-

1. **यह एक वस्तुनिष्ठ अवैयक्तिक विधि है-** बाह्य निरीक्षण विधि द्वारा प्राणी के व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है। इसीलिए इनका निरीक्षण कोई भी व्यक्ति जब चाहे कर सकता है और वह दूसरों के कहने पर नहीं, बल्कि स्वयं जो कुछ भी देखता है,उसी आधार पर निष्कर्ष निकालता है। अतः अन्तर्निरीक्षण विधि की तरह ये न तो आत्मनिष्ठ है और न वैयक्तिक। दूसरे शब्दों में ,अध्ययन की यह विधि पक्षपातरहित है क्योंकि प्राणी जो व्यवहार जिस ढंग से करता है, ठीक उसी रूप में निरीक्षक द्वारा उसका निरीक्षण किया जाता है। यह एक वस्तुनिष्ठ विधि है।
2. **परिणाम -सम्बन्धी अध्ययन की संभावना-** इस विधि में परिणाम-संबंधी अध्ययन संभव है। बाह्य निरीक्षण विधि द्वारा प्राप्त आँकड़े परिणाम या संख्याओं के रूप में एकत्र किए जा सकते हैं, जिनका सांख्यिकीय निरूपण किया जा सकता है। इससे मनोविज्ञान का रूप अधिक वैज्ञानिक हो सकता है। उदाहरण के लिए, किसी जटिल परिस्थिति में कोई प्राणी कौन-कौन सी प्रतिक्रियाएँ करता है, गलत एवं सही प्रतिक्रियाओं की बारंबारता क्या है, कितने प्रयासों में गलत क्रियाओं में कमी आती है और कितने प्रयासों के बाद वह सही क्रिया करना सीख लेता है आदि बातों को संख्यात्मक रूप में नोट किया जा सकता है तथा सांख्यिकीय निरूपण कर ठोस एवं यथार्थ निष्कर्ष निकाला जा सकता है।
3. **बाह्य निरीक्षण विधि का विस्तृत क्षेत्र में उपयोग करना संभव-** इस विधि का उपयोग वयस्क लोगों के अतिरिक्त बालकों, बूढ़ों, साक्षरों, निरक्षरों एवं पशुओं सबके व्यवहारों का

निरीक्षण करने हेतु किया जा सकता है। यही नहीं, इस विधि का प्रयोग कर हम सामान्य एवं असामान्य या पागल व्यक्तियों के व्यवहारों का भी निरीक्षण कर सकते हैं। इस प्रकार अन्तर्निरीक्षण विधि की तरह इसका क्षेत्र सीमित न होकर विस्तृत है।

4. **एक ही समय में एक से अधिक व्यक्तियों का अध्ययन संभव-** इस विधि द्वारा सामूहिक अध्ययन संभव है । इस प्रकार कम ही समय में एक से अधिक व्यक्तियों का अध्ययन किया जा सकता है। इससे समय की बचत होगी। जैसे समूह या भीड़ में एक से अधिक व्यक्ति होते हैं, जिनके व्यवहारों का निरीक्षण कोई मनोवैज्ञानिक एक साथ कर सकता है। ऐसे निरीक्षण करने की सुविधा के कारण ही आज हम भीड़, दर्शक मंडली, जनता आदि का अध्ययन करने लगे हैं।

बाह्य निरीक्षण विधि के दोष-

बाह्य निरीक्षण विधि के उपर्युक्त गुणों के आधार पर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इसमें कोई दोष या त्रुटि नहीं । सच्चाई तो यह है कि इस विधि में भी कुछ ऐसी त्रुटियाँ है जिनके कारण मनोवैज्ञानिक केवल इसी विधि पर निर्भर नहीं रह सकते। इस विधि की निम्नलिखित त्रुटियाँ महत्वपूर्ण है-

1. **निरीक्षक की पूर्वधारणा का प्रभाव-** इस विधि की सबसे महत्वपूर्ण त्रुटि यह है कि निरीक्षक की पूर्व धारणा का प्रभाव निरीक्षण के निष्कर्षों पर पड़ता है। अर्थात् निरीक्षक की व्यक्तिगत धारणाओं, उसके सिद्धान्तों या विश्वास का असर निरीक्षण से प्राप्त तथ्यों पर पड़ता है। फलतः निरीक्षण के पक्षपातपूर्ण होने की संभावना बढ़ जाती है और अध्ययन की विश्वसनीयता घट जाती है।
2. **कारण-कार्य का अध्ययन कठिन-** बाह्य निरीक्षण द्वारा प्राणी के केवल प्रकट व्यवहारों का ही अध्ययन किया जाता है। लेकिन, केवल प्रकट व्यवहारों का अध्ययन कर किसी की मानसिक अवस्था का सही-सही ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। प्राणी के अनेक व्यवहार दोहरे अर्थ वाले होते हैं, जैसे-किसी की आँखों से आँसू निकलते हुए देखकर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसकी मानसिक अवस्था दुःख की है या सुख की क्योंकि दोनों अवस्थाओं में आँसू निकलते हैं। अतः केवल चिल्लाने की क्रिया का निरीक्षण कर यह नहीं कहा जा सकता कि चिल्लाने वाला भय के कारण चिल्ला रहा है या क्रोध के कारण। उसकी मनोदशा को जाने बगैर ही निश्चयात्मक रूप से कोई निष्कर्ष निकाल पाना सही नहीं है। यही कारण है कि निरीक्षण विधि में प्राणी जो करता है, केवल उसी का अध्ययन किया जाता है और प्राणी क्यों करता है और उसे किसी प्रकार की अनुभूति होती है, इसका अध्ययन इस विधि से संभव नहीं है।
3. **स्वाभाविक परिस्थिति में किए गए अध्ययन में नियत्रंण का अभाव-** इस विधि पर यह दोषारोपण किया जाता है कि यह निरीक्षण स्वाभाविक परिस्थिति में किया जाता है, और

स्वाभाविक परिस्थिति में अनेक अज्ञात कारण होते हैं जिनका प्रभाव प्राणी के व्यवहार विशेष पर पड़ता है, परन्तु निरीक्षक उन्हें नियंत्रित नहीं कर पाता है। अतः प्राणी का व्यवहार किन-किन बातों से विशेष प्रभावित हुआ है, यह ठीक-ठीक कहना संभव नहीं होगा। उदाहरण के लिए, मान लें कोई बालक सांप देखकर डरने की प्रतिक्रिया करता है। अब यह कैसे कहा जा सकता हैं कि बालक सांप के काटे जाने की संभावना से डर रहा है या सांप की टेढ़ी-मेंढ़ी चाल से। इस दोष के कारण बाह्य निरीक्षण के आधार पर कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

4. **हर तरह के व्यवहार का वस्तुनिष्ठ निरीक्षण संभव नहीं-** यों तो इस विधि द्वारा अनेक प्रकार के व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है, फिर भी कुछ व्यवहार ऐसे होते हैं जिसका निरीक्षण वस्तुनिष्ठ ढंग से नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए , पति-पत्नी के गुप्त व्यवहारों का अध्ययन निरीक्षण विधि द्वारा नहीं किया जा सकता। ऐसे व्यवहारों का अध्ययन दूसरे लोगों की 'रिपोर्ट' अथवा पशुओं के यौन व्यवहार के निरीक्षण पर निर्भर करेगा।
5. **निरीक्षक की उपस्थिति से स्वाभाविक प्रतिक्रिया की उत्पत्ति में कठिनाई-** कभी-कभी निरीक्षक को निरीक्षण करने में एक महत्वपूर्ण कठिनाई यह होती है कि उसके बाहरी व्यक्ति होने के कारण उसकी उपस्थिति में प्राणी अपनी स्वाभाविक प्रतिक्रिया प्रकट करने में संकोच करता है। फलतः यह अपने स्वाभाविक व्यवहार को अस्वाभाविक रूप में बदल देता है। यह दोषारोपण बहुत अंशों में सही प्रतीत होता है क्योंकि अकेले में व्यक्ति जैसा व्यवहार करता है,दूसरों की उपस्थिति में ठीक वैसा ही व्यवहार नहीं करता ।

हालांकि बाह्य निरीक्षण विधि के संबंध में कई त्रुटियाँ बतलाई गई हैं, फिर भी मनोविज्ञान की यह एक उपयुक्त विधि है। ऊपर जिन त्रुटियों की चर्चा की गई है उनमें अधिकतर त्रुटियाँ विधि की नहीं है, बल्कि इस विधि के उपयोग करने में होने वाली कठिनाईयों की हैं, जिन्हें दक्ष एवं अनुभवी निरीक्षक दूर करके यथार्थ एवं विश्वसनीय निरीक्षण कर सकता है।

2.5 प्रयोगात्मक विधि

प्रयोगात्मक विधि भी निरीक्षण की ही एक विधि है। इस विधि द्वारा नियंत्रित वातावरण या परिस्थिति में अध्ययन किया जाता है। प्रयोग किसी भी वैज्ञानिक अध्ययन की सर्वश्रेष्ठ विधि होती है क्योंकि प्रयोग द्वारा प्राप्त तथ्य एवं परिणाम सर्वाधिक प्रामाणिक, विश्वसनीय एवं वैध या यथार्थ होते हैं। मनोविज्ञान के विकास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान प्रयोगात्मक विधि का ही रहा है। इस विधि में प्राणी के व्यवहारों का क्रमबद्ध अध्ययन प्रयोग के आधार पर किया जाता है प्रयोग नियंत्रित अवस्था में किए जाने वाले क्रमबद्ध निरीक्षण को कहते हैं। यह निरीक्षण पूर्वानियोजित योजना के अनुसार किया जाता है। इसलिए कुछ मनोवैज्ञानिक इसे पूर्वनियोजित निरीक्षण के नाम से भी पुकारते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रयोगकर्ता पहले से ही प्रयोग का विषय, प्रयोगात्मक समस्या एवं प्रयोग

की सम्पूर्ण प्रक्रिया तय कर लेता है तब निरीक्षण करता है। किसी भी प्रयोग में दो व्यक्तियों का होना जरूरी है- (क)प्रयोगकर्ता एवं (ख) प्रयोज्य । जो प्रयोगकर्ता है वह पूर्वनिश्चित एवं पूर्वनिर्धारित अवस्था में किसी स्वतंत्र परिवर्त्य के प्रयोज्य की अनुभूतियों एवं व्यवहारों पर पड़ने वाले प्रभावों का निरीक्षण वस्तुनिष्ठ एवं निष्पक्ष ढंग से करता है। निरीक्षण हेतु प्रयोगकर्ता आवश्यकतानुसार विशिष्ट प्रकार के यंत्रों एवं सामग्री का भी उपयोग करता है और इस तरह से प्राप्त तथ्यों का सांख्यिकीय विश्लेषण कर ठोस एवं प्रामाणिक परिणाम प्राप्त करता है जिसके आधार पर वह प्राणी के व्यवहारों से संबंधित नियमों एवं सिद्धान्तों की स्थापना एवं व्याख्या करता है। प्रयोग कैसे किया जाता है, यह जानने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि परिवर्त्य या चर क्या है?

2.5.1 परिवर्त्य या चर-

परिवर्त्य या चर उन परिस्थितियों या घटनाओं को कहते हैं, जो सदा एक जैसी स्थिति में नहीं रहते । अर्थात, वे प्रतिक्षण बदलते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि 'परिवर्त्य' वे हैं, जो बदलते रहते हैं। यह बदलाव या परिवर्तन घटनाओं के प्रकार या उसके परिणाम अथवा सत्ताकाल में होता हैं, जैसे- प्रकाश, ताप, समय, मौसम, शोर-गुल श्वास लेने की क्रिया इत्यादि में परिवर्तन का होना। उदाहरण के लिए शोरगुल को लें। शोर-गुल की अवस्था में उत्पन्न आवाज निरंतर रुक-रुककर, थोड़े समय के लिए या अधिक समय के लिए हो सकती है। इसी तरह श्वास की क्रिया भी एक परिवर्त्य है, क्योंकि यह नियमित या अनयिमित, धीमी या जल्दी-जल्दी गति की हो सकती है। अस्तु, परिवर्त्य से हमारा तात्पर्य प्राणी या उसके वातावरण की उन परिस्थितियों व घटनाओं से है, जिनके प्रकार एवं परिणाम सदा एक जैसे नहीं रहते, वे बदलते रहते हैं अथवा वे विभिन्न रूपों या प्रकारों के होते हैं। प्रयोग में प्रयोगकर्ता किन्हीं दो या दो से अधिक परिवर्त्यों के बीच के आपसी संबंधों की खोज करता है अथवा किन्हीं दो परिवर्त्यों के बीच के खोजे हुए संबंधों को पुनः जाँचकर संपुष्ट करता है। इस प्रकार प्रयोग दो प्रकार के होते हैं - अन्वेषणात्मक एवं संपुष्टात्मक। जैसे, प्रयोगकर्ता यदि वह जानने की कोशिश करता है कि प्रकाश की तीव्रता और रंगों के प्रत्यक्षीकरण में क्या संबंध है, तापक्रम में वृद्धि होने पर गर्मी की संवेदना में क्या अन्तर पड़ता है, सफलता या विफलता की अनुभूति अथवा प्रेरणा का किसी कार्य-संपादन की कुशलता पर क्या प्रभाव पड़ता है आदि, तो इस प्रकार के प्रयोगों को 'अन्वेषणात्मक' प्रयोग कहते हैं। लेकिन, जब प्रयोगकर्ता इस तथ्य की जाँच करता है कि अभ्यास के फलस्वरूप कार्य-संपादन की कुशलता में वृद्धि होती है या लगातार प्रयास करने के फलस्वरूप थकान होती है तब इस प्रकार के प्रयोग को संपुष्टात्मक प्रयोग कहते हैं। संपुष्टात्मक प्रयोग में पहले से स्थापित तथ्य की पुनः जांच की जाती है।

2.5.2 परिवर्त्यों के प्रकार-

विभिन्न परिवर्त्यों के बीच परस्पर निर्भरता का संबंध रहता है। अर्थात् एक परिवर्त्य दूसरे परिवर्त्य पर आश्रित रहता है। अतः किसी एक परिवर्त्य की स्थिति में किसी प्रकार का हेर-फेर या

बदलाव होता है तो इसका प्रभाव 'आश्रित या निर्भर रहने वाले परिवर्त्य' पर भी पड़ता है। जैसे- शिक्षण-विषय की लंबाई या अभ्यास की मात्रा में वृद्धि या कमी होने का असर सीखने की क्रिया पर पड़ता है। अतएवं, सीखने की क्रिया विषय की लंबाई या शिक्षण-प्रयास की मात्रा पर निर्भर करता है और इस प्रकार इन दोनों प्रकार के परिवर्त्यो के बीच परस्पर निर्भरता का संबंध पाया जाता है। इस दृष्टिकोण से परिवर्त्यों को तीन वर्गों में बाँटा जाता है।

(क) आश्रित परिवर्त्य
(ख) स्वतंत्र परिवर्त्य
(ग) संगत या बहिरंग परिवर्त्य

(क) आश्रित परिवर्त्य:-

जो परिवर्त्य किसी दूसरे परिवर्त्य पर आश्रित होते हैं उन्हें आश्रित परिवर्त्य कहते हैं । ऐसे परिवर्त्य दूसरे परिवर्त्यो (खासकर स्वतंत्र परिवर्त्यो) में परिवर्तन या बदलाव लाये जाने पर अपनी आश्रितता के कारण स्वतः परिवर्तित हो जाते हैं। यानी, ऐसे चरों के प्रकार या परिणाम में किसी प्रकार का बदलाव या परिवर्तन इससे संबद्ध दूसरे परिवर्त्य (स्वतंत्र परिवर्त्य) में परिवर्तन होने पर निर्भर करेगा। इसी निर्भरता के गुण के कारण इसे आश्रित परिवर्त्य कहते हैं।

उदाहरण के लिए, औद्योगिक निस्पादन एक आश्रित परिवर्त्य है, क्योंकि यह औद्योगिक वातावरण, कर्मचारी की योग्यता, अभिप्रेरणा आदि परिवर्त्यों पर निर्भर करता है।

प्रयोगों में प्रायः आश्रित परिवर्त्यों के संबंध में प्रयोगकर्ता भविष्यवाणी करने की कोशिश करता है। जैसे- यदि कोई प्रयोगकर्ता प्रयोग द्वारा निष्पादन पर तापमान के प्रभाव का अध्ययन करता है तो वह निष्पादन पर तापमान के पड़ने वाले प्रभाव की भविष्यवाणी करता है तथा इसी भविष्यवाणी की सत्यता को वह प्रयोग करके सिद्ध करता है। अतः, निष्पादन पर तापमान का जो प्रभाव पड़ेगा, वही वहाँ आश्रित परिवर्त्य होगा।

(ख) स्वतंत्र परिवर्त्य:-

जो परिवर्त्य किसी दूसरे परिवर्त्य (आश्रित परिवर्त्य) पर स्वतंत्र रूप से अपना प्रभाव डालते हैं, उन्हें स्वतंत्र परिवर्त्य कहते हैं। इन्हें स्वतंत्र परिवर्त्य इसलिए कहा जाता है क्योंकि ये स्वतंत्र रूप से किसी आश्रित परिवर्त्य पर अपना प्रभाव डालते हैं। प्रयोग की अवधि में इनकी स्थिति में परिवर्तन लाने या हेर-फेर अथवा जोड़-तोड़ करने हेतु प्रयोगकर्ता स्वतंत्र रहता है और जोड़-तोड़ करके आश्रित परिवर्त्य पर पड़ने वाले प्रभावों का निरीक्षण या अध्ययन करता है। इस प्रकार, प्रयोग हेतु चुने गए स्वतंत्र परिवर्त्य को नियंत्रित नहीं किया जाता। लेकिन, किसी आश्रित परिवर्त्य को प्रभावित करने वाले अन्य स्वतंत्र परिवर्त्यों को नियंत्रित रखा जाता है। उदाहरण के लिए, निष्पादन पर तापमान के प्रभाव को लें। चूँकि यहाँ तापमान का प्रभाव निष्पादन पर पड़ता है तथा प्रयोगकर्ता इसकी स्थिति

में परिवर्तन लाकर या हेर-फेर करके (जैसे, एक अवस्था में कम तापमान रखकर और दूसरी अवस्था में अधिक तापमान रखकर) इसके प्रभाव का अध्ययन करता है, इसलिए यहाँ तापमान एक स्वतंत्र परिवर्त्य है।

किसी प्रयोग में स्वतंत्र परिवर्त्य को जिस स्थिति में रखा जाता है उसके अनुसार इसके दो रूप होते हैं- 1. प्रयोगात्मक परिवर्त्य एवं 2. नियंत्रित परिवर्त्य। प्रयोगात्मक परिवर्त्य से तात्पर्य वैसे स्वतंत्र परिवर्त्यों से है जिनके प्रभाव का अध्ययन किया जाता है तथा जिनमें प्रयोगकर्ता जोड़-तोड़ या हेर-फेर करता है, उसे प्रयोगात्मक परिवर्त्य कहते हैं। किसी एक प्रयोग में आश्रित परिवर्त्य पर प्रायः एक या दो परिवर्त्य के प्रभावों का ही अध्ययन किया जाता है जबकि उक्त आश्रित परिवर्त्य पर कई स्वतंत्र परिवर्त्यों का प्रभाव पड़ सकता है। प्रयोग की अवधि में ऐसे स्वतंत्र परिवर्त्यो को (जिनके प्रभाव का अध्ययन नहीं करना है) नियंत्रित या स्थिर रखा जाता है इसलिए इन्हें नियंत्रित परिवर्त्य कहते हैं। ऐसे परिवर्त्यो को 'संगत या 'बहिरंग' परिवर्त्य की संज्ञा भी दी जाती है, क्योंकि आश्रित परिवर्त्य पर इनके प्रभाव संगत होते है। परन्तु, चूँकि प्रयोगकर्ता का उद्देश्य इन संगत परिवर्त्यो के प्रभावों का अध्ययन करना नहीं होता, इसलिए ऐसे संगत परिवत्यों को बहिरंग परिवर्त्य के नाम से पुकारा जाता है। प्रयोग की अवधि में ऐसे परिवर्त्यों को नियंत्रित रखा जाता है, ताकि आश्रित परिवर्त्य पर इनका कोई असर न पड़े।

(ग) संगत या बहिरंग परिवर्त्य-

वहिंरग परिवर्त्य वैसे परिवर्त्य है जिन्हें यदि प्रयोगकर्ता द्वारा नियंत्रित नहीं किया जाए तो वे प्रयोगात्मक परिस्थिति में स्वतंत्र चर के साथ मिलकर आश्रित चर को प्रभावित कर सकते है। जैसे- निष्पादन पर तापमान के प्रभाव का अध्ययन करने के क्रम में तापमान प्रयोगात्मक परिवर्त्य के रूप में प्रयुक्त किया जाएगा, और प्रयोगकर्ता एक अवस्था में कम तापमान पर निष्पादन का अवलोकन करेगा, जबकि दूसरी अवस्था में अधिक तापमान पर। परन्तु, निष्पादन पर कुछ अन्य स्वतंत्र परिवर्त्यों के भी प्रभाव पड़ेगें, जैसे- शारेगुल, आद्रता, पुरस्कार, आयु इत्यादि। आश्रित परिवर्त्य पर इन स्वतंत्र परिवर्त्यो के प्रभावों को पड़ने से प्रयोगकर्ता रोकेगा अथवा उन्हें नियंत्रित करेगा। इस प्रकार, ये नियंत्रित परिवर्त्य ही संगत या बहिरंग परिवर्त्य कहे जाएँगे।

बहिरंग परिवर्त्य भी तीन तरह के होते हैं-

i. प्राणी या प्रयोज्य से संबंधित
ii. वातावरण या परिस्थिति से संबंधित
iii. प्रयोग की विभिन्न अवस्थाओं के क्रम से संबंधित।

इस प्रकार प्रयोग नियंत्रित अवस्था में पूर्वनिश्चित एवं पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार किया जाता है। अर्थात प्रयोग प्रारम्भ से पूर्व प्रयोगकर्ता प्रयोग-संबंधी पूर्ण विवरण पहले से ही तैयार कर

लेता है। प्रयोग की योजना बनाते समय प्रयोगकर्त्ता निम्नलिखित दो बातों पर विशेष ध्यान देता है- (क) प्रयोग की समस्या का चुनाव एवं (ख) प्रयोग की योजना का चुनाव।

प्रयोग की समस्या चुनाव- प्रयोगात्मक समस्या सुनिश्चित कर लेने के बाद प्रयोगकर्ता प्रयोग की एक पूरी योजना बना लेता है। इस योजना में यह प्रयोग की सम्पूर्ण प्रतिक्रियाओं का विवरण तैयार करता है, जैसे- स्वतंत्र परिवर्त्य की स्थिति में परिवर्तन लाने या हेर-फेर करने की क्रमबद्ध योजना , आश्रित परिवर्त्य को प्रभावित करने वाले अन्य स्वतंत्र परिवर्त्यो को किस प्रकार नियंत्रित किया जाएगा, आश्रित परिवर्त्य को किस प्रकार मापा जाएगा आदि। इसे उदाहरण द्वारा समझें-

मान लें , कोई मनोवैज्ञानिक जानना चाहता है कि अभ्यास का , सीखने की क्रिया पर क्या पड़ता है, । यह 'प्रयोग' इस प्रकार किया जाएगा । सबसे पहले प्रयोगकर्ता को यह विचार कर लेना होगा कि सीखने की क्रिया पर 'अभ्यास' के अतिरिक्त किन-किन बातों का प्रभाव पड़ता है। ध्यान देने पर मालूम होगा कि अभ्यास के अतिरिक्त थकान, स्वास्थ्य, शिक्षण-विधि, शिक्षण-विषय पर किए हुए कार्य के परिणाम का ज्ञान, पुरस्कार अथवा दंड, इत्यादि का भी प्रभाव सीखने की क्रिया पर पड़ता है। इस प्रयोग में प्रयोगकर्ता को केवल अभ्यास का प्रभाव मालूम करना है। अतः अभ्यास के अतिरिक्त अन्य सभी प्रभावक तत्वों को वह नियंत्रित रखेगा। यह नियंत्रण इन परिवर्त्यों को समानावस्था में स्थिर रखकर किया जाएगा। इसीलिए इन्हें नियंत्रित परिवर्त्य अथवा स्थिर परिवर्त्य कहते हैं। इसके बाद प्रयोज्य को एक शिक्षण-कार्य दिया जाएगा जो नवीनतम होगा। अभ्यास हेतु प्रयोज्य को उसी काम को बार-बार करने को दिया जाएगा- मान लें 20 बार । सभी प्रयासों में प्रयोज्य से उसी काम को एक ही तरह से कराया जाएगा। इस प्रकार, प्रयोग की पूरी अवधि में शिक्षण -कार्य और सीखने की विधि समान रखते हुए नियंत्रित किया जाएगा। थकान के प्रभाव को दूर करने के लिए ठीक आधे प्रयास के बाद (अर्थात् 10 प्रयासों के बाद) थोड़ी देर के लिए विराम दिया जाएगा। प्रत्येक प्रयास में प्रयोज्य द्वारा उक्त कार्य को करने में लगे समय और कार्य-संपादन में होने वाली त्रृटियों या अशुद्धियों एवं प्रयोज्य के व्यवहारों को प्रयोगकर्ता वस्तुनिष्ठ निरीक्षण करके नोट करता जाएगा। निश्चित प्रयास के बाद प्रयोज्य का अन्तर्निरीक्षण प्रतिवेदन भी लिया जाएगा।

इस प्रकार प्रयोगकर्ता को दो प्रकार के 'प्रदत्त' प्राप्त होंगे(क) वस्तुनिष्ठ प्रदत्त एवं (ख) आत्मनिष्ठ प्रदत्त। वस्तुनिष्ठ प्रदत्त बाह्य रूप से निरीक्षण के फलस्वरूप प्राप्त सामग्री होती है, जैसे विभिन्न प्रयासो में लगा समय, अशुद्धियों एवं प्रयोज्य का व्यवहार। आत्मनिष्ठ प्रदत्त प्रयोज्य के आत्मनिरीक्षण अर्थात् 'अन्तर्निरीक्षण प्रतिवेदन' पर आधारित होता है। इस तरह के प्रदत्त से प्रयोज्य की मानसिक अवस्था का पता चलता है।

इस प्रकार प्राप्त सामग्री की सहायता से सीखने की क्रिया पर पड़ने वाले प्रभाव को जानने हेतु आवश्यक है कि प्राप्त सामग्री का निरूपण अथवा विश्लेषण किया जाए। यह निरूपण दो प्रकार से होगा-सांख्यिकीय या परिणाम-संबंधी निरूपण एवं गुण-संबंधी निरूपण। गुण-संबंधी निरूपण

अन्तर्निरीक्षण प्रतिवेदन पर आधारित होगा, जबकि परिणाम संबंधी निरूपण के लिए सांख्यिकीय विधि का उपयोग किया जाएगा। इन दोनों प्रकार के निरूपणों के बाद ही सीखने की क्रिया पर अभ्यास का क्या प्रभाव पड़ता है, इस संबंध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। साथ ही, सही तथा विश्वसनीय निष्कर्ष के लिए केवल एक व्यक्ति पर किया गया प्रयोग पर्याप्त नहीं होगा। इसके लिए आवश्यक है कि इसी प्रयोग को अनेक व्यक्तियों पर (जो हर दृष्टि से समान हो) किया जाए और यदि सभी में करीब-करीब एक ही तरह का परिणाम प्राप्त हो तो इस प्रयोग से जो निष्कर्ष निकलेगा, उसकी सत्यता एवं विश्वसनीयता पर भरोसा किया जा सकता है।

2.5.3 प्रयोगात्मक विधि के गुण-

प्रयोग एवं उसकी प्रक्रियाओं के वर्णन से स्पष्ट है कि प्रयोगात्मक विधि एक अत्यन्त ही उपयोगी एवं श्रेष्ठ विधि है। इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

1) प्रयोगात्मक विधि में वस्तुनिष्ठ निरीक्षण द्वारा व्यक्ति के व्यवहार एवं अन्तर्निरीक्षण द्वारा उसकी मानसिक अनुभूतियों-दोनों का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार, इस विधि में बाह्य निरीक्षण एवं अन्तर्निरीक्षण दोनो विधियों का समन्वय है। फलस्वरूप, मनुष्य के अनुभव एवं व्यवहार-दोनों का अध्ययन संभव है। अतः हम कह सकते हैं कि मनोविज्ञान की विषय वस्तु का सही अध्ययन इसी विधि द्वारा संभव है।
2) चूंकि प्रयोग नियंत्रित अवस्था में किया जाता है, इसलिए इस विधि से प्राप्त परिणाम एवं निष्कर्ष अत्यधिक सही, वैध एवं विश्वसनीय होते है, क्योंकि प्राणी के व्यवहार को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वों को नियंत्रित रखकर उन्हें प्रभावहीन बना दिया जाता है।
3) इस विधि की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें अध्ययन की परिस्थिति को जब और जितनी बार चाहें हूबहू दुहरा कर प्राप्त परिणाम की सत्यता को बार-बार जाँच सकते हैं। अतः, इस विधि से प्राप्त परिणामों को सत्यापित करने की पूरी गुंजाइश है, जो वैज्ञानिक अध्ययन का एक प्रधान गुण माना जाता है।
4) प्रयोगात्मक विधि से प्राप्त प्रदत्त गुणात्मक एवं परिणात्मक दोनों प्रकार के होते हैं,अतः इनके आधार पर मानव व्यवहार से संबद्ध ठोस निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं । तथा उनके संबंध में सामान्य नियम भी बनाए जा सकते हैं।
5) इस विधि द्वारा प्राप्त परिणाम को अधिक विश्वसनीय एवं सार्थक बनाने हेतु समान अवस्था में एक से अधिक व्यक्तियों पर प्रयोग किए जाते हैं और जब सभी से करीब-करीब समान प्रदत्त प्राप्त होते हैं तब प्राप्त परिणाम को विश्वसनीय एवं प्रामाणिक माना जाता है।
6) इस विधि का उपयोग सामान्य, बच्चे, प्रौढ़ एवं बूढे सभी प्रकार के व्यक्तियों एवं पशुओं पर उनकी मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं के अध्ययन हेतु किया जा सकता है। अतः इसमें व्यापकता का गुण है।

7) यह एक सर्वाधिक वैज्ञानिक विधि है क्योंकि इसमें एक वैज्ञानिक विधि के सारे गुण पाये जाते हैं।
8) इस विधि की महत्ता इससे भी प्रमाणित हो जाती है कि किसी भी विचार या सिद्धान्त के पक्ष में चाहे जितने भी प्रमाण हों, यह सिद्धान्त या विचार तब तक प्रामाणिक रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक कि प्रयोगात्मक निरीक्षण द्वारा प्राप्त तथ्य उसके पक्ष में न मिलें।

2.5.4 प्रयोगात्मक विधि की सीमाएँ-

प्रयोगात्मक विधि के उपर्युक्त गुणों के बावजूद इस विधि की निम्नलिखित सीमाएँ हैं-

1) प्रयोग, प्रयोगशाला में प्रयोगकर्ता द्वारा कृत्रिम रूप से उत्पन्न की गई परिस्थितियों के किया जाता है जो अस्वाभाविक रहती है। अतः प्रयोज्य द्वारा किया गया व्यवहार भी बनावटी होता है। फलतः ऐसे व्यवहारों का वास्तविक जीवन से स्पष्ट संबंध नहीं रहता। लेकिन, यह आरोप उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि प्रयोग इस तरह से किया जाता है कि प्रयोज्य को इस बात का पता नहीं लगता कि प्रयोगशाला में उत्पन्न की गई परिस्थिति कृत्रिम अथवा बनावटी है। प्रयोगकर्ता यदि कुशल और अनुभवी हो तो इस प्रकार की त्रृटि को आसानी से दूर करके प्रयोग कर सकता है।
2) प्रयोगात्मक विधि के संबंध में एक कठिनाई यह बाताई जाती है कि सभी प्रकार के प्रयोग मनुष्यों पर नहीं किए जा सकते, क्योंकि न तो आवश्यकता के अनुसार वे प्रयोग हेतु आसानी से उपलब्ध होते हैं और न पूरी सफलता के साथ उन्हें नियंत्रित ही किया जा सकता है। अतः इसकी उपयोगिता सीमित है। परन्तु यह कहना उचित नहीं। यह कठिनाई पशुओं पर अध्ययन करके दूर की जा सकती है और चूँकि पशुओं और मनुष्यों के व्यवहारों में काफी समानता मिलती है, अतः पशुओं पर किए गए प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्षों को मनुष्यों पर भी लागू किया जा सकता है। डार्विन के विकासवाद से यह बात प्रमाणित हो चुकी है।
3) कुछ मनोवैज्ञानिकों का तो यह भी कहना है कि मनुष्य की सभी प्रकार की मानसिक क्रियाओं का प्रयोगात्मक अध्ययन संभव नहीं है जैसे स्वप्न, अचेतन मानसिक प्रक्रियाओं आदि का अध्ययन प्रयोगशाला में संभव नहीं है। लेकिन, यह आपत्ति भी आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से उचित नहीं जंचती। आजकल तो अचेतन एवं स्वप्न मानसिक प्रक्रियाओं का प्रयोगात्मक अध्ययन होने लगा है।
4) इस विधि के बारे में एक आपत्ति यह भी है कि हर प्रकार की परिस्थितियों को प्रयोगशाला में सृजित नहीं किया जा सकता। जैसे, भीड़ औद्योगिक अशांति, जनमत, प्रचार आदि की परिस्थितियों को प्रयोगशाला के सीमित दायरे में सृजित करना और इन परिस्थितियों में मनुष्यों के व्यवहारों का अध्ययन करना कठिन है। किन्तु आजकल मनोवैज्ञानिक इस तरह की अवस्थाओं का अध्ययन करने हेतु दूसरी विधि का उपयोग करने लगे हैं जिसे क्षेत्रीय अध्ययन

कहते हैं। क्षेत्रीय अध्ययन का मूल आधार स्वाभाविक निरीक्षण होता है। अतः इस कठिनाई का निराकरण अब संभव हो गया है।

5) उपर्युक्त कठिनाइयों के अतिरिक्त इस विधि की एक और कठिनाई यह बताई जाती है कि यह खर्चीली विधि है तथा इसके लिए दक्ष एवं प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, जिनका अभाव है। लेकिन, इस कठिनाई के आलोक में प्रयोगात्मक विधि को दोषपूर्ण बताना उचित नहीं है। इसके लिए पर्याप्त धनराशि उपलब्ध कराए जाने और प्रशिक्षित व्यक्ति तैयार करने की आवश्यकता पर बल देने की जरूरत है।

2.6 सारांश

- किसी विज्ञान द्वारा अपनी विषय-वस्तु से सम्बद्ध आवश्यक सामग्री करने का जो तरीका इस्तेमाल किया जाता है, उसे ही अध्ययन की विधि कहते हैं।
- किसी वैज्ञानिक विधि की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं-वस्तुनिष्ठता, सत्यापन-गुण, नियंत्रित परिस्थिति, विश्वसनीयता एवं वैधता, क्रमबद्धता एवं सांख्यिकीय विश्लेषण की संभावना।
- अवलोकन किसी भी विज्ञान की एक महत्वपूर्ण एवं मौलिक विधि है जिसमें अवलोकर्ता सूचना के विभिन्न क्षेत्रों में उपस्थित रहता है तथा अपने शोध के लिए उपयोगी सामग्री एकत्र करता है। यह सहभागी और असहभागी दोनों ही प्रकार का होता है।
- मनोवैज्ञानिक समस्याओं के अध्ययन हेतु अवलोकन विधि के अन्तर्गत दो महत्वपूर्ण विधियों का उपयोग किया जाता है- अन्तर्निरीक्षण विधि एवं बाह्य निरीक्षण विधि।
- अन्तःनिरीक्षण का तात्पर्य अपने अन्दर देखना या झांकना होता है, यानी व्यक्ति जब अपनी ही मानसिक क्रियाओं (चेतन अनुभूतियों) का स्वयं निरीक्षण करता है तथा उसके बारे में रिपोर्ट देता है तो उसके अन्तःनिरीक्षण कहते हैं।
- बाह्य निरीक्षण में अध्ययनकर्ता या निरीक्षक प्रयोज्य के व्यवहारों का वस्तुपरक अर्थात् ज्यों-का-त्यों निरीक्षण करता है। इसमें प्राणी का व्यवहार आन्तरिक या बाह्य कुछ भी हो सकता है। बाह्य निरीक्षण स्वाभाविक या नियंत्रित हो सकता है।
- प्रयोगात्मक विधि किसी भी विज्ञान की सर्वश्रेष्ठ विधि है जिसके द्वारा नियंत्रित परिस्थिति के किसी घटना का क्रमबद्ध निरीक्षण किया जाता है। मनोवैज्ञानिक प्रयोग में एक प्रयोगकर्ता और एक प्रयोज्य होता है।
- प्रयोग में परिवर्त्य या चर का अध्ययन किया जाता है। प्रयोगकर्ता स्वतंत्र चर को हस्तचालित करता है तथा उसके प्रभाव आश्रित चर पर निरीक्षित करता है। वैसे स्वतंत्र चर जो बहिरंग चरों का कार्य करते हैं प्रयोगकर्ता द्वारा नियंत्रित कर लिया जाता है।

2.7 शब्दावली

- **अन्तःनिरीक्षण**: जब व्यक्ति अपनी ही मानसिक क्रियाओं का स्वयं निरीक्षण करता है तथा उसके बारे में रिपोर्ट देता है, तो उसे अन्तःनिरीक्षण कहते हैं।
- **अनुनिरीक्षण**: किसी मानसिक क्रिया का निरीक्षण उसी समय न करके जब वह क्रिया समाप्त हो जाती है तब किया जाता है, तो उसे अनुनिरीक्षण कहते हैं।
- **प्रयोग**: किसी नियंत्रित परिस्थिति में किया गया क्रमबद्ध निरीक्षण ही प्रयोग कहलाता है।
- **परिवर्त्य**: वातावरण में उपस्थित वे सभी वस्तुएँ परिस्थितियाँ या घटनाएँ जो सदा एक जैसी स्थिति में नहीं रहती, जिनमें परिवर्तन होता रहता है तथा जिन्हें मापा जा सकता है, परिवर्त्य कहलाती है।

2.8 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) इनमें से कौन एक वैज्ञानिक विधि की विशेषता नहीं है -

   अ) वस्तुनिष्ठता ब) क्रमबद्धता

   स) अनियंत्रित परिस्थिति द) सत्यापन

2) जब व्यक्ति अपनी ही मानसिक क्रियाओं का स्वयं निरीक्षण करके उसके बारे में रिपोर्ट देता है तो उसे कहते हैं-

   अ) अन्तः निरीक्षण ब) बाह्य निरीक्षण

   स) अवलोकन द) प्रयोग

3) जिस चर को किसी प्रयोग के दौरान प्रयोगकर्ता स्वयं हस्तचालित करता है उसे कहते हैं-

   अ) स्वतंत्र चर ब) आश्रित चर

   स) नियंत्रित द) संगत चर

उत्तर: 1) स 2) अ 3) अ

2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान- डा0 अरूण कुमार सिंह- मोतीलाल- बनारसीदास

- साइकोलॉजी (एन इन्ट्रोडक्शन) कगन एवं हैवमैन- हार्कोर्ट ब्रेस, लंदन
- सामान्य मनोविज्ञान - सिन्हा एवं मिश्रा- भारती भवन
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान- सुलैमान एवं खान - शुक्ला बुक डिपो, पटना

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अध्ययन विधि से आप क्या समझते हैं? किसी वैज्ञानिक विधि की क्या विशेषता होती है?
2. अवलोकन क्या है? सहभागी एवं असहभागी अवलोकन में क्या अन्तर है?
3. ''मनोवैज्ञानिक अध्ययनों में अन्तःनिरीक्षण विधि का उपयोग नितांत आवश्यक है।'' इस कथन की पुष्टि करें।
4. वस्तुनिष्ठ निरीक्षण विधि के गुण एवं दोषों का वर्णन करें।
5. अन्तःनिरीक्षण विधि के गुण एवं दोषों पर प्रकाश डालें।
6. मनोविज्ञान की प्रयोगात्मक विधि के स्वरूप, गुण एवं दोषों की विवेचना करें।
7. परिवर्त्य क्या है? इसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन करें।
8. अन्तर स्पष्ट करें-
    i. स्वतंत्र चर एवं आश्रित चर।
    ii. अन्तःनिरीक्षण एवं अनुनिरीक्षण।

इकाई-3 तंत्रिका तंत्र - केन्द्रीय एवं स्वचालित, मस्तिष्क की संरचना एवं कार्य, मस्तिष्क के स्थानीकृत एवं सामूहिक क्रिया सिद्धान्त

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 तंत्रिका तन्त्र
3.3.1 तंत्रिका कोशिका
3.3.1.1 स्नायु-कोश के प्रकार
3.3.1.2 संधि स्थल
3.4 केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र
3.4.1 सुषुम्ना
3.4.2 मस्तिष्क
3.4.3 मस्तिष्क के सिद्धान्त
3.5 स्वचालित तंत्रिका तंत्र
3.5.1 अनुकम्पी तंत्रिका तंत्र
3.5.2 सहानुकम्पी तंत्रिका तंत्र
3.6 सारांश
3.7 शब्दावली
3.8 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
3.9 संन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

मनुष्य इस जीव-जगत क श्रेष्ठतक प्राणी है। विकास की सीढ़ी पर यह सबसे ऊपर है। इसमें अपने वातावरण के साथ अभियोजन करने की अधिक क्षमता पायी जाती है। इन क्षमताओं का नियंत्रण और संचालन तंत्रिका तंत्र के द्वारा होता है। तंत्रिका-तंत्र तंत्रिका-कोशिकाओं का संगठित तंत्र है। मनुष्य का तंत्रिका-तंत्र सबसे जटिल होता है कयोंकि अन्य जीवों की अपेक्षा तंत्रिका-

कोशिकाओं की संख्या सबसे अधिक होती है। तंत्रिका-तंत्र की सबसे छोटी इकाई तंत्रिका कोशिका या स्नायु कोशिका कहलाती है। सुषुम्ना एवं मस्तिष्क केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र के अंग के रूप में कार्य करते हैं तथा स्वचालित तंत्रिका-तंत्र के द्वारा प्राणी की वैसी क्रियाओं को संचालन और नियंत्रण होता है जो स्वतः होती है।

इस इकाई में आप स्नायु-कोशों की रचना और कार्य, केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र का महत्व, सुषुम्ना एवं मस्तिष्क की रचना और कार्य, मस्तिष्क का स्थानीकृत बनाम सामूहिक क्रिया सिद्धान्त स्वचालित तंत्रिका-तंत्र की रचना और कार्य के बारे में विस्तृत रूप से जान सकेंगे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो जाएगे कि आप-

- मानव प्राणी के अभियोजन में तंत्रिका-तंत्र के महत्व से अवगत हो सकें।
- तंत्रिका-कोशिका की रचना और कार्य का रेखांकन कर सकें।
- सुषुम्ना एवं मस्तिष्क के महत्व तथा इनकी रचना और कार्य पर प्रकाश डाल सकें।
- केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र एवं स्वचालित तंत्रिका-तंत्र की तुलना कर सकें।

3.3 तंत्रिका -तंत्र

प्रत्येक जीव अपने पर्यावरण के साथ अभियोजन करता है। अभियोजन का अर्थ व्यवहारों में परिमार्जन या परिवर्तन करना है। व्यक्ति में अपने वातावरण के साथ अभियोजन करने की अधिक क्षमता पायी जाती है। इन क्षमताओं का नियंत्रण और संचालन तंत्रिका-तंत्र के द्वारा होता है। किसी भी जीव के द्वारा पर्यावरण में अभियोजन प्राप्त करने हेतु तीन प्राकर की क्रियाये संम्पादित होती है। इन तीनों प्रकार की क्रियाओं के संपादन के लिए तीन प्रकार के साधन उपलब्ध हैं।

1. पयोवरण के साथ अभियोजन करने हेतु किसी भी जीव को पर्यावरण में होने वाले सभी परिवर्तनों का ज्ञान होता है अन्यथा उसे अभियोजन करने की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं होगा। उत्तेजना के प्रभाव को ग्रहण करने के लिए जो साधन है उसे ग्राहक कोश कहा जाता है।
2. शरीर के किसी एक भाग पर उत्तेजना का जो प्रभाप पड़ता है उस प्रभाव को प्रसार संपूर्ण शरीर में होता है। उत्तेजना के प्रभाव को मस्तिष्क तक पहुँचाने वाले साधन को तंत्रिका कोशिका या प्रवाहक कोश कहते हैं।
3. अभियोजन के लिए जीव की आवश्यकतानुसार प्रतिक्रिया करनी पड़ती है। उत्तेजनानुसार प्रतिक्रिया करने के लिए जो साधन उपलब्ध हैं उसे प्रभावक कोश कहते हैं।

तंत्रिका तंत्र की सबसे छोटी इकाई को तंत्रिका कोश या स्नायु कोश कहा जाता है। इसका दूसरा नाम समायोजक या प्रवाहक है। इसका कार्य ग्राहक और प्रभावक के बीच संबंध स्थापित करना है। इन दोनो के बीच संबंध स्थापित करने में अनेक तंत्रिकाओं को क्रियाशील होना पड़ता है। ये सभी तंत्रिका-कोशिकायें संगठित रूप में कार्य करती हैं। अतः तंत्रिका कोशिकाओं के संगठित तंत्र को तंत्रिका-तंत्र कहते हैं।

मनुष्य का तंत्रिका-तंत्र सबसे जटिल होता है क्योंकि इसमें अन्य जीवों की अपेक्षा तंत्रिका-कोशिकाओं की संख्या सबसे अधिक है। तंत्रिका-तंत्र को समझने से पूर्व तंत्रिका-कोशिका की रचना एवं उसके कार्यों का अध्ययन आवश्यक है। आइये, पहले तंत्रिका-कोशिका और कार्यों पर नज़र डाले।

3.3.1 तंत्रिका-कोशिका या स्नायु-कोश-

तंत्रिता-तंत्र चुँकि अनेक तंत्रिका-कोशिकाओं एवं तंत्रिका एवं तंत्रिका तंतुओं की एक संगठित व्यस्था है इसलिए न्यूरॉन (तंत्रिका-कोशिका) को तंत्रिका-तंत्र की संरचनात्मक इकाई कहा जाता है। यह ग्राहक कोश में उत्पन्न तंत्रिका-आवेग को शरीर के अन्य भागों में पुहँचाती है। यह स्नायु-प्रवाह का वाहक होता है। यह तंत्रिका आवेग की क्रियात्मक इकाई है।

तंत्रिका कोश के तीन मुख्य भाग है-

(क) शाखिकाएँ या शिखांतु
(ख) कोशिका शरीर
(ग) अक्ष–तंतु

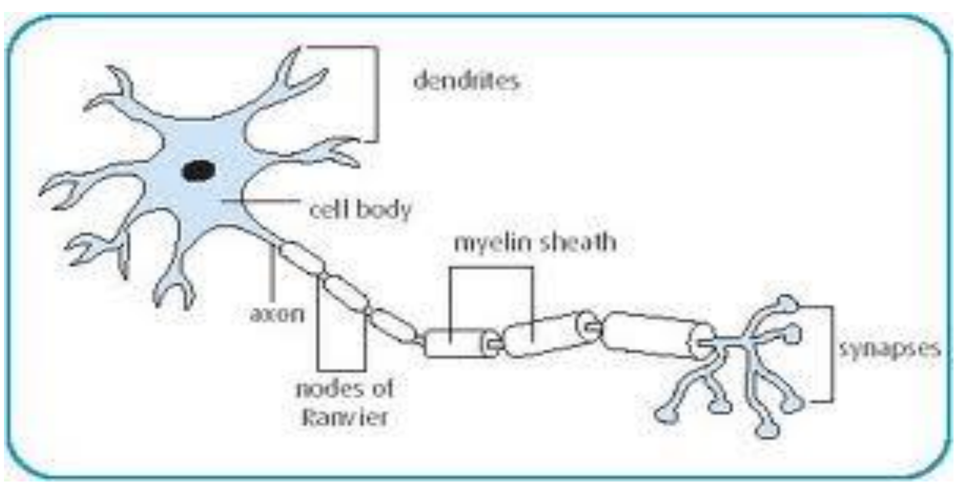

(क) शाखिकाएँ- शाखिकाएँ की रचना एक वृक्ष की डाल के समान होती है जिनकी जड़ मोटी और ऊपर की ओर क्रमशः पतली होती जाती है। ये कोशिका शरीर के चारो तरफ फैली होती है। इन कोशिकाओं में भूरे रंग का पदार्थ पाया जाता है जिस 'निरल-पदार्थ' कहते हैं। यह पदार्थ अपने चारों ओर फैले हुए आवेग को अपनी ओर खींचता है। शाखिकाएँ अपने शाखओं से ज्ञानेन्द्रियों पर उत्तेजना के प्रभाव से उत्पन्न ओवग को ग्रहण करती है। इनका मुख्य कार्य ग्राहक कोशिकाओं में बने तंत्रिका-आवेग चारों ओर से खींचकर कोशिका शरीर में लगा है। इसलिए इसे ग्रहण एजेन्ट कहते हैं। कोशिका शरीर की ओर बढ़ने पर शिखा तंतु का आकार छोटा होता जाता है और अन्त में इनता छोटा हो जाता है कि वह ठीक-ठीक दिखाई भी नहीं देता।

(ख) कोशिका शरीर- प्रत्येक तंत्रिका कोशिका में एक कोशिका शरीर होता है। कोशिका शरीर को 'जीव कोश' भी कहते हैं, क्योंकि इसमें न्युक्लिस नामक 'कोश केन्द्र' रहता है, जिससे कोश जीवित रहता है तथा उसकी सामान्य क्रियायें होती है। कोशिका-शरीर का कोई निश्चित आकार नहीं होता, लेकिन सामान्यतः यह गोल आकृति का होता है। कोशिक शरीर के चारों ओर एक पतली परत होती है, जिसे 'मेंम्ब्रेन' कहते हैं। इस परत के नीचे कोशिका द्रव भरा होता है जो एक तरल पदार्थ है, जिसके बीच में 'कोश केन्द्र' अथवा न्यूक्लीयस होता है। इस कोश केन्द्र के अन्दर भी एक सूक्ष्म केन्द्र होता है जिसे न्यूक्लीआई कहते हैं। कोशिका -शरीर का मुख्य काम इसके एक छोर पर पाये जाने वाले शिखातंतु द्वारा लाये गये स्नायु-प्रवाहों को केन्द्र में ग्रहण करना और पुनः दूसरे छोर पर पाये जाने वाले मुख्य तंतु या अक्ष-तंतु की ओर जाने देना है।

(ग) अक्ष-तुंतु या मुख्य तंतु- प्रत्येक तंत्रिका-कोशिका में एक लम्बी शाखा होती है जिसे अक्ष-तंतु कहते हैं। इसमें उपशाखायें नहीं होती है। इसकी अधिकतम लम्बाई 1 फीट तक होती है। अक्ष-तंतु एक आवरण में बन्द रहता है जिससे कि कोई वाह्-शक्ति उसे प्रभाविन न कर सकें। इस आवरण को माईलिन शीब्ध कहते हैं। इसके अन्दर न्यूरोफाइब्रिल नामक उजला पदार्थ होता है। अक्ष-तंतु के अंनिम छोर पर कई पतले-पतले तंतु निकले होते हैं, जिन्हें प्रांत कूंची कहते हैं। अक्ष-तंतु जगह-जगह दबा हुआ गिरहदार होता है। किसी -किसी अक्ष-तंतु में दसरी तंत्रिका का अक्ष-तंतु आकर मिल जाता है जिसे सहवर्ती तंत्रिका-कोशिका कहते हैं।

इसका मुख्य कार्य शाखिकाओं में आये हुये तंत्रिका आवेग को अपनी ओर खींचकर प्रांत-कूंची की ओर भेजना हे।

<u>शिखांततु एवं मुख्य या अक्ष तंतु में अन्तर-</u>

(i) प्रत्येक स्नायुकोश में शिखा तंतु अनेक होते हैं, जबकि मुख्य तंतु केवल एक होता है।
(ii) शिखा तंतु में अनेक उपशाखायें है लेकिन अक्ष-तंतु में कोई उपशाखा नहीं होती। केवल इसके अन्तिम छोर पर अनेक बारीक तंतु होते है, जिन्हें प्रांत कूंची कहते हैं।

(iii) शिखातंतु की मोटाई कोशिका के निकट आधिक और ऊपर शीर्ष की ओर क्रमशः कम हो जीती है, जबकि मुख्य या अक्ष तंतु की मोटाई सब जगह समान होती है, केवल अक्ष-तंतु जिस जगह कोशिका शरीर से निकलता है, वहाँ कुछ मोटा होता है जिसे अक्ष-तंतु जिस जगह कोशिका शरीर से निकलती है, वहाँ कुछ मोटा होता है जिसे अक्ष-तंतु की पहाड़ी कहते हैं।

(iv)अक्ष-तंतु चारों ओर एक आवरण होता है जिसे माइलीन आवरण कहते हैं। यह आवरण जगह-जगह पर कुछ दबा हुआ रहता है, जिससे तंतु का आकार गिरहदार हो जाता है। आवरण अक्ष-तंतु को बाहरी शक्तियों से सुरक्षा प्रदान करता है। गिरहों के द्वारा स्नायु प्रवाह के संचरण में मदत मिलती है। शिखा तंतु पर कोई बाहरी आवरण नहीं रहता जिससे बाहरी शक्तियों इसे प्रभावित करती रहती है।

(v) शिखा तंतु एवं कोशिका शरीर के भूरे रंग का एक पदार्थ 'निस्ल' पाया जाता है। जिसमें इन दोनों का रंग भूरा होता है। अक्ष-तंतु में उजले रंग का एक पदार्थ पाया जाता है, जिसे 'न्यूरोफाइब्रिल' कहते हैं। निस्ल बाहरी प्रभाव को अपने अन्दर खींचता है जबकि न्यूरोफाइब्रिल उस प्रभाव को कोशिका से दूर ले जाता है।

इससे स्पष्ट है किसी उत्तेजना विशेष से ग्राहक-कोश के उत्तेजित होने के फलस्वरूप स्नायुप्रवाह उत्पन्न होता है। इस स्नायुप्रवाह को शिखातंतु ग्रहण कर कोशिका-शरीर तक ले जाता है। कोशिका-शरीर स्नायुप्रवाह को अक्ष-तंतु द्वारा दसरे स्नायुकोश की ओर अथवा मांसपेशियों, पिंडों या स्नायुमंडल के किसी केन्द्र विशेष की ओर भेज देता है।

3.3.1.1 स्नायुकोश के प्रकार-

मनुष्य के शरीर में अनुमानतः 12 अरब स्नायु कोशिकाएँ पाई जाती है। ये सभी स्नायु-कोश एक ही तरह के नहीं होते । इनकी रचना, आकार-प्रकार एवं क्रियाओं में भिन्नता पाई जाती है। इस दृष्टि से स्नायु-कोश के तीन प्रकार बताये गये हैं- (क) संवेदी स्नायु कोश (ख) गति स्नायु कोश (ग) तथा साहचर्य स्नायु कोश।

(क) संवेदी स्नायु-कोश- संवेदी स्नायुकोश स्नायु-प्रवाहों को ज्ञानेन्द्रियों से सुषुम्ना और मस्तिष्क में ले जाते है। इसे अन्तर्वाहक स्नायु-कोश भी कहते हैं। ये स्नायु-कोश ग्राहक केन्द्रियों के उत्तेजित होने के फलस्वरूप उत्पन्न संवेदी स्नायु-प्रवाहों को सुषुम्ना और मस्तिष्क तक ढोने का काम करते हैं। उदाहरणस्वरूप, यदि इसमें कोई आवाज सुनते हैं तो वह आवाज हमारे कान के ग्राहक-कोश को उत्तेजित करती है जिसके फलस्वरूप श्रवण स्नायु-प्रवाह उत्पन्न होते हैं। वहाँ मौजूद श्रवण स्नायु-कोश इन स्नायु-प्रवाहों को सुषुम्ना से होते हुए, मस्तिष्क के एक खास केन्द्र में ले जाता है और हमें श्रवण संवेदना होती है। इसी प्रकार आँख, जीभ, त्वचा आदि ज्ञानेन्द्रियों में मौजूद संवेदी स्नायु-कोश द्वारा उन ज्ञानेन्द्रियों में उत्पन्न स्नायु-प्रवाहों को मस्तिष्क

के खास-खास निर्धारित केन्द्रों में सुषुम्ना के रास्ते ले जाने के कारण उप ज्ञानेन्द्रिय-विशेष से सम्बन्ध संवेदनाएँ उत्पन्न होती है।

(ख) गति स्नायु-कोश- गति स्नायु कोश स्नायु को मस्तिष्क तथा सुषुम्ना से मांसपेशियों और पिन्डों में ले जाते हैं, इन्हीं स्नायु-कोशों की वजह से इस शरीर के विभिन्न अंगों की मांसपेशियों और पिन्डोंद्वारा तरह-तरह की क्रियासं करते हैं, जैसे -बोलना, चलना, हाथ-पांव हिलाना, सिर को खास दिशा में घुमाना आदि।

(ग) साहचर्य स्नायु कोश- साहचर्य स्नायु-कोश सुषुम्ना और मस्तिष्क के अन्दर पाये जाते हैं और इन स्नायु-कोशों का काम संवदी स्नायु-कोश के स्नायु-प्रवाह तथा गति स्नायु-कोशों के बीच साहचर्य स्थापित करना होता है।

संवेदी और गति स्नायु-कोश जहाँ सुषुम्ना और मस्तिष्क के बाहर सीमांत प्रदेशों में पाये जाते हैं, वहीं साहचर्य स्नायु-कोश केवल सुषुम्ना और मस्तिष्क में ही रहते हैं।

3.3.1.2 संधि-स्थल -

मानव शरीर में लाखों की संख्या में तंत्रिकायें बिखरी हुई जो ज्ञानेन्द्रियों में उत्पन्न संवेदी आवेग को मस्तिष्क में एवं मस्तिष्क से गति आवेग को कर्मेन्द्रियों में पहुँचाती है। तंत्रिका आवगे को एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाने के क्रम में अनेक तंत्रिकाऐं क्रियाशील हो जाती है। जहाँ पर दो तंत्रिकायें मिलती है उस स्थान को संधिस्थल पर एक तंत्रिका की प्रांत कूँची एवं देसरी तंत्रिका की शिाखातंतु मिलती है, लेकिन इन दानों के बीच .0002 एम. एम. स्थान खाली रहता है। इसी स्थान को संधिस्थल कहते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि एक की संधिस्थल पर अनेक तंत्रिकायें आकर मिलती है।

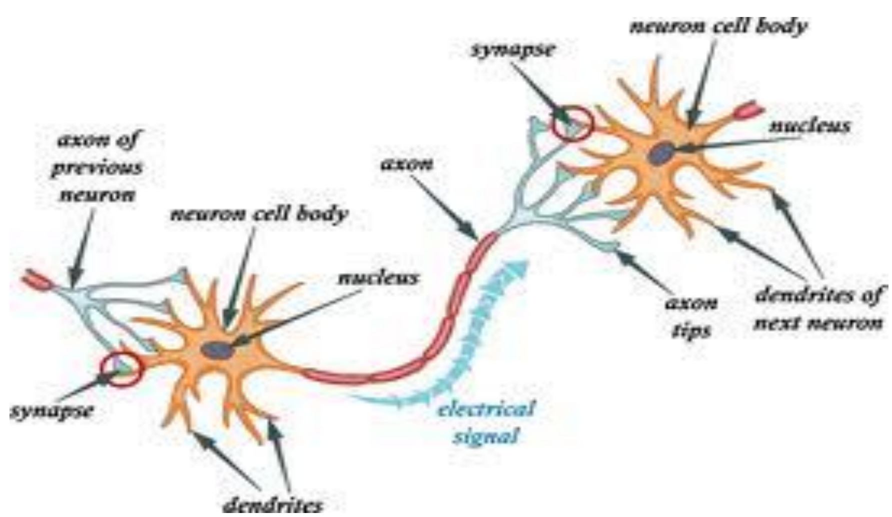

संधिस्थल का मुख्य कार्य आवेग का संचरण करना है। यह शक्तिशाली आवेग को आगे भेजता है तथा कमजोर आवेग को रोककर उसे शक्तिशाली बनाता है तथा फिर आगे भेजता है। परन्तु

यह सभी कमजोर आवेगों को आगे नहीं भेज पाता। कुछ कमजोर आवेग एक-दो संधि-स्थल पर जाकर ही समाप्त हो जाते हैं।

दरअसल संधि-स्थल तंत्रिका का आवेगों के संचरण में सहायता भी करता है और बाधा भी पहूँचाता है। शक्तिशाली आवेगों को तो यह जाने देता है, परन्तु कमजोर आवेग को संधि-स्थल पार करने में कभी-कभी अवरोध का सामना करना पड़ता है और संधि-स्थल पर जाकर रुक जाता है। जब इस संधि-स्थल पर अनेक कमजोर आवेग जमा हो जाते हैं तो इनकी शक्ति में वृद्धि हो जाती है और वे मजबूत बनकर आगे बढ़ जाते हैं।

संधि-स्थल पार करने में तंत्रिका का आवेग दूसरे आवेगों की सहायता दो प्रकार से करते हैं- स्थान संयोग के द्वारा तथा समय के द्वारा। जब एक ही संधि-स्थल पर दो भिन्न जगहों से आगे वाले तंत्रिका आवेग को संयोग होता है तो इसे स्थान संयोग कहते हैं तथा जब एक ही पथ से विभिन्न समय में चले हुए तंत्रिका आवेगों का मिलन संधि-स्थल पर हो जाता है तो उसे समय संयोग कहते हैं।

3.4 केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र

केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र मानव शरीर का सर्वाधिक सुरक्षित भाग है जो सुषुम्ना और मस्तिष्क से मिलकर बना है। शरीर के इसी भाग में परिधीय तंत्रिका तंत्र द्वारा बाहरी उत्तेजनाओं के संवेदी स्नायु-प्रवाह पहुँचाते हैं और गति स्नायु-प्रवाह यहाँ से निकलकर प्रभावकों में पहुँच जाते हैं, तभी व्यक्ति कोई प्रतिक्रिया करता है। केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र का मुख्य कार्य परिधीय तंत्रिका तंत्र से प्राप्त संदेशों का एकीकरण करना है। एकीकरण का कार्य केन्द्रों द्वारा तथा स्नायु मार्गो द्वारा होता है। एकीकरण की क्रिया द्वारा केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र परिधीय तंत्रिका तंत्र से प्राप्त संदेशों का पुनर्संगठन, रूपांतरण, समालोचन, संचयन आदि करता है तथा आदेशात्मक प्रवाहों के स्वरूप में क्रियात्मक संकेतों को परिधीय तंत्रिका तंत्र के गतिवाही भागों में भेजने का कार्य भी करता है।

केन्द्रीय तंत्रिकातंत्र की संम्पूर्ण रचना एवं कार्यवाही को भली-भाँति समझने के लिए इसके दो प्रमुख भागों की जानकारी आवश्यक है। ये है सुषुम्ना और मस्तिष्क मनुष्य में कोशिकाओं की संख्या इन्हीं दोनों भागों में होती है।

3.4.1 सुषुम्ना या मेंरुरज्जु-

यह अनेक तंत्रिका कोशिकाओं और तंत्रिका-तंतुओं से निर्मित है। गर्दन से लेकर कमर तक पीठ से होती हुई एक लम्बी हड्डी गई है, जिसे रीढ़ की हड्डी कहते हैं। इसी रीढ़ की हड्डी के भीतर केन्द्रीय स्नायुमंडल का एक लम्बा भाग है जिसे सुषुम्ना कहते हैं। केन्द्रीय स्नायुमंडल के इस भाग में

स्नायुकोशों का एक पुंज या समूह रहता हैं जो देखने में लम्बी रस्सी जैसे दिखता है। इसकी औसत लंबाई लगभग 18 या 45-50 सेमी0 तथा मोटाई लगभाग 1 सेमी0 है।

रीढ़ की हड्डी में 31जोड़ होते हैं। जो प्रत्येक जोड़ पर शरीर के दाऐं और बाऐं दोनों ओर से एक-एक तंतु सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं। इन्हें सुषुम्न स्नायु कहते हैं। इस प्रकार, इन तंतुओं के 31जोडें में एक ज्ञानवाही और एक गतिवाही तंतु होते हैं, जो शरीर के विभिन्न भागों को सुषुम्ना से संबद्ध करता है। सुषुम्ना का बाहरी भाग 'न्यरोफाइब्रिल' पाये जाने के कारण उजले रंग का तथा अंदर का भाग 'निरल पदार्थ' वाली तंत्रिकाओं की उपस्थिति के कारण भूरे रंग का होता है। सुषुम्ना में संयोजक तंतु पाये जाते हैं जो विभिन्न न्यूरॉन में पारस्परिक संबंध स्थापित करते हैं।

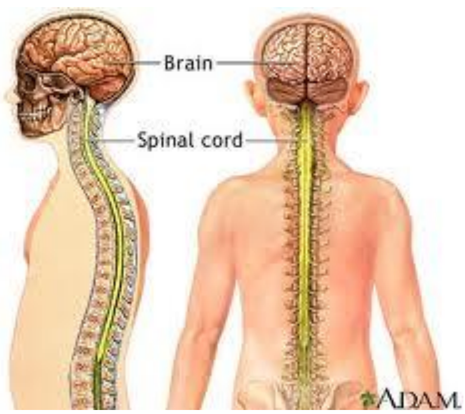

इसके दो कार्य है-

1) मस्तिष्क का सीधा संबंध सिर एवं सिर के प्रदेश के विभिन्न अंगों के साथ होता है। शरीर के अन्य भाग सुषुम्ना द्वारा मस्तिष्क से संबद्ध होते हैं। यह संबंध स्नायुतंतुओं द्वारा स्नायु प्रवाहों के संचरण के माध्यम से होता है। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानवाही तंतु द्वारा स्नायुप्रवाह पहले सुषुम्ना में पहुँचता है, जिसे सुषुम्ना मस्तिष्क में भेज देता है। मस्तिष्क में आने वाले गतिवाही स्नायुप्रवाह सुषुम्ना से होते हुए गतिवाही तंतुओं द्वारा संबद्ध मांसपेसियों या ग्रन्थियों में पहुँचता है। इस प्रकार, सुषुम्ना मस्तिष्क के आदेशों को स्नायुप्रवाह के रूप में अंगविशेष की मांसपेशियों को भेजकर उन्हें क्रियाशील करता है। सुषुम्ना के इस कार्य को वितरण कार्य भी कहते हैं, क्योंकि सुषुम्ना मस्तिष्क के ओदशात्मक प्रवाहों को गतिवाही तंतुओं की सहायता से विभिन्न क्रियात्मक अंगों में वितरित करने का कार्य करता है।
2) प्रविवर्त क्रियाएँ अनैच्छिक क्रियाएँ होती है ये जन्मजात और सहज होती है, जो किसी उत्तेजना के संपर्क में आते ही अपने-आप होती हुई प्रतीत होती है, जैसे- किसी गर्म चीज पर हाथ पड़ते ही हाथ पीछे खींच लेना, आँसू का निकलना, आँखों में धूलकण पड़ते ही नेत्रों का बंद होना आदि। ये क्रियाएँ तत्काल होती हैं इनमें कोई देर नहीं होती। प्रतिवर्त क्रियाओ का संचालन एवं नियंत्रण सुषुम्ना द्वारा होता है। प्रतिवर्त क्रियाएँ स्नायु रचना पर आधारित है। इन क्रियाओं के

लिए एक निश्चित मार्ग होता है। यह मार्ग प्रायः धनुष के रूप में पाया जाता है। जिसमें निम्नलिखित भागों का सहयोग होता है-

i) ग्राहक या ग्राहकेन्द्रियों
ii) ज्ञानवाही या संवेदी स्नायु
iii) सुषुम्ना
iv) साहचर्य स्नायु
v) गतिवाही स्नायु
vi) प्रभावक या कर्मेन्द्रियाँ
vii) मांसपेशियाँ अथवा पिंड

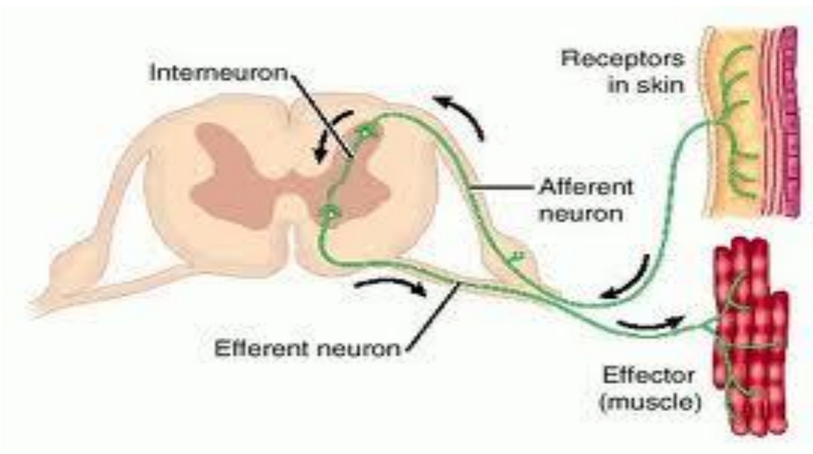

सबसे पहले उत्तेजना को ग्राहकेन्द्रियां ग्रहण करती है। इसके फलस्वरूप ग्राहकेन्द्रियों लगे न्युरॉन में स्नायुप्रवाह उत्पन्न होते हैं। ये स्नायुप्रवाह ज्ञानवाही स्नायुतंतु द्वारा सुषुम्ना तक में पहुँचते है, जहाँ स्नायु इसे ग्रहण कर गतिवाही स्नायु से संबंध स्थापित कराता है। गतिवाही स्नायु द्वारा गतिवाही स्नायुप्रवाह कर्मेन्द्रियों में पहुँचकर उन्हें कार्यशील बनाता है। फलतः कर्मेन्द्रियों गतिशील होकर सहज क्रिया करती है। इसे ऊपर के चित्र में स्पष्ट किया गया है।

ज्ञानेन्द्रियों से उत्पन्न स्नायुप्रवाहों के सुषुम्ना तक पहुँचने और सुषुम्ना से गतिवाही स्नायुप्रवाहों के कर्मेन्द्रियों तक पहुँचने का जो मार्ग होता है वह धनुष के आकार का बनाता है, इसलिए इस संपूर्ण मार्ग को 'प्रतिवर्त धनु' कहते हैं।

सरल क्रियाओं का संचालन सुषुम्ना द्वारा होता है जिसे सहज -क्रिया अथवा प्रतिवर्त क्रिया कहते हैं, लकिन जटिल क्रियाओं के संचालन में मस्तिष्क का महत्वपूर्ण स्थान होता है, जिसमें सुषुम्ना संपर्क बनाने का कार्य करता है।

3.4.2 मस्तिष्क -

यह केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र का एक प्रमुख भाग है। मस्तिष्क एक अत्यंत जटिल एवं नाज़ुक संरचना है।

मस्तिष्क की रचना अरबों स्नायुओं से हुई है तथा ये परस्पर जाल की तरह फैले हुए होते हैं। इन्हीं स्नायुओं द्वारा मस्तिष्क शरीर के निकट के एवं दूरे के भागों में संदेश भेजकर विभिन्न अंबों की क्रियाओं को संचालित एवं नियंत्रित करता है। मस्तिष्क की जटिल रचना के आधार पर ही मनुष्य को अन्य सरल प्राणियों की तुलना में सबसे उच्च श्रेणी का विकसित प्राणी माना जाता है। इसी जटिल रचना द्वारा मनुष्य चिंतन, कल्पना, जटिल समस्याओं का समाधान आदि क्रियाओं को करने में समर्थ होता है।

मानव मस्तिष्क का औसत वजन 2 से 3 पौंड होता है, जिसमें अनुमानतः दस अरब स्नायुकोश होते हैं। अर्थात् संपूर्ण शरीर के 90 प्रतिशत से भी अधिक स्नायुकोश केवल मस्तिष्क में पाये जाते हैं। मानव-मस्तिष्क के सभी स्नायुकोश जन्म के समय से ही वर्तमान रहते हैं। बाद में मस्तिष्क के आकार और वजन में कुछ वृद्धि तो होती है, लेकिन स्नायुकोश की संख्या में कोई वृद्धि नहीं होती।

इन सभी स्नायुकोशों में मनुष्य के आंतरिक एवं बाह्य वातावरण के सभी पहलूओं के प्रति सजग रहने तथा अनुकूल प्रतिक्रिया करने की क्षमता पायी जाती है। मस्तिष्क द्वारा ज्ञानेन्द्रियों से आने वाली सूचनाओं को संगठित कर उनका प्रत्यक्षीकरण किया जाता है तथा चिंतन, सीखना, स्मरण, कल्पना, सूचनाओं का संचय, संचित सूचनओं का पुनः स्मरण आदि जैसी क्रिया सें होती हैं इसके कुछ स्नायुकोश ऐसे भी होते हैं, जिनसे ग्रन्थियों की तरह स्राण भी होते हैं तथा हर तरह की गति-क्रियाएँ होती है। इस प्रकार, यह संपूर्ण शरीर का 'मुख्य शासक' होता है।

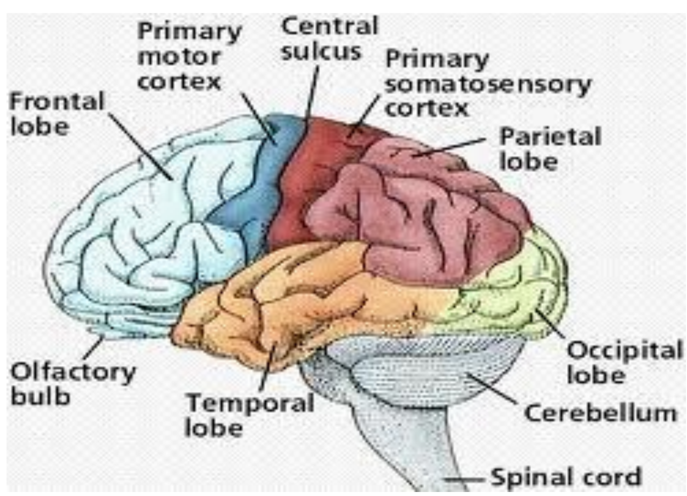

अध्ययन की सुविधा के लिए मानव मस्तिष्क को तीन बड़े भागों में बाँटा गया है-

1. पृष्ठ मस्तिष्क
2. मध्यमस्तिष्क
3. अग्रमस्तिष्क

1. पृष्ठ मस्तिष्क:-

पृष्ठ मस्तिष्क मानव मस्तिष्क के सबसे पीछे एवं नीचे अवस्थित होता है। इसके निम्नलिखित भाग है-

i) **सुषुम्नाशीर्ष-** सुषुम्ना के ठीक ऊपर के भाग को सुषुम्नाशीर्ष कहते हैं। यह सुषुम्ना का शीर्षभाग होता है। यह सुषुम्ना से कुछ मोटा और लगभग 2 इंच लम्बा होता है। सुषुम्नाशीर्ष मुख्य रूप से स्नायुकोशों का बना होता है, जिसके द्वारा यह सुषुम्ना और मस्तिष्क में संबंध स्थापित कराता है।

सुषुम्नाशीर्ष के दो मुख्य कार्य होते हैं-

- यह सुषुम्ना और मस्तिष्क में संबंध स्थापित कराता है। अर्थात् यह सुषुम्ना और मस्तिष्क के ऊँचे केन्द्रों को मिलाता है। इसके अतिरिक्त इसमें बहुत से मार्ग होते हैं जो सुषुम्ना एवं मस्तिष्क के केन्द्रों के बीच संदेशों का आदान-प्रदान करते हैं। दूसरे शब्दों में, शरीर के सभी भागों से तंत्रिका-आवेग सुषुम्ना से होते हुए सुषुम्नाशीर्ष में पहुँचते हैं और यह इन आवेगों को रास्ता देकर मस्तिष्क के उचित स्थानों पर भेज देता है।
- मेंडुला का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य कुछ स्वचालित क्रियाओं का नियंत्रण करना है जिनसे प्राण रक्षा होती है। जैसे-श्वास क्रिया, रक्त-संचालन आदि का संचालन एवं नियंत्रण करने हैं इन क्रियाओं से संबंद्ध स्वचालित कोश मेंडुला के अन्दर उपस्थित रहते हैं।

ii) **सेतु-** सेतु अर्थात् 'पुल' यानी दो किनारों को जोड़ने वाला। यह सुषुम्नाशीर्ष के ठीक ऊपर का भाग है। इसमें बहुत से तंतु रहते हैं। सेतु पुल की तरह लघुमस्तिष्क के दोनों खंडों को मिलाता या जोड़ता है। साथ ही, यह अग्रमस्तिष्क के एक भाग वृहत्मस्तिष्क के दोनों अर्धखंडों को भी मिलाता है तथा लघुमस्तिष्क और वृहत्मस्तिष्क का मस्तिष्क के अन्य भागों से भी संबंध स्थापित कराता है। इस प्रकार सेतु मस्तिष्क के विभिन्न भागों में जाने और उनसे आने वाले क्रमशः ज्ञानवाही एवं गतिवाही स्नायुप्रवाहों के लिए पुल के समान मार्ग की तरह कार्य करता है।

iii) **लघुमस्तिष्क-** लघुमस्तिष्क का स्थान वृहत्मस्तिष्क के पीछे और नीचे है। इसकी आकृति अखरोट जैसी प्रतीत होती है तथा इसमें अनेक स्नायुकोश पाये जाते हैं। ये स्नायुकोश गर्दन और उसके नीचे के सभी अंगों की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करने का कार्य करते हैं। वस्तुतः लघमस्तिष्क की कोई भी क्रिया चेतन नहीं होती। सभी प्रकार की चेतन क्रियाएँ वृहत्मस्तिष्क द्वारा होती है। वृहत्मस्तिष्क की क्रियाओं के प्रवाह लघुमस्तिष्क क्षेत्र में पहुँचकर इसके स्नायुकोशों को उत्तेजित करते हैं। ये उत्तेजित स्नायुकोश सुषुम्ना के

गतिवाही स्नायुकोशों को इस प्रकार अभियोजित करते हैं कि हाथ, पैर, आदि भागों में उपयुक्त गति हो सके।

लघुमस्तिष्क दो अर्धखंडों में विभाजित है। एक ओर इसका संबंध अनेक स्नायुतंतुओं द्वारा सुषुम्ना से और दूसरी ओर सेतु द्वारा वृहत्मस्तिष्क से रहता है। साथ ही, इसका संबंध कान में स्थित वेस्टीबुलर या अर्धवृत्ताकार नहीं नामक ग्राहककेन्द्रिय से है।

लघु-मस्तिष्क विभिन्न शारीरिक क्रियाओं के बीच में एकीकरण स्थापित करता है। शारीरिक संतुलन का नियंत्रण एवं शरीर आकृति में नियंत्रण करना लघुमस्तिष्क का कार्य है। इसके अन्दर कर्ण ज्ञानेन्द्रियों से स्नायु आते हैं जिनका संबंध शारीरिक संतुलन से है जैसे कान के अर्धवृत्ताकार नहीं आदि। अगर विभिन्न शारीरिक अंगों के बीच एकीकरण की क्रिया न हो तो कोई भी कार्य सही रूप में नहीं हो सकेगा। जैसे-भोजन करते समय दाँत और जीभ की गति में समन्वय न हो तो हमारा भोजन करना कठिन हो जायेगा।

किसी तरह के नशे से लघुमस्तिष्क प्रभावित होता है जिससे शारीरिक संतुलन बिगड़ जाता है और यही कारण है कि शराबी चलने में लड़खड़ाता है क्योंकि वह अपने शारीरिक संतुलन पर नियंत्रण नहीं रख पाता।

2. मध्यमस्तिष्क:-

मध्य मस्तिष्क, अग्रमस्तिष्क तथा पश्च मस्तिष्क के मध्य एक छोटे से पुल के समान स्थित होता है। इसकी स्थिति 'सेरेब्रम' के ठीक नीचे होती है। इसलिए यह अग्र मस्तिष्क तथा पश्च मस्तिष्क के बीच संबंध स्थापित करने का कार्य करता है। मनुष्य में इसका आकार लगभाग 3/4 इंच होता है। वृहत्मस्तिष्क के नीचे मस्तिष्क के सभी केन्द्रों को मिलाकर एक नाम मस्तिष्क वृन्त' से संबोधित किया जाता है।

मध्यमस्तिष्क के दो भाग है-

1. **ऊपरी सतह-** मध्यमस्तिष्क के इस सतह पर दो जोड़े ज्ञानवाही या संवेदी केन्द्र पाये जाते हैं, जिन्हें सुपीरियर कोलीकुली और इनफीरियर कोलीकुली कहते हैं। इन दानों केन्द्रों द्वारा क्रमशः दृष्टि संवेदना एवं श्रवण संवेदना की क्रियायें होती है। वैसे इन दानों प्रकार की संवेदनाओं के क्षेत्र क्रमशः वृहतमस्तिष्क के ऑक्सिपिटल लोब एवं टेम्पोरल लोब में पाये जाते हैं। लेकिन इनके अभाव में (छोटे जीवो में) देखने और सुनने की क्रियायें इन्हीं केन्द्रों द्वारा संचालित और नियंत्रित होती है।
2. **निचली सतह-** मध्य मस्तिष्क की यह नीचे की सतह है। यह एक रास्ता है जहाँ से ज्ञानवाही स्नायु मस्तिष्क के ऊपरी केन्द्रों में जाते हैं और इन केन्द्रों से आने वाले गतिवाही

स्नायु इसी रास्ते से होते हुए मस्तिष्क के निचले केन्द्रों में पहुँचते हैं। इस प्रकार, मध्यमस्तिष्क के इस भाग द्वारा मस्तिष्क के ऊपरी केन्द्रों एवं निचल केन्द्रों में संबंध स्थापित होता है।

मध्यमस्तिष्क का सबसे महत्वपूर्ण भाग जाल-रचना है। यह भाग सुषुम्ना के ऊपर मस्तिष्क वृंत में रहता है जो अनेक न्यूक्लीआई एवं तंतुओं की ढेर जेसे रचना होती है। इसके दो प्रमुख कार्य हैं-

- मस्तिष्क के ऊपरी केन्द्रों से निचले केन्द्रों की ओर आने वाले कुछ प्रवाहों को यह रोकता है, जबकि कुछ को आगे जाने के समयता प्रदान करता है।
- इस भाग से ऊपर की ओर जाने वाल तंतुओं द्वारा मस्तिष्क के ऊपरी केन्द्रों के उत्तेजक के रूप में यह कार्य करता है । अर्थात् मस्तिष्क के विभिन्न केन्द्रों को यह कार्यशील करता हैं।

3. अग्रमस्तिष्क:-

मस्तिष्क का सबसे ऊपरी भाग अग्रमस्तिष्क है। इसके दो प्रमुख भाग निम्नलिखित हैं-

i) **थैलेमस-** इसका स्थान मस्तिष्क के ठीक ऊपर, लेकिन वृहत्मस्तिष्क के नीचे है। थैलेमस मस्तिष्क में एक प्रसारण केन्द्र के रूप में कार्य करता है, क्योंकि सुषुम्ना की ओर से आने वाले तथा मस्तिष्क के नीचले भाग से आने वाले संवेदी आवेगों को वृहत् मस्तिष्क के विभिन्न केन्द्रों में भेजने का कार्यभार थैलेमस पर ही है। इसके अन्दर बड़ी संख्या में तंत्रिकायें वर्तमान है जो तीन प्रकार के होते हैं-

1. वैसी तंत्रिकाएँ जो मस्तिष्क के नीचले केन्द्रों के साथ संबंध स्थापित करती है।
2. कुछ ऐसी तंत्रिकाएँ जो मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों से संबंध करती है।
3. वैसी तंत्रिकाएँ जो थैलेमस के अन्तर्गत ही परस्पर एक दूसरे भाग से संबंध स्थापित करती है।

यह भी माना जाता है कि साधारण प्रकार के सीखने की क्रिया एवं कार्टेक्स के क्षतिग्रस्त होने पर उसकी कुछ क्रियाएँ भी थैलेमस द्वारा होती है।

ii) **हाइपोथैलेमस-** यह थैलेमस के नीचे स्थित होता है यह प्रमुख रूप से संवेगात्मक व्यवहारों के नियंत्रण का केन्द्र है। इसके दो प्रमुख भाग होते हैं-

क. पीछे तथा बगल का भाग (परवर्ती)

ख. अग्रवर्ती, आगे और बीच का भाग

हाइपोथैलेमस का परवर्ती भाग स्वचालित तंत्रिका तंत्र के अनुकम्पी या सहानुभेतिक क्रियाओं को संगठित और नियंत्रित करता है तथा अग्रवर्ती भाग सहानुकम्पी या उपयहानभूतिक मण्डल के कार्यों में सहयोग देता है।

इस प्रकार हाइपोथैलेमस स्वचालित तंत्रिका तंत्र द्वारा संचालित क्रियाओं जैसे-हृदय एवं क्रियाओं का नियंत्रण, संवेगात्मक व्यवहारों का संचालन, पिट्यूटरी ग्रंथि के स्राव को नियमित रखना, कार्बोहाइड्रेट, वसा तथा जल के पाचन की व्यवस्था आदि क्रियाओं का भी नियंत्रण हाइपोथैलेमस द्वारा ही होता है।

iii) **अवयवीय तंत्र-** अवयवीय तंत्र एक जटिल रचना है जिसके अंतर्गत हाइपोथैलेमस सेप्टल, क्षेत्र, अमिग डाला, हिपोकैंपस और सिंगुलेट की खाई नाम केन्द्र है। मस्तिष्क के इस भाग का संवेगात्मक एवं प्रेरणात्मक क्रियाओं के संचालन एवं नियंत्रण में विशेष महत्व है। इस तंत्र का संबंध हृदय, आमाश्य आदि की क्रियाओं को नियमित करने से भी है। इसलिए इसे अतंरावयवी मस्तिष्क भी कहते हैं।

अवयवी तंत्र के बारे में अभी विस्तृत जानकारी तो नहीं मिल पायी है, लेकिन संवेग एवं प्रेरणा संबंधी व्यवहारों में इसकी महत्ता सिद्ध हो चुकी है। उदाहरण के लिए, निम्नकोटि के प्राणियों में देखा गया है कि क्रोध की अवस्था में इस तंत्र के सेप्टल क्षेत्र से उत्पन्न स्नायुप्रवाह क्रोध की अभिव्यक्ति को रोक देता है, जबकि अमिग डला में उत्पन्न प्रवाह क्रोध की तीव्रता को बढ़ा देता है। यह भी देखा गया है कि एस त्रि के क्षतिग्रस्त होने पर अनियमित स्मृति, विभ्रम, मिरगी आदि असामान्य लक्षण विकसित होते हैं।

मस्तिष्क खंड का सबसे पुराना विकसित अंग मूलभूत स्नायु-पुंज है। यह थैलेमस के ऊपर एवं कॉर्टेक्स के नीचे भूरे पदार्थों का पुंज है। मूलभूत स्नायु पुंज का ही एक भाग, जो धारीदार दिख पड़ता है, कॉर्पस- स्ट्रीयटम’ कहलाता है। इसका प्रमुख कार्य शारीरिक मुद्राओं का नियंत्रण करना है। यह मानव व्यवहारों के बीच सामंजस्य बनाये रखता है।

iv) **वृहत् मस्तिष्क-** यह मस्तिष्क का सबसे विकसित और सबसे ऊपरी भाग है। यह एक लम्बवत् दारार से दो अर्धखंण्डों में बाँटा है-दायाँ और बाँया अर्धखण्ड। इन दानों अर्धखण्डों को महासंयोजक नामक स्नायु मिलाते हैं। ये स्नायु अनेक ज्ञानवाही एवं गतिवाही तंतुओं के समूह होते हैं, जो शरीर की विपरीत दिशा के विभिन्न अंगों से संबद्ध होते हैं। अर्थात् इन स्नायुतंतुओं द्वारा शरीर का दायाँ भाग वृहत्मस्तिष्क के बाएँ अर्धखण्ड से और बायाँ भाग इसके दाएँ अर्धखण्ड से संबंधित रहता है। इसलिए वृहत्मस्तिष्क के दाएँ अर्धखंड द्वारा शरीर के बाएँ भाग के अंगों की क्रियाएँ संचालित एवं नियंत्रित होती है तथा अर्धखण्ड से शरीर के दाएँ भाग की क्रियाएँ संचालित एवं नियंत्रित होती है। महासंयोजक के स्नायु मस्तिष्क के दोनों अर्धखण्डों के बीच समन्वय द्वारा मस्तिष्क को एक इकाई का रूप देते हैं। यदि महासंयोजक के स्नायु किसी कारण वश नष्ट हो जाये या कट जाये तो मस्तिष्क के दानो अर्धखण्डों के बीच समन्चय टूट जायेगा और मस्तिष्क दो भागों में बँट जाऐगा।

वृहत्मस्तिष्क का सबसे ऊपरी भाग सेरेब्रल कोर्टेक्स कहलाता है जिसकी रचना असंख्य स्नायुकोश से हुई है। यह खोपड़ी के भीतर ढँका रहता है तथा ऊपर के भूरे रंग का होता है। इसके ऊपरी सतह पर अनेक स्नायुकोशों के कोशिक-शरीर एकत्र रहते हैं, जिनमें स्लि पदार्थ पाया जाता है। इस पदार्थ का रंग धूसर या भूरे रंग का होता है। इसलिए कॉर्टेक्स का ऊपरी भाग भूरे रंग का दिखाई पड़ता है। साधारण शब्दों में इसे केवल भूरा पदार्थ भी कहते हैं। कॉर्टेक्स के नीचे की सतह उजले रंग की मालूम पड़ती है। इसका कारण यह है कि इसके नीचे के भाग में माइलिन आवरण युक्त स्नायु-तंतु पाए जाते हैं। इसे उप-कॉर्टेक्स की संज्ञा दी जाती है। माइलिन आवरण उजले रंग का होता है, इसलिए इसे उजला पदार्थ भी कहते हैं।

कॉर्टेक्स की एक और विशेषता यह होती है कि खोपड़ी को हटा देने पर इसकी सतह अखरोट के छिलके की तरह उबड़-खाबड़ मालूम पड़ती है। प्रायः ऐसा माना जाता है कि जिस व्यक्ति का कॉर्टेक्स जिनता ही उबड़-खाबड़ होता है, वह उतना ही अधिक तीव्र बुद्धि का होता है। उबड़-खाबड़ होने का तात्पर्य यह है कि कॉर्टेक्स कहीं पर दबा हुआ हुआ है, तो कहीं पर उभरा हुआ है। दबे हुए भाग को दरार कहते हैं। दो दरारों के बीच के भाग को गाइरस कहते हैं। तथा उभरे हुए भाग को रिजेज। कॉर्टेक्स में छोटी-बड़ी कई दरारें होती है। इनमें एक लंबी दरार है, जो ठीक बीच में ऊपर से नीचे की ओर आती है। इसे केन्द्रीय दरार या रोलैंडो की दरार कहते हैं।

एक ओर दूसरी दरार कान के पास से आगे से पीछे की ओर कुछ ऊपर की ओर उठती हुई गई है। इसे लैटरल फीसर या सिलवियस की दरार कहते हैं। इन दानों दरारों के कारण सेरेब्रेल कॉर्टेक्स के दानों अर्धखण्डों-दायाँ एवं बायाँ चार अलग-अलग खंडों या पालियों में बँट जाते हैं। रोलैडो या केन्द्रीय दरार से आगे और पीछे क्रमशः अग्रखंड और पार्श्वकपाल खंड या पैरीटल लोब बनते हैं। सिलवियस की दरार से भी दो खंड बनते हैं। इस दरार के नीचे के भाग को शंख या टेंपोरल लोब तथा विलकुल पीछे के भाग को पृष्ठकपाल या आक्तिसपिटल लोब कहते हैं। इस तरह, सेरेब्रल कॉर्टेक्स निम्नलिखित चार खंडों में बँट जाता है-

a. अग्रखंण्ड
b. मध्यखण्ड
c. शंख खण्ड
d. पृष्ठखण्ड

सेरेब्रल कॉर्टेक्स में दो प्रकार के क्षेत्र होते हैं-

क. प्रक्षेपण क्षेख
ख. साहचर्य क्षेत्र

क) प्रक्षेपण क्षेत्र- यह कॉर्टेक्स के उन क्षेत्रों को कहते हैं जहाँ शरीर के विभिन्न भागों से आनेवाले स्नायुतंतु समाप्त होते हैं तथा जहाँ से स्नायुकोश निकलकर शरीर के विभिन्न भागों में जाते हैं,

अर्थात् प्रक्षेपण क्षेत्रों में दूसरी जगहों से आनेवाले एवं जानेवाले स्नायुकोश रहते हैं। इस क्षेत्र को दो भागों में बाँटा जाता है-'

i) ज्ञानवाही प्रक्षेपण क्षेत्र
ii) गतिवाही प्रक्षेपण क्षेत्र

i) ज्ञानवाही प्रक्षेपण क्षेत्र में शरीर के विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से आने वाल ज्ञानवाही तंतु समाप्त होते हैं, जिनके द्वारा ज्ञानवाही स्नायुप्रवाह कॉर्टेक्स में पहुँचते है। त्वचा से आने वाले ज्ञानवाही स्नायु मध्यखंण्ड में पहुँचते हैं, जिनके फलस्वरूप स्पर्श संवेदना होती है। इसी तरह श्रवण स्नायु शंखखण्ड में और दृष्टि स्नायु पृष्ठखण्ड में पहुँचते हैं, जहाँ क्रमशः श्रवण एवं दृष्टि संवेदनाएँ होती है। अतः इन सभी क्षेत्रों को ज्ञानवाही या संवेदी क्षेत्र कहते हैं।

ii) गतिवाही प्रक्षेपण क्षेत्र केन्द्रीय दरार से सटे आगे ऊपर से नीचे की ओर पतले से क्षेत्र में फैला हुआ है। आकार में ज्ञानवाही प्रक्षेपण क्षेत्र की तुलना में यह एक छोटा क्षेत्र है तथा केवल एक ही जगह पाया जाता है। यह क्षेत्र अग्रखण्ड का पिछला भाग है। इसे प्राक् केन्द्रीय क्षेत्र भी कहते हैं।

गतिवाही प्रक्षेपण क्षेत्र द्वारा शारीरिक गति-संबंधी क्रियाओं का संचालन एवं नियंत्रण होने के साथ-ही-साथ शारीरिक मुद्रा-संबंधी मांसपेशीय गतियों का भी संचालन होता है। देखा गया है कि जब यह क्षेत्र किसी कारणवश क्षतिग्रस्त हो जाता है तब हाथ, पैर आदि की गतियाँ अनियंत्रित एवं अव्यवस्थित स्वरूप की हो जाती है।

ख) साहचर्य क्षेत्र- ऊपर जिन प्रक्षेपण क्षेत्रों की चर्चा की गई है, उनके अतिरिक्त कॉर्टेक्स का शेष भाग साहचर्य क्षेत्र है। साहचर्य क्षेत्र भी दो तरह के हैं।-

i) कुछ साहचर्य क्षेत्र ऐसे हैं, जो ज्ञानवाही प्रक्षेपण क्षेत्रों एवं गतिवाही प्रक्षेपण क्षेत्र के निकट हैं तथा इनका संबंध इन्हीं क्षेत्रों के क्रियाओं से रहता है।

ii) एक और साहचर्य क्षेत्र पाया जाता है, जो संपूर्ण अग्रखंण्ड में फैला हुआ है। इसे अग्र साहचर्य क्षेत्र कहते हैं।

इस क्षेत्र द्वारा ज्ञानवाही एवं गतिवाही अवयवों से आने वाले और जाने वाले स्नयुतंतुओं में संबंध या साहचर्य समन्वय, मूल्यांकन अथवा एकीकरण की क्रियाएँ होती है।

<u>कॉर्टेक्स की क्रियाएँ-</u>

कॉर्टेक्स की तीन प्रधान क्रियाएँ हैं-

क. ज्ञानवाही क्रियाएँ
ख. गतिवाही क्रियाएँ
ग. साहचर्य क्रियाएँ

इन तीनों प्रकार की क्रियाओं के लिए कॉर्टेक्स में अलग-अलग केन्द्र हैं, जिनके द्वारा ये क्रियाएँ होती है।

अब इन केन्द्रों द्वारा होने वाली क्रियाओं का वर्णन एक-एक कर सकेंगे-

क) ज्ञानवाही या संवेदी क्रियाएँ -

प्राणी की संपूर्ण ज्ञानवाही क्रियाओं को चार वर्गों में रखा जा सकता है-

i) स्वाद एवं घ्राण- संबंधी ज्ञानात्मक अनुभव
ii) स्पर्श या त्वक एवं शारीरिक परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न ज्ञानात्मक अनुभव
iii) दृष्टि-संबंधी अनुभव
iv) श्रवण- संबंधी अनुभव

इन सभी प्रकार के अनुभावों के आधार स्थल भी मस्तिष्क में अलग-अलग है। स्वाद एवं घ्राण सम्बन्धी अनुभव कॉर्टेक्स के अंग विशेष घ्राण-केन्द्र द्वारा होता है। स्पर्श एवं शारीरिक गति से उत्पन्न अनुभव का केन्द्र शेलैंन्द्रों के दरार के सटे उसके ठीक पीछे मध्य खण्ड में स्थित है। कॉर्टेक्स का पृष्ठ खण्ड दृष्टि सम्बन्धी अनुभवों को क्षेत्र है। आँख के रेटिना से चलने वाला स्नायु-प्रवाह दृष्टि द्वारा मस्तिष्क के पृष्ठ खण्ड में पहुँचते हैं, तभी दृष्टि संवेदना होती है। श्रवण संवेदना का क्षेत्र शंख खण्ड है।

ख) गतिवाही क्रियाएँ -

कॉर्टेक्स का गतिवाही क्षेत्र ज्ञानवाही क्षेत्र की अपेक्षा छोटा है और केवल एक ही जगह है। यह क्षेत्र केन्दीय या रोलैंडों की दरार के अग्र भाग से लगा एक पतला-सा लम्बा भाग है। कॉर्टेक्स के इस भाग में पिरामिड की शक्ल के त्रिकोणाकार स्नायुकोश पाए जाते हैं। इसलिए इसे पिरामिडल क्षेत्र भी कहते हैं। इस क्षेत्र के अधिकतर गतिवाही तंतु के मख्य तंतु लंबे-लंबे होते हैं और वे सीधे सुषुम्ना तक चले जाते हैं। इसका यह प्रमाण है कि पिरामिड की शक्ल के स्नायुकोशों को नष्ट किए जाने पर सुषुम्ना में कुछ भरे हुए मुख्य तंतु के भग पाए जाते है। इस क्षेत्र में पिरामिडल स्नायुकोशों के अतिरिक्त कुछ ‘बाह्य पिरमिडल स्नायुकोश’ भी पाए जाते हैं। कुछ लोगों का मत है कि बाह्य पिरामिडल स्नायुकोश द्वारा शारीरिक मुद्राओं तथा शरीर की भुजाओं और बड़ी-बड़ी मांसपेशियों की गतियाँ संचालित एवं नियंत्रित होती हैं पिरामिडल टैक्ट द्वारा कुशल गतियों का संचालन एवं नियंत्रण होता है। कॉर्टेक्स के गतिवाही क्षेत्र से और बाएँ भाग के गतिवाही स्नायु दाएँ अर्धखण्ड के गतिवाही क्षेत्र सम्बन्धित रहते हैं। अतः दायें अर्धखण्ड के गतिवाही क्षेत्र जब क्षतिग्रस्त होता है, तब शरीर के दाहिने भाग के अंग क्रियाविहीन होते हैं और जब बायाँ अर्ध,खण्ड का गतिवाही क्षेत्र क्षतिग्रस्त होता है, तब शरीर के दाहिने भाग के अंग कार्यहीन हो जाते हैं। लेकिन, संपूर्ण गतिवाही क्षेत्र के नष्ट हो जाने पर व्यक्ति पूर्णतः गतिविहीन या क्रियाविहीन हो जाता है। उसकी समस्त चेतन

क्रियाएँ नष्ट हो जाती है। उसमें केवल सहज या प्रतिवर्त क्रियाएँ होती है। जिनका संचालन और नियंत्रण सुषुम्ना से होता है।

ग) साहचर्य क्रियाएँ -

कॉर्टेक्स का सबसे विकसित एवं महत्वपूर्ण कार्य ज्ञानवाही एवं गतिवाही स्नायुप्रवाहों को एक-दूसरे से मिलाना और उन्हें मिलाकर निश्चित स्थानों में भेजना है। स्नायुप्रवाहों को एक-दूसरे से मिलाने-संबंधी इस कार्य को ही साहचर्य क्रिया कहते हैं। इसी क्रिया के फस्वरूप मनुष्य में सीखने, चिंतन करने, प्रत्यक्षीकरण करने, प्रत्याह्वान करने आदि कि क्रियाएँ संभव होती हैं और इसलिए मनुष्य को अन्य प्राणियों की तुलना में सर्वाधिक विकसित एवं श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है।

कॉर्टेक्स में ज्ञानवाही एवं गतिवाही क्षेत्रों की तुलना में साहचर्य क्षेत्र अधिक है। साहचर्य क्षेत्र के स्नायुकोश एक-दूसरे को परस्पर जोड़ते या मिलाते अथवा संबंधित और संगठित करते हैं। इसलिए, साहचर्य क्षेत्र द्वारा संपादित क्रियाओं को संगठन-क्रिया या संयोजन-क्रिया कहते हैं।

कॉर्टेक्स में बहुत-से ऐसे साहचर्य क्षेत्र भी हैं, जो विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त संवेदनाओं को अर्थ प्रदान करते हैं। यदि इन क्षेत्रों में स्नायु नष्ट हो जाएँ तो मनुष्य में संवेदना तो होगी, किन्तु उनके अर्थों को समझने में वही असमर्थ रहेगा। उदाहरण के लिए, पृष्ठखण्ड में दृष्टि साहचर्य क्षेत्र है। इस क्षेत्र के स्नायु यदि किसी कारणवश नष्ट हो जाएँ जो मनुष्य देखे हुए उत्तेजनाओं का अर्थ लगाने में असमर्थ रहेगा। यदि उसके समक्ष कोई किताब पढ़ने को रखी जाए तो वह छपे हुए अक्षरों को तो देखेगां, लेकिन उसके अर्थ को नहीं समझेगा। किन्तु, यदि कोई दूसरा व्यक्ति उसे किताब पढ़कर सुनाए तो श्रवण संवेदना के आधार पर वह समझ जाएगा। इसी तरह यदि उसके निकट कोई विषैला जीव या खतरनाक जीव आ जाये तो उसे देखकर वह न डरेगा, न भागेगा, परन्तु यदि कोई जीव का नाम लेकर चिल्लाएँ, जैसे साँप-साँप चिल्लाए तो वह भयभीत हो कर भागेगा। ऐसे दोष अक्षमता कहते हैं। इनमें ज्ञानेंन्द्रिय अर्थात आँख में कोई खराबी नहीं होती और न व्यक्ति में किसी प्रकार का क्रियात्मक दोष ही होता है। इस तरह के रोग का एकमात्र कारण दृष्टि साहचर्य क्षेत्र के स्नायुकोशों का नष्ट होना है।

दृष्टि साहचर्य क्षेत्र की ही तरह कॉर्टेक्स में श्रवण साहचर्य क्षेत्र भी है, जिनका संबंध श्रवण स्नायुप्रवाहों को अर्थ प्रदान करने से है। इस क्षेत्र के स्नायुकोशों के क्षनिग्रस्त होने पर सुन लेते हैं और प्रस्तुत किए गए शब्द-समूहों को पहचान भी सकते हैं, लेकिन कहे गए शब्दों का अर्थ नहीं समझ पातें। परन्तु यदि उन्हें बातों को लिखकर पढ़ने को दिया जाए तो उन्हें अच्छी तरह समझ जाते हैं।

कॉर्टेक्स में एक प्राकगति क्षेत्र भी है। यह क्षेत्र सार्थ ढंग से लिखने की योग्यता प्रदान करता है। इसी प्रकार, कॉर्टेक्स में वाणी साहचर्य क्षेत्र में भी है, जिससे व्यक्ति में अक्षरों को जोड़कर शब्द और शब्दों को परस्पर मिलाकर वाक्यों के रूप में सार्थक ढंग से बोलने की योग्यता का विकास

होता है। इन दोनों क्षेत्रों से स्नायुकोशों के विनाश के फलस्वरूप लिखने एवं बोलने-संबंधी क्रियाओं में दोष आ जाते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में यह स्पष्ट होता है। कि विभन्न जटिल मानसिक क्रियाएँ कॉर्टेक्स में पाए जाने वाले विभिन्न साहचर्य क्षेत्रों द्वारा संपादित होती है, जैसे-पढ़कर समझने की क्रिया का संपादन दृष्टि साहचर्य क्षेत्र करना है, सार्थक रूप से लिखने की क्रिया प्राक्गति क्षेत्र और सार्थक रूप से बोलने की क्रिया वाणी साहचर्य क्षेत्र कहलाता है। इसी प्रकार, प्रत्याह्मन, चिंतन आदि क्रियाओं का संपादन अग्र साहचर्य क्षेत्र कहलाता है। इन केन्द्रों में से किसी एक क्षेत्र के क्षतिग्रस्त हो जाने पर उस क्षेत्र पर आश्रित क्रियाएँ संपादित नहीं हो पाती हैं। किन्तु अन्य क्रियाओं के संपादन में कोई त्रुटि नहीं देखी जाती है। जैसे प्राक् गतिवाही साहचर्य क्षेत्र के क्षतिग्रस्त होने पर व्यक्ति कलम यो पेंसिल को इधर-उधर जला सकता है, परन्तु वह कोई सार्थक शब्द या वाक्य नहीं लिख सकता है। इसी प्रकार, वाणी साहचर्य क्षेत्र के नष्ट होने की स्थिति में व्यक्ति आवाज तो निकाल सकता है, लेकिन वह कोई सार्थक शब्द उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः स्पष्ट है कि साहचर्य क्षेत्रों के नष्ट होने पर सीखना, चिंतन करने, समस्या समाधान करने आदि जटिल क्रियात्मक क्षमताएँ नष्ट हो जाती है।

3.4.3 मस्तिष्क के सिद्धान्त -

पूर्व में मस्तिष्क द्वारा संचालि विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के संबंध में अलग-अलग क्षेत्रों का वर्णन किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मस्तिष्क के विशेष भागों द्वारा विशेष प्रकार की क्रियाओं का संचालन और नियंत्रण होता है। लेकिन, मस्तिष्क की इस क्रियात्मक विशेषता से सभी विद्वान सहमत नहीं हैं। कुछ लोगों का मत है कि मस्तिष्क के सभी भाग सब तरह की क्रियाओं को करने में समान रूप से सक्षम हैं। इस तरह मस्तिष्क की क्रिया के संबंध में दो तरह के विचार या सिद्धान्त हैं-

क. स्थानीकृत सिद्धान्त

ख. सामूहिक क्रिया का सिद्धान्त

क) स्थानीकृत सिद्धान्त या विशेष भाग द्वारा विशेष प्रकार की क्रियाओं के संपादन का सिद्धान्त-

मस्तिष्क की क्रियाओं के संबंध में पुराना विचार यह था कि मस्तिष्क के विशेष भाग द्वारा विशेष प्रकार की क्रियाएँ होती है। अर्थात् प्रत्येक क्रिया के लिए मस्तिष्क में निश्चित क्षेत्र या स्नायुकोशों के समूह होते हैं, अतः किसी विशेष क्षेत्र के नष्ट होने की स्थिति में उस पर आश्रित क्रिया का ह्रास हो जाता है और उस क्रिया का पुनः संपादन कभी भी संभव नहीं होता । इस सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक गॉल महोदय थे और बाद में चलकर वोग्ट, क्लीस्ट आदि विद्वानों ने इसे समर्थन भी दिया इस सिद्धान्त के पक्ष में इन विद्वानपें को यह प्रमाण मिला कि किसी दुर्घटना के कारण कॉर्टेक्स का कोई केन्द्र जब क्षतिग्रस्त हो जाता है, तब उस केन्द्र द्वारा संचालित क्रियाएँ भी नष्ट हो जाती है।

जैसे-पृष्ठ खण्ड के ज्ञानवाही क्षेत्र के क्षतिग्रस्त हो जाने पर दृष्टि लुप्त हो जाती है, अर्थात् व्यक्ति अंधा हो जाता है। इसी प्रकार श्रवण-कोश के स्नायुकोशों के नष्ट हो जाने पर बहरापन हो जाता है।

इस विचारधारा के पक्ष में इन विद्वानो को यह भी प्रमाण मिला कि जब बिजली द्वारा कॉर्टेक्स के किसी भाग को उत्तेजित किया जाता है।, तब उस भाग से संबद्ध ज्ञानवाही या गतिवाही क्रियाएँ होती है। इन दानों प्रकार के प्रमाणों के आलोक में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया कि विशिष्ट प्राकर की क्रियाओं के लिए मस्तिष्क में विशिष्ट क्षेत्र होते हैं ओ किसी क्षेत्र विशेष के नष्ट होने पर उस पर आश्रित क्रियाएँ भी नष्ट हो जाती हैं। फ्लोरेंस, ब्रोका आदि विद्वानों के अध्ययनों से भी स्थानीकृत क्रिया सिद्धान्त का समर्थन हुआ है।

ख) सामूहिक क्रिया का सिद्धान्त-

मस्तिष्क की क्रिया के संबंध में एक दूसरे वर्ग के विचारकों का मत उपर्युक्त विचार के विरुद्ध है। इनका मत है कि किसी भी क्रिया के संपादन में मस्तिष्क संपूर्ण रूप से कार्य करता है। इस विचार के मानने वालों में फ्रैन्ज लैशले, गोल्ज मोनेको आदि के नाम उल्लेखनीय है। इन लोगों ने विभिन्न प्रयोगों के आधार पर बताया है कि जब मस्तिष्क के कोई विशष भाग क्षतिग्रस्त होता है, तब उससे संबद्ध क्रियाएँ रुक जाती है। किन्तु यह स्थिति अस्थायी होती है। कुछ समय बाद अभ्यास के फलस्वरूप प्राणी की विशिष्ट क्रिया पुनः लौट आती है। ऐसा इसलिए होता है कि अभ्यास के सहारे मस्तिष्क का दूसरा भाग विशिष्ट क्रिया का संचालन करने लगता है। इसका तात्पर्य यह है कि मस्तिष्क के विभिन्न भाग प्रत्येक क्रिया को करने की समान क्षमता रखते हैं, इसीलिए किसी विशिष्ट भाग के नष्ट होने पर दूसरा भाग उस क्रिया को सँभाल देता है। इसलिए इस सिद्धान्त को 'सामान क्षमता का सिद्धान्त' के नाम से भी पुकारा जाता है।

इस सिद्धान्त के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि अनेक अवसरों पर यह देखा गया है कि किसी क्रिया का ह्रास उसी अनुपात में होता है, जिस अनुपात में मस्तिष्क के भागों को नष्ट किया जाता है साथ ही, यह भी देखा गया है कि मस्तिष्क के किसी भाग विशेष को नष्ट किए जाने पर कुछ समय के लिए संबंधित क्रिया का संपादन असंभव हो जाता है, परन्तु अभ्यास द्वारा यह क्रिया पुनः होने लगती है। जैसे-मान लें कि मस्तिष्क के गतिवाही क्षेत्र को नष्ट किए जाने के फलस्वरूप हाथ-पाँव आदि में गति नहीं हो पाती। लेकिन, इन अंगों की क्रिया का ह्रास स्थायी नहीं होता, बल्कि अभ्यास के फलस्वरूप इस क्रिया का पुनः विकास पाया गया हे। लकवा या पक्षाघात से ग्रस्त रोगियों से इस संबंध में अनेक प्रमाण मिले हैं। फ्रैज ने एक 58 वर्ष की वृद्धा का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस वृद्धा औरत की एक बाँह लकवाग्रस्त हो गई थी लेकिन अभ्यास के फलस्वरूप वह औरत अपनी बाँहों से सिलाई की मशीन चलाने में समर्थ हो गई, अर्थात उसके हाथों की क्रियाएँ लौटने लगीं। इसी प्रकार, एक सिपाही के दोनों हाथ 6 वर्षों से लकवाग्रस्त थे, जिससे वह अपने हाथों से कोई भी काम करने में असमर्थ था, लेकिन लगातार गहनरूप से 4 माह तक अभ्यास कराए

जाने के फलस्वरूप वह टेनिस खेलने लगा। इन उदाहरणों के आधार पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विशेष प्राकर की क्रिया मस्तिष्क के किसी विशिष्ट भाग पर आश्रित नहीं रहती, वरन् प्रत्येक क्रिया के संपादन में मस्तिष्क के सभी भाग सहयोग देते हैं। अब प्रश्न उठता है कि यह सहयोग किस प्रकार होता है । इस संबंध में तीन प्रकार के विचार हैं-

1) मस्तिष्क के किसी एक भाग के नष्ट होने पर मस्तिष्क का दूसरा भाग उस क्रिया के संचालन का भार ले लेता है, जिससे उसका संपादन होने लगाता है।
2) क्रिया की दृष्टि से मस्तिष्क को दो भागों में विभक्त किया जाता है। मस्तिष्क के भाग के अन्दर अनेक आकृतियाँ पाई जाती है। एक- आधा आकृति के नष्ट होने पर उस पर आश्रित क्रिया कुछ समय के लिए रुक जाती है, परन्तु कुछ समय बाद आस-पास की जीवित आकृतियाँ विशिष्ट आकृतियों का कार्यभार अपने ऊपर ले लेती है, क्योंकि सभी आकृतियों में समान रूप से कार्य करने की क्षमता पाई जाती है। विशिष्ट क्रिया के पुनः विकास के इस नियम को समान क्षमता या समक्षमता का नियम कहते हैं।
3) मस्तिष्क के संमपूर्ण रूप से कार्य करने की व्याख्या हॉनजिक महोदय की प्रतीकों के ह्रास की परिकल्पना के आधार पर भी की जाती है। इस परिकल्पना के अनुसार शिक्षण -क्रिया में हमें कई प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। जैसे- दृष्टि-संबंधी प्रतीक, स्पर्श, संबंधी प्रतीक, घ्राण-संबंधी प्रतीक, श्रवण-संबंधी प्रतीक, गति-संबंधी प्रतीक इत्यादि। किसी क्रिया को सीखते समय हम इन सभी प्रतीकों का उपयोग एक साथ करते हैं। इन विभिन्न प्रतीकों का निरूपण मस्तिष्क के विभिन्न भागों में होता है। अतः मस्तिष्क के किसी एक भाग के नष्ट होने पर उस भाग में जो प्रतीक निरूपित रहते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं। फलस्वरूप, वह प्रतीक क्रिया के संपादन में सहयोग देने में असमर्थ रहता है, जिससे कार्य संपादन में गड़बडी हो जाती है। परन्तु मस्तिष्क के अन्य भाग चूँकि विशिष्ट नहीं हुए हैं, इसलिए उन भागों के प्रतीक उस क्रिया का संपादन भी हो पाता है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि मस्तिष्क के किसी एक भाग के विशिष्ट होने के फलस्वरूप उस पर आश्रित क्रिया में कुछ समय के लिए ह्रास तो होता है, लेकिन अन्य प्रतीकों के आधार पर उस क्रिया के संपादन की क्षमता पुनः आ जाती है।

मस्तिष्क का विशेष भाग विशेष प्रकार की क्रिया का संपादन करता है या संपूर्ण मस्तिष्क कार्यशील रहता है, इसे जानने के लिए अनेक प्रयोग किए गए हैं। ये प्रयोग अधिकतर जानवरो पर किए गए हैं। यहाँ हम कुछ प्रयोगों का उल्लेख करेंगे।

लैशले ने चूहों पर सीखने की क्रिया का स्नायु-संबंधी का पता लगाने हेतु एक प्रयोग किया। इन्होंने चूहों को तीन प्रकार से भूलभुलैया सिखाया। इन भूलभुलैयों में क्रमशः1,3 और 8 अंधेपथ थे। अंधेपथ के क्रमशः अधिक होने के साथ-साथ शिक्षण समस्या की कठिनाई बढ़ती गई। चुहों द्वारा

भूलभुलैया के बाहर आने की क्रिया सीख लेने के पश्चात् कॉर्टेक्स के विभिन्न भागों को अलग किया गया, जिसके फलस्वरूप निम्नलिखित प्रमाण मिलें-

1) कॉर्टेक्स के हटाए गए और सीखी गई क्रिया की क्षति के बीच एक अनुपातिक संबंध पाया गया।
2) कॉर्टेक्स से हटाए गए भाग के स्थान और सीखी गई क्रिया के बीच कोई संबंध नहीं पाया गया। परन्तु, कॉर्टेक्स के हटाए गए भाग के परिमाण और सीखी गई क्रिया बीच में संबंध पाया गया। यह संबंध समस्या की कठिनाई के साथ-साथ और भी घनिष्ठ होता गया। अर्थात् एक अंधेपथ वाले भूलभुलैया में कॉर्टेक्स के हटाए गए भाग और सीखी गई क्रिया में ह्रास के बीच सहसंबंध गुणक 0.20 तीन भूलभुलैया में यह सहसंबंध गुणक 0.58 और आठ अंधेपथ में 0.75 पाया गया। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कठिन समस्याओं के सीखने की क्षमता में ह्रास उसी अनुपात में होता है जिस अनुपात में मस्तिष्क के हिस्सों को हटाया जाता है। इससे यह प्रमाण मिलता है। कि कॉर्टेक्स की क्षति की मात्रा जितनी अधिक होती जाती है, सीखी गई क्रिया की मात्रा भी उसी अनुपात में घटती जाती है। अर्थात् संपूर्ण मस्तिष्क मिलकर किसी कार्य को करता है तथा प्राणी के पास मस्तिष्क का जिनता बड़ा भाग उलब्ध रहता है, उसी पर कार्य को करता है। तथा प्राणी के पास मस्तिष्क का जिनता बड़ा भाग उपलब्ध रहता है, उसी पर कार्य की कुशलता निर्भर करती है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि कॉर्टेक्स की क्षति साधारण कार्यों की अपेक्षा कठिन कार्यों की कुशलता में अधिक ह्रास होता है।

लैशले ने एक दूसरा प्रयोग भी किया, जिसमें चूहे को अधंकार एवं रोशनी में अन्त पहचान कर भूलभुलैया को सीखना था। चूहे द्वारा इस समस्या को सीख लेने के पश्चात उसके स्ट्रीएट भाग को नष्ट कर देखा गया कि चूहे उक्त क्रिया को करने में कुछ समय के लिए असमर्थ थे। इससे यह प्रमाण मिला कि इस तरह की समस्याओं का समाधान (भिन्नता के आधार पर सीखना) स्ट्रीएट भाग पर निर्भर है। परन्तु कुछ समय के बाद स्ट्रीएट भाग के अभाव में भी चूहे उस समस्या के समाधान में सफल होने लगे। इससे पता चलता है कि स्ट्रीएट भाग उस तरह की समस्याओं समाधान हेतु आवश्यक तो है, लेकिन इसके अभाव में कॉर्टेक्स के अन्य भाग उन समस्याओं का सफलतापूर्वक समाधान करने में समर्थ हो जाते हैं। लैशले के इस प्रयोग से एक और बात का पता चला कि कुछ कठिन समस्याओं के समाधान में स्ट्रीएट भाग के विनाश होने पर कॉर्टेक्स का अन्य भाग उस समस्या का समाधान तो करता है, लेकिन पूर्ण रूप से नहीं, बल्कि आंशिक रूप से। अतः विशेष भाग द्वारा विशेष प्रकार की क्रियाओं का संपादन होता है, इस विचार की पुष्टि स्पष्ट रूप से नहीं होती। इस परिस्थिति में समक्षता सिद्धान्त सही है अथवा स्थाननीकृत सिद्धान्त-निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता ।

कॉर्टेक्स की ज्ञानवाही क्रियाओं में भी स्थानीकृत क्रिया संबंधी साक्ष्य मिलते हैं और साथ-साथ 'लैशले' जैसी बातें भी देखी जाती हैं। स्पर्श-संबंधी संवेदनाएँ सामान्यतः कॉर्टेक्स की शरीरगति

क्षेत्र द्वारा होती है, परन्तु इस क्षेत्र के क्षतिग्रस्त होने पर कुछ समय बाद इस तरह की संवेदनाएँ उपकॉर्टेक्स के किसी भाग द्वारा उत्पन्न होने लगती है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्पर्श-संबंधी संवेदनाएँ कॉर्टेक्स एवं उपकॉर्टेक्स दानों में निहित है, इसलिए एक भाग के नष्ट होने पर दूसरा भाग उस क्रिया को करने लगाता है। किसी भाग के अभाव में दूसरे भाग द्वारा कार्यभार ग्रहण करने की इस क्रिया को प्रतिकृत कहते हैं। लेकिन, यदि ये दानों भाग नष्ट हो जाएँ तो वह क्रिया कभी नहीं लौट सकती। इसी तरह की बातें श्रवण-संवेदना के साथ पाई जाती है। मस्तिष्क के दानों अर्धखंडों में स्थित श्रवण क्षेत्रों में से कोई एक क्षेत्र भी वर्तमान रहे तो श्रवण- संवेदना होगी, क्योंकि यहाँ भी प्रतिकृति व्यवस्था काम करती है। परन्तु दृष्टि-संवेदना के साथ ऐसी बात नहीं है। दृष्टि -संवेदना क्षेत्र का एक भी स्नायुकोश यदि नष्ट हो जाता है तो दृष्टि-संवेदना का कुछ अंश सदा के लिए विशिष्ट हो जाता है। अतः दृष्टि-संवेदना के संबध में दृढ़ स्थानीकृत क्रिया का प्रमाण मिलता है। साहचर्य क्षेत्रों में भी यह देखा गया है कि इस क्षेत्र की सहायता से प्राणी जिन कुशलताओं को प्राप्त करता है, उन्हें इस क्षेत्र के नष्ट होने की स्थिति में पुनर्शिक्षण द्वारा पुनः प्राप्त किया जा सकता है, यदि उस क्षेत्र की कुछ कोशिकाएँ बची हुई हों। लेकिन, यदि क्षेत्र नष्ट हो जाता है तो पुनर्शिक्षण से कोई लाभ नहीं होता।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ क्रियाओं के संचालन में मस्तिष्क के विशेष भाग अधिक कार्यशील होते हैं। अतः उस भाग के क्षतिग्रस्त होने पर संबंधित क्रिया रुक जाती है अथवा बाधित हो जाती है। लेकिन, क्रियाओं में होने वाली यह रूकावट सदा के लिए नहीं होती, क्योंकि यह क्रियाविशेष की कठिनाई का स्तर एवं मस्तिष्क के क्षतिग्रस्त होने के परिमाण पर निर्भर करता है। यदि संबंधित क्रिया साधारण ढंग का हो तो मस्तिष्क के अन्य भाग उस क्रिया का पुनः विकास आंशिक रूम में ही हो पाता है। फिर, मस्तिष्क का यदि संपूर्ण भाग नष्ट हो जाता है तो क्षतिग्रस्त क्रिया पुनः विकास होना बिल्कुल ही संभव नहीं होता । अतः निष्कर्ष, रूप में हम यही कह सकते हैं कि दानो सिद्धान्तों आंशिक रूप में ही सही हैं। जहाँ निम्न प्राणियों में सामुहिक क्रिया की प्रधानता देखी जाती है, वही मनुष्यों एवं अन्य विकसित प्राणियों के कॉर्टेक्स में स्थानीकृत क्रिया अधिक पाई जाती है।

3.5 स्वचालित स्नायु तंत्र

स्वचालित या स्वतः संचालित स्नायुतंत्र का संबंध प्राणी की वैसी क्रियाओं के संचालन एवं नियंत्रण से रहता है जो स्वतः होती है। अर्थात् उन क्रियाओं पर प्राणी का न तो कोई नियंत्रण रहता है न उनके बारे में उसे कोई जानकारी रहती है।

इन स्नायुतंत्र की कोशिकाएँ गुच्छों के तार के रूप में सुषुम्ना के समानान्तर दानों ओर ऊपर से नीचे फैली हुई है। इन सभी स्नायु-कोशों से निकलकर स्नायु-तंतु शरीर के प्रायः सभी आंतरिक अवयवों, जैसे- हृदय, फेफड़ा, आमाशय, यकृत, गुर्दे आदि में जाते हैं। स्वचालित स्नायु तंत्र इन सभी आंतरिक अवयवों के कार्यों का संचालन एवं नियंत्रण करता है। केन्द्रीय स्नायु-तंतु बहुत हद तक

स्वतः संचालित स्नायु तंत्र की क्रियाओं पर अपना प्रभाव डाल सकता है लकिन साधारण अवस्था में दानों की क्रियाएँ अलग-अलग और स्वतन्त्र रूप से ही चला करती है।

सभी प्रकार की ऐच्छिक क्रियाएँ केन्द्रीय स्नायु तंत्र पर निर्भर करती है तथा अनैच्छिक क्रियाएँ अधिकाँशतः स्वचालित स्नायु तंत्र पर निर्भर करती है।

स्वचालित स्नायुतंत्र को इसकी बनावट एवं कार्य के आधार पर प्राय: दो वर्गों में विभाजित किया जाता है-

क. अनुकम्पी या सहानुभूति मण्डल या तंत्र

ख. सहानुकम्पी या उपसहानुभूतिक मण्डल

3.5.1 अनुकम्पी तंत्र-

अनुकम्पी तन्त्रिका तंत्र कोशिका पिण्डों का बना होता है। मनुष्य के इस तन्त्र में 22 जोड़े अनुकम्पी-कोशिकापिण्ड सुषुम्ना के समानान्तर ऊपर से नीचे तक व्यवस्थित होते हैं। इनको अनुकम्पी अथवा गैन्गलिओनिक कॉड भी कहा जाता है। चुँकि तन्तु (तन्त्र के) सुषुम्ना या मेंरू रज्जु के वक्षीय तथा कटि भागों से आते हैं, इसलिए अनुकम्पी तंत्रिका तंत्र को वक्ष-कटि तन्त्रिका तन्त्र भी कहा जाता है।

इस भाग के स्नायु सीधे अंतरावयवों में न जाकर सुषुम्ना से निकलकर पहले स्वतःचालित गुच्छिका में जाते हैं और फिर वहाँ से अंतरावयवों में। इस प्रकार इसके दो भाग हुए-

- वह भाग जो सुषुम्ना से निकलकर गुच्छिका में जाते हैं, जिसे प्राक्-गुच्छिका स्नायु कहते हैं तथा
- वह भाग जो गुच्छिका से निकलकर अंतरावयवों में जाते हैं जिसे उत्तर-गच्छिका स्नायु कहते हैं। अनुकम्पी तंत्र के अन्तर्गत जिन प्रमुख अवयवों का उल्लेख आता है वे हैं- यकृत, हृदय, आमाशय, प्लीहा एवं एड्रीनल ग्लैण्ड।

अनुकम्पी तंत्र संवेगात्मक क्रियाओं में विशिष्ट रूप से भाग लेता है। इस तंत्र की क्रियाएँ उस समय प्रधान होती है, जब प्राणी तीव्र मानसिक तनाव में रहता है या किसी प्रकार से उसका जीवन खतरे में रहता है। जसे-किसी दुर्घटना के समय, परीक्षा-भवन में जाते समय परीक्षा का भय, शल्य-क्रिया से उत्पन्न भय की अवस्था में या क्रोध की अवस्था में। इन स्थितियों में अनुकम्पी तंत्र के सक्रिय होने के फलस्वरूप रक्तचाप में वृद्धि रक्त में लाल कणों की मात्रा में वृद्धि हृदय की गति में वृद्धि इत्यादि क्रियाएँ होती हैं।

संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं में यह तन्त्र भोजन के रासायनिक एवं अन्तःस्रावी संतुलनों को भी बनाये रखता है। जब उपवृक्क ग्रन्थि से एड्रीनेलिन नाम का पदार्थ निकलता है तो वह संवेगात्मक

क्रियाओं को अत्यन्त प्रभावित करता है। इस प्रकार से संवेगात्मक व्यवहार में होने वाले आपत्तिकालीन कार्यों पर यह तन्त्र अपना नियन्त्रण रखता है। इस तंत्र के प्रभाव को समझने के लिए भय तथा क्रोध के उदाहरण पर्याप्त हैं, जैसे-भय से हाथ-पैर ठण्डे पड़ जाना, हृदय की गति तीव्र होना, पाचन-क्रिया में गड़बड़ी होन आदि। इसी तरह क्रोध के समय अधिक शक्ति की आवश्यकता होती है तो यह तंत्र ऐड्रीनल ग्रन्थि से ऐड्रीलन नामक तरल पदार्थ लेकर हमारे रक्त में तेजी से मिलाने लगता है, जिसके फलस्वरूप हम दूनी शक्ति से प्रतिक्रियाएँ करने लगते हैं।

3.5.2 सहानुकम्पी तंत्रिका तंत्र-

सुषुम्ना के निचले खंड जिसे सैक्रल कहते हैं और मस्तिष्क वृन्त के कुछ स्नायु या तंत्रिकायें निकालकर सीधे अंतरावयवों में जाते हैं। स्नायुओं से बने इसी स्नायुतंत्र को सहानुकम्पी तंत्रिका तंत्र कहते हैं। चुँकि सहानुकम्पी तंत्रिका तंत्र के स्नायु 'क्रैनियल' एवं 'सैक्रल' क्षेत्रों से निकलते हैं, अतः इसे क्रैनियो-सैक्रल सिस्टम भी कहते हैं। तथा इस भाग के स्नायुओं की शाखाएँ केन्द्रीय स्नायु -मण्डल से निकलकर अनुकम्पी तंत्र के ऊपर और नीचे से गुजरती है, अतः इसे सहानुकम्पी तंत्र कहते हैं। स्वतः चालित स्नायुमंडल के इस भाग के अंतर्गत निम्नलिखित अवयवों का समावेश होता है-आँख का तारा, लार ग्रन्थि, स्वेद ग्रन्थि आँत, मूत्राशय आदि।

कुछ अवयवों का संबंध स्वचालित तंत्रिका तंत्र के दानों भागों से रहता है- जैसे- हृदय स्वेद ग्रंथि आदि।

यह तंत्रिका-तंत्र पूर्ण रूप से पुरोगुच्छिक तन्तुओं, पश्च गुच्छिक तन्तु तथा कोशिका पिण्डी से निर्मित होता है। संरचना की दृष्टि से यह भाग अनुकम्पी तंत्र से भिन्न होता है। क्योंकि अनुकम्पी तंत्रिका तंत्र की भांति इसमें कोशिकापिण्डी की कोई श्रृंखला नहीं होती है।

सहानुकम्पी तंत्र का मुख्यकार्य शरीर के विभिन्न भागों की सक्रियता को कम करके शरीरिक ऊर्जा की बचत करना है। इसका कपालीय भाग आँख की पुतली, लार-ग्रन्थि, तथा हृदय आदि की क्रियाओं को गति प्रदान करता है तथा त्रिक भाग कामेंन्द्रियों तथा मूत्राशय से सम्बन्धित क्रियाएँ करता है।

अतएव यह तंत्र व्यक्ति की पाचन-क्रिया तथा रासायनिक परिवर्तनों पर नियंत्रण रखता है। इसके अधिक सक्रिय होने पर व्यक्ति में सुस्ती, आलस्य एवं शिथिलता आ जाती है।

3.6 सारांश

- तंत्रिका-तंत्र मुनष्य के शरीर में पाये जाने वाले तंत्रिका कोशों का संगठित क्षेत्र है जो वातावरण के साथ अभियोजन स्थापित करने में उसकी सहायता करता है।

- तंत्रिका-तंत्र की सबसें छोटी इकाई न्यूरॉन कहलाती है। यह तंत्रिका-तंत्र की संरचनात्मक इकाई है। इसके तीन मुख्य भाग हैं-शिखा तंतु, कोशिका शरीर एवं अक्ष तंतु।
- केन्द्रीय तंत्रिका -तंत्र का निर्माण सुषुम्ना और मस्तिष्क के मिलकर होता है। शरीर के इसी भाग में परिधीय तंत्रिका-तंत्र द्वारा बाहरी उत्तेजनाओं के संवेदी स्नायु-प्रवाह पहुंचते हैं और गति स्नायु-प्रवाह यही से निकलकर प्रभावकों में पहुंचते हैं, तभी व्यक्ति कोई प्रतिक्रिया करता है।
- सुषुम्ना गर्दन से लेकर कमर तक रीढ़ की हड्डी के भीतर केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र के स्नायु-कोशों को लम्बी रस्सी जैसा एक पुंज है।
- मस्तिष्क की रचना अरबों स्नायुओं से हुई है तथा ये परस्पर जाल की तरह फैला हुए होता हैं। इन्ही स्नायुओं द्वारा मस्तिष्क शरीर के निकट से एवं दूर के भागों में संदेश भेजकर विभिन्न अंगों की क्रियाओं को संचालित और नियंत्रित करता है। मानव मस्तिष्क को तीन बड़े भागों में बॉटा गया है- पृष्ठ मस्तिष्क, मध्य मस्तिष्क, अग्र मस्तिष्क|
- मस्तिष्क का सबसे विकसित और सबसे ऊपरी भाग वृहत मस्तिष्क है। इसके दो अर्द्ध खण्ड है- बायाँ तथा दायाँ। दानों अर्द्धखण्डों को महासंयोजक नामक स्नायु-समूह मिलाते हैं।
- वृहत मस्तिष्क का सबसे ऊपरी भाग सेरेब्रल कॉर्टेक्स कहलाता है। यह चार खण्डों में बंटा होता है- अग्रखण्ड, मध्य खण्ड, शंख खण्ड तथा पृष्ठ खण्ड।
- कॉर्टेक्स की तीन प्रधान क्रियाएँ हैं- ज्ञानवाही, गतिवाही एवं साहचर्य।
- मस्तिष्कीय क्रिया के सम्बन्ध में स्थानीकृत सिद्धान्त यह है कि मस्तिष्क के विशेष भाग द्वारा विशेष प्रकार की क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं जबकि सामूहिक क्रिया सिद्धान्त की मान्याता है कि किसी भी क्रिया के सम्पादन में मस्तिष्क सम्पूर्ण रूप से कार्य करता है।
- स्वचालित तंत्रिका-तंत्र का सम्बन्ध व्यक्ति की वैसी क्रियाओं के संचालन एवं नियंत्रण से है जो स्वतः होती है, जिन पर व्यक्ति का न कोई नियंत्रण होता है और न उनके बारे में कोई जानकारी रहती है। इस तंत्रिका-तंत्र के दो भाग हैं-अनुकम्पी एवं सहानुकम्पी तंत्रिका-तंत्र।

3.7 शब्दावली

- **तंत्रिका-तंत्रः** मानव के शरीर में पाये जाने वाले तंत्रिका कोशिकोओं के संगठित तंत्र को तंत्रिका-तंत्र कहते हैं।
- **स्नायु कोश:** तंत्रिका-तंत्र की सबसे छोटी इकाई को स्नायु-कोश कहते हैं। यह तंत्रिका-तंत्र संरचनात्मक इकाई है।
- **संधि-स्थल:** संधि-स्थल वह स्थान है कि जहाँ पर दो स्नायु-कोश या तंत्रिकाएँ आकर मिलती है। यह एक तंत्रिका की अक्ष तंतु तथा दूसरी की शिखा तंतु को मिलने वाली जगह है।
- **महासंयोजक:** वृहत् मस्तिष्क के दानों अर्द्ध-खण्डों को मिलाने वाले ज्ञानवाही एवं गतिवाही तंतुओं के समूह को महासंयोजक कहते हैं।

3.8 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) तंत्रिका-तंत्र की संरचनात्मक इकाई को .... कहते हैं।
2) वह स्थान जहां दो स्नायु-कोश आकर मिलते हैं................. कहलाता हैं|
3) मस्तिष्क का सबसे ऊपरी और सबसे विकसित भाग................. कहलाता है।
4) कॉर्टेक्स की तीन प्रधान क्रियाएँ कौन-कौन सी है?

उत्तर: 1) न्यूरोन 2) संधि-स्थल 3) वृहत् 4) ज्ञानवाही, गतिवाही एवं साहचर्य

3.9 संन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- आधुनिक दैहिक मनोविज्ञान- बनारसीदास त्रिपाठी
- शारीरिक मनोविज्ञान- ओझा एवं भार्गव
- उच्चर सामान्य मनोविज्ञान- डॉ0 अरूण कुमार सिंह- मोतीलाल- बनारसीदास
- साइकोलॉजी (एन इन्ट्रोडक्शन) कगन एवं हैवमैन- हार्कोट ब्रेस, लंदन
- सामान्य मनोविज्ञान- सिन्हा एवं मिश्रा- भारती भवन
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान- सुलैमान एवं खान- शुक्ला बुक डिपो, पटना।

3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. तंत्रिका तंत्र से आप क्या समझते हैं? प्राणी के अभियोजन में इसकी क्या भूमिका है?
2. केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र की संरचना और कार्य पर प्रकाश डालें।
3. सेरेब्रल कॉर्टेक्स की रचना और कार्य समझायें।
4. मस्तिष्क की क्रियाओं के सम्बन्ध में स्थानीकृत एवं सामूहिक क्रिया सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण करें।
5. स्वचालित तंत्रिका-तंत्र की रचना एवं कार्यों का वर्णन करें।
6. टिप्पणी लिखें-

   i) संधि-स्थल ii) सुषुम्ना iii) महासंयोजक iv) सहज क्रिया

इकाई-4 प्रत्यक्षीकरण का स्वरूप, गेस्टाल्टवादी एवं व्यवहारवादी दृष्टिकोण

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 प्रत्यक्षीकरण का स्वरूप

  4.3.1 प्रत्यक्षीकरण की विशेषताएँ

  4.3.2 प्रत्यक्षीकरण में सन्निहित प्रक्रियाएँ

  4.3.3 प्रत्यक्षण तथा संवेदना में अन्तर

4.4 प्रत्यक्षीकरण का गेस्टाल्टवादी दृष्टिकोण

4.5 प्रत्यक्षीकरण का व्यवहारवादी दृष्टिकोण का मूल्यांकन

4.6 गेस्टाल्टवादी एवं व्यवहारवादी दृष्टिकोणों की तुलना

4.7 सारांश

4.8 शब्दावली

4.9 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

4.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

4.11 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

हम सभी किसी-न-किसी वातावरण में रहते हैं। इस वातावरण में उद्दीपकों का भंडार है जो पल-पल हमारी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों को उत्तेजित करते रहते हैं। ज्ञानेन्द्रियों और मस्तिष्क के बीच न्यूरोन्स के द्वारा सम्बन्ध स्थापित है जिसके कारण हमें विभिन्न उद्दीपकों का ज्ञान होता है और हम उद्दीपकों से उत्पन्न संवेदनाओं को अर्थ प्रदान कर पाते हैं। संवेदनाओं को अर्थ प्रदान करने की क्रिया को ही ज्ञान प्राप्ति का आधार मानते हैं, यानी इसे ही पृथक मानसिक प्रक्रिया कहा गया है जो अर्थपूर्ण होता है।

इस इकाई में आप प्रत्यक्षीकरण के अर्थ, इसके स्वरूप, इसकी विभिन्न विशेषताओं एवं प्रत्यक्षीकरण में सन्निहित विभिन्न प्रक्रियाओं के बारे में जान सकेंगे, साथ ही संवेदना और

प्रत्यक्षीकरण में अन्तर, प्रत्यक्षीकरण की व्याख्या हेतु प्रतिपादित सिद्धान्तों आदि से भी भली-भांति अवगत हो सकेंगे।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात आप इस योग्य हो जाएगे कि आप -

- प्रत्यक्षीकरण के अर्थ एवं स्वरूप को स्पष्ट कर सकेंगे।
- प्रत्यक्षीकरण में सन्निहित विभिन्न प्रक्रियाओं को बता सकेंगे।
- प्रत्यक्षीकरण का संवेदना एवं अन्य मानसिक क्रियाओं से अन्तर स्पष्ट कर सकेंगे।
- प्रत्यक्षीकरण के विभिन्न सिद्धान्तों को जान सकेंगे एवं उनकी तुलनात्मक व्याख्या करने में असमर्थ हो सकेंगे।
- प्रत्यक्षीकरण से सम्बद्ध विभिन्न नियमों को बता सकेंगे।

4.3 प्रत्यक्षीकरण का स्वरूप

प्रत्यक्षीकरण व्यक्ति की सम्प्रर्ण मानसिक क्रियाओं का आधार है। यह एक जटिल मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वातावरण में उपस्थित वस्तुओं अथवा घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करता है। यह ज्ञान तात्कालिक होता है, यानी प्रत्यक्षीकरण के द्वारा उन व्यक्तियों, वस्तुओं अथवा परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त होता है जो अभी अर्थात् वर्तमान समय में हमारे समक्ष उपस्थित रहते हैं। इसीलिए इसे उपस्थितिकारी प्रक्रिया भी कहते हैं। इसे 'प्रत्यक्षीकरण' नाम से भी जानते हैं और इसकी पूरी प्रक्रिया को अवगमात्मक प्रक्रिया भी कहते हैं। आइये, अब हम देखें कि यह प्रक्रिया सम्पन्न कैसे होती है?

दरअसल, प्रत्यक्षीकरण संवेदना के बाद की मानसिक क्रिया है, अतः इसमें वे समस्त प्रक्रियाएँ सन्निहित हैं जो संवेदना में निहित होती हैं। किसी उद्दपक का उपस्थित होना, उद्दीपक का ग्राहक-इंद्रिय के सम्पर्क में आना, ग्राहक-तंत्र द्वारा उद्दीपक की सूचना मस्तिष्क के सम्बद्ध क्षेत्र में जाना और फिर उसका आभास-मात्र होना-इतनी प्रक्रिया तो संवेदना में भी होती है। परन्तु, प्रत्यक्षीकरण में इसके बाद प्रक्रिया जारी रहती है, समाप्त नहीं होती। बाद में होने वाली मानसिक प्रक्रिया के फलस्वरूप उपस्थित उद्दीपक का प्रभाव मस्तिष्क के संवेदी क्षेत्र के अतिरिक्त साहचर्य क्षेत्र पर भी पड़ता है। इस प्रभाव के कारण उक्त उद्दीपक से सम्बन्धित पूर्व अनुभव, जो मस्तिष्क में संकेतों के रूप में विद्यमान रहते हैं, भी जागृत हो उठते हैं। साथ ही, भावात्मक या रागात्मक क्रियाएँ भी होती हैं, साहचर्य क्षेत्र में मस्तिष्क की ये क्रियायें संगठित होती हैं, जिसके फलस्वरूप उद्दीपक के संवेदी विवरणों से प्राप्त आभास-मात्र ज्ञान निश्चित एवं सार्थक ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है और इस प्रकार व्यक्ति को उपस्थित उद्दीपक के अर्थ और स्वरूप का प्रत्यक्षण या प्रत्यक्षीकरण होता है।

उदाहरण के तौर पर, जब कोई आवाज उद्दीपक के रूप में उपस्थित होती है (जैसे महाविद्यालय की धण्टी की आवाज) तब कान उसको ग्रहण करता है, फलस्वरूप उसमें स्नायु-प्रवाह उत्पन्न होता है। फिर वह स्नायु-प्रवाह मस्तिष्क के श्रवण-केन्द्र में पहुँचकर उस उद्दीपक का आभास-मात्र कराता है जिससे श्रवण संवेदना उत्पन्न होती है। संवेदना का अनुभव होते ही मस्तिष्क का साहचर्य क्षेत्र उसमें अर्थ जोड़ देता है, यानी विद्यार्थी यह जान लेता है कि आवाज महाविद्यालय की घण्टी की है। इतना ही नहीं, वह यह भी समझ जाता है कि अभी इतना बज चुका है और अमुक विषय की कक्षा है। अब यह संवेदना न होकर आवाज का प्रत्यक्षीकरण हुआ क्योंकि आवाज अब आभास-मात्र नहीं रही, उसमें अर्थ जुड़ गया। अतः प्रत्यक्षीकरण की मानसिक क्रिया को निम्नवत समझा जा सकता है-

1. उद्दीपक की उपस्थिति
2. ज्ञानेन्द्रिय द्वारा उद्दीपक को ग्रहण करना तथा स्नायु-प्रवाहों की उत्पत्ति
3. स्नायु-प्रवाहों का मस्तिष्क के केन्द्र विशेष में पहुँचना
4. एक विशेष प्रकार की संवेदना का अनुभव
5. संवेदना में अर्थ का जुड़ना
6. प्रत्यक्षीकरण

4.3.1 प्रत्यक्षीकरण/अवगम की विशेषताएँ-

प्रत्येक मानसिक क्रिया की कुछ विशेषताएँ होती है जो उसके स्वरूप को निर्धारित करती हैं। इन विशेषताओं के आधार पर ही एक मानसिक क्रिया को दूसरी मानसिक क्रिया से अलग कर पाते हैं। प्रत्यक्षीकरण भी एक जटिल ज्ञानात्मक मानसिक प्रक्रिया है इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ है-

1) **यह एक जटिल मानसिक प्रक्रिया हैं-** इस सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि प्रत्यक्षीकरण में सर्वप्रथम किसी ज्ञानेन्द्रिय (आँख, कान, जीभ, एवं त्वचा) पर कोई उत्तेजना अपना प्रभाव डालती है। फलस्वरूप उत्तेजित ज्ञानेन्द्रियों में तंत्रिका-आवेग बनता है जो संवेदी स्नायु-तंतुओं द्वारा सुषुम्ना से होते हुए मस्तिष्क के ज्ञानात्मक-क्षेत्र में पहुँचता है, तब उस उत्तेजना की संवेदना होती है। उसी समय मस्तिष्क के साहचर्य-क्षेत्र की क्रियाओं से हम उसकी संवेदना से सम्बन्धित सभी पूर्व-अनुभवों का स्मरण करते हैं, उसका अर्थ समझते हैं, तब उसका प्रत्यक्षीकरण होता है। इसके अतिरिक्त बहुत सारी अनुपस्थित वस्तुओं का स्मरण प्रतीकों की सहायता से होता है।
2) **यह एक चयनात्मक प्रक्रिया है-** हमारे दैनिक जीवन में अनेक उत्तेजनाएँ सामने उपस्थित होती हैं। परन्तु हमें प्रत्येक उत्तेजना का प्रत्यक्षण नहीं होता। हमें किसी विशेष उत्तेजना का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और शेष सभी उत्तेजनाएँ प्रत्यक्षीकरण क्षेत्र से बाहर चली जाती हैं। अपनी आवश्यकता, प्रेरणा, अभिरूचि, मनोवृत्ति एवं मानसिक झुकाव के अनुसार हम उन उत्तेजनाओं में से किसी विशेष उत्तेजना को चुनकर उसका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं। जैसे-भूखा व्यक्ति बाजार की अन्य

वस्तुओं में से खाद्य-पदार्थ का चयन कर उसका ज्ञान प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में लेविन,चेन तथा मर्फी ने कुछ बच्चों पर प्रयोग किया। इन लोगों ने देखा कि एक ही चित्र दो समूहों के बच्चों को दो रूपों में दिखायी पड़ा। जिस समूह के बच्चों को भूखा रखा गया था, उन्हें वह चित्र खाने की वस्तु मालूम पड़ी जबकि दूसरे समूह (भरपेट खाये) के बच्चों को वह चित्र निरर्थक मालूम पड़ा। इसके अतिरिक्त, कई मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोग कर प्रत्यक्षीकरण में प्रेरणा के महत्व को बतलाया है। प्रेरणा के कारण ही प्रत्यक्षीकरण का स्वरूप चयनात्मक हो जाता है।

3) **प्रत्यक्षीकरण आकार और पृष्ठभूमि पर आधारित होता है-** किसी भी उत्तेजना का प्रत्यक्षीकरण किसी-न-किसी पृष्ठभूमि पर होता है। जिस उत्तेजना का प्रत्यक्षण होता है उसे आकार कहते हैं और जिस आधार पर उसका प्रत्यक्षण होता है, उसे पृष्ठभूमि कहते हैं। जैसे- आकाश में चांद और तारे आकार हैं और आकाश पृष्ठभूमि है। गेस्टाल्टवादियों के अनुसार उत्तेजना स्वतः आकार के रूप में संगठित हो जाती है। किसी भी आकृति को स्पष्ट और आकर्षक बनाने में पृष्ठभूमि का अधिक महत्व रहता है। पर्यावरण की सभी उत्तेजनाएँ संसजक शक्तियों एवं निरोधक शक्तियों के कारण संगठन के नियमों के अनुसार आपस में संगठित होकर एक आकार बना जाती है। गेस्टाल्टवादियों के अनुसार संगठन के विभिन्न नियमों जैसे- समीपता, समानता, अच्छी आकृति आदि, के द्वारा आकार के निर्माण में सहायता मिलती है। जो वस्तुएँ समीप और समान होती हैं, वे संगठित होकर एक आकार बन जाती हैं। प्रत्यक्षीकरण में इस आकार और पृष्ठभूमि का सम्बन्ध जन्मजात होता है। इस प्रकार किसी भी प्रत्यक्षण के लिए आकार और पृष्ठभूमि का सम्बन्ध आवश्यक है। अतः कह सकते हैं कि जिन वस्तुओं का प्रत्यक्षण होता है, वे किसी-न-किसी पृष्ठभूमि पर आधारित होती हैं।
4) **प्रत्यक्षीकरण समग्र का होता है-** गेस्टाल्टवादियों के अनुसार किसी भी वस्तु का प्रत्यक्षण सम्पूर्ण रूप में होता है, न कि उसके विभिन्न अंशों का। व्यक्ति के अन्दर एक जन्मजात प्रवृत्ति होती है जिससे वह किसी भी वस्तु का प्रत्यक्षण एक इकाई के रूप में करता है। जैसे-टेबुल को हम पहले देखते हैं, तब बाद में उसके चारों पैर और ऊपर की लकड़ी को देखते हैं। इन विद्वानों के अनुसार किसी भी वस्तु को अंशों में बाँटकर देखने से उस वस्तु की अपनी विशेषता नष्ट हो जाती है। इसलिए किसी वस्तु के समग्र रूप का प्रत्यक्षण संगठन की मनोवृत्ति के कारण होता है।
5) **प्रत्यक्षीकरण एक आत्मगत प्रक्रिया है-** प्रत्यक्षीकरण पूर्णतः आत्मगत या वैयक्तिक प्रक्रिया है। यही कारण है कि एक ही वस्तु या उद्दीपक परिस्थिति का प्रत्यक्षण प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग होता है। प्रत्यक्षण पूर्व अनुभूतियों, प्रेरणाओं और मनोवृत्तियों से निर्धारित होता है। पूर्व-अनुभूतियाँ आत्मगत होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति उत्तेजनाओं को पूर्वअनुभूतियों के सन्दर्भ में देखता है। इसीलिए सभी उत्तेजनाओं का अर्थ सभी व्यक्ति एक ही ढंग से नहीं लगाते हैं। इस सम्बन्ध में ब्रूनर तथा गुडमैन ने कुछ धनी और गरीब बच्चों को सिक्के के आकार का चित्र बनाने सम्बन्धी एक अध्ययन किया। इन्होंने पाया कि गरीब बच्चों ने सिक्के का चित्र वास्तविक आकार से बड़ा बनाया और धनी बच्चों ने छोटा चित्र बनाया। इस आधार पर विद्वानों ने कहा कि हमलोग

वस्तुओं को उस रूप में देखते हैं, जैसी कि वास्तव में वे होती हैं बल्कि उसे अपने व्यक्तित्व के अनुसार कहते है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्यक्षीकरण वैयक्तिक स्वरूप का होता है।

6) **प्रत्यक्षीकरण में स्थिरता की विशेषता पायी जाती है-** प्रत्यक्षीकरण की स्थिरता का अर्थ है किसी वस्तु की भौतिक स्थितियों में परिवर्तन होने पर भी उसका प्रत्यक्षीकरण पहले की तरह ही होगा। किसी वस्तु के अनुभव में चार विशेषताएँ होती हैं- वस्तु आकार, वस्तु रूप, वस्तु चमक, एवं वस्तु वर्ण। इन चारों विशेषताओं में स्थिरता के लक्षण पाये जाते हैं। जैसे-किसी वस्तु के दूर हो जाने पर उसकी प्रतिमा छोटी हो जाती है। लेकिन एक विशेष दूरी तक उस वस्तु का अवगमात्मक आकार छोटा नहीं होता। उसी प्रकार, दिन के प्रकाश में रखे हुए कोयले का टुकड़ा काला ही दिखायी पड़ता है। लाल-वर्ण प्रकाश वाले कमरे में रखी हुई हरे रंग की वस्तु हरी ही दिखाई पड़ती है। इन सभी बातों से स्पष्ट है कि उत्तेजनाओं या परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण तंत्रिका तंत्र पर उत्तेजना के भौतिक प्रभाव बदल जाते हैं, परन्तु एक विशेष सीमा तक अनुभव में परिवर्तन नहीं होता है।

4.3.2 प्रत्यक्षीकरण में सन्निहित प्रक्रियाएँ-

प्रत्यक्षीकरण एक जटिल मानसिक क्रिया है। इसमें किसी वस्तु, उत्तेजना या घटना का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। व्यक्ति अपनी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वातावरण में उपस्थित वस्तुओं अथवा घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण ही व्यक्ति की सम्पूर्ण मानसिक क्रिया का आधार होता है। यदि प्रत्यक्षीकरण का विश्लेषण किया जाये तो इसमें अनेक मानसिक प्रक्रियाएँ दिखाई देती हैं।

इन मानसिक प्रक्रियाओं को मुख्य चार भागों में बाँटा गया है-

1. ग्राहक प्रक्रिया
2. प्रतीकात्मक प्रक्रिया
3. भावात्मक प्रक्रिया
4. एकीकरण-प्रक्रिया

1. **ग्राहक प्रक्रिया**- जब हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर किसी उत्तेजना का प्रभाव पड़ता है तो उससे सम्बन्धित ज्ञानेन्द्रिय के ग्राहक कोश उत्तेजित होते हैं। फलस्वरूप उसमें तंत्रिका आवेग बनकर संवेदी स्नायुओं द्वारा कॉर्टेक्स के केन्द्र-विशेष में पहुँचते हैं जहाँ उस उत्तेजना की संवेदना होती है। कॉर्टेक्स के प्रत्येक खंड में साहचर्य क्षेत्र हैं, जहाँ व्यक्ति के पूर्व अनुभव का संस्कार सुरक्षित रहते हैं। इनकी सहायता से हमें उस उत्तेजना का प्रत्यक्षीकरण होता है। जैसे- आँख के द्वारा प्रकाश, कान के द्वारा आवाज, नाक के द्वारा गंध, जीभ के द्वारा स्वाद एवं त्वचा के द्वारा विभिन्न त्वचा सम्बन्धी प्रत्यक्षण होते हैं। इस प्रकार ग्राहक प्रक्रिया के लिए उपयुक्त उत्तेजना एवं ज्ञानेन्द्रियों का होना आवश्यक है। अतः किसी भी प्रत्यक्षण के लिए उपयुक्त उत्तेजना से किसी

ज्ञानेन्द्रिय का उत्तेजित होना आवश्यक है इस प्रकार, ग्राहकेन्द्रिय से प्रारम्भ होकर कार्टेक्स तक होने वाली इस समस्त प्रक्रिया को ग्राहक प्रक्रिया कहते हैं।

2. **प्रतीकात्मक प्रक्रिया-** प्रत्यक्षण में प्रतीकात्मक प्रक्रिया भी पायी जाती है। व्यक्ति को कभी-कभी वर्तमान उत्तेजना या वस्तु का स्मरण अथवा अनुभव होता है, उसे प्रतीकात्मक प्रक्रिया कहा जाता है। प्रतीक से हमें उस उत्तेजना, वस्तु या व्यक्ति का बोध होता है जिनका प्रतीक बनकर वे हमारे सामने आते है। प्रतीकों का सम्बन्ध व्यक्ति के पूर्व-अनुभवों से रहता है। उदाहरणार्थ- जब हम केला देखते है तो अपने पूर्व-अनुभव के कारण हमें उसके गंध, स्वाद एवं रूप की चेतना हो जाती है। इसके अतिरिक्त उन सभी विशेषताओं की चेतना भी हमें होने लगती है, जो विशेषताएँ उस उत्तेजना विशेष में नहीं रहती है। इसे एक अन्य उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। विवाह में मिली अंगूठी से विवाह की बेला याद आती है। इस समय हमारे सभी पुराने साहचर्य प्रत्यक्ष हो उठते हैं-कैसे विवाह हुआ, अंगूठी किसने पहनायी आदि पूर्व-अनुभव उस अंगूठी को देखते ही चेतना में आने लगते हैं प्राचीन खंडहर को देखकर उस समय के राजा की याद आ जाती है। इस प्रकार दैनिक जीवन में ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब प्रतीकों के माध्यम से प्रत्यक्षीकरण होता है।
3. **भावात्मक प्रक्रिया-** मनुष्य के प्रत्येक प्रत्यक्षण के साथ एक भाव अवश्य जुड़ा रहता है। भाव की क्रिया प्रत्यक्षण के तुरंत बाद होती है। जब व्यक्ति को किसी वस्तु का प्रत्यक्षण होता है तब उसके साथ-साथ उसमें सुखद अथवा दुःखद या तटस्थ भाव उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ- मित्र को देखकर खुशी होती है, दुश्मन को देखकर क्रोध या दुःखद भाव उत्पन्न होता है एवं अनजान या अपरिचित व्यक्ति या वस्तु को देखकर न खुशी होती है और न दुःख होता है, बल्कि तटस्थ भाव उत्पन्न होता है। किसी वस्तु या व्यक्ति को देखकर होने वाले भाव का सम्बन्ध व्यक्ति की पूर्व-अनुभूतियों से रहता है। इसे एक उदाहरण के द्वारा समझ सकते हैं। एक माँ उपने पुत्र को देखती है तो वह उसे सुन्दर दिखाई पड़ता है, भले ही उसका पुत्र काला या कुरूप हो, परन्तु माँ के लिए वह सुन्दर ही दिखाई देता है। अतः कह सकते हैं कि जैसा भाव होता है उस वस्तु व्यक्ति या उत्तेजना के प्रति हम वैसी ही प्रतिक्रिया करते हैं।
4. **एकीकरण-प्रक्रिया-** किसी व्यक्ति, वस्तु या उत्तेजना का प्रत्यक्षण एक इकाई रूप में होता है। यही कारण है कि व्यक्ति किसी वस्तु को अलग-अलग भागों में न देखकर एक इकाई रूप में देखता है। यह एकीकरण-प्रक्रिया कॉर्टेक्स की कार्यवाही पर आधारित होती है। मानव मस्तिष्क या कार्टेक्स के अन्दर ऐसी क्रिया होती है कि व्यक्ति किसी भी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण समग्र रूप में करता है। यह क्रिया स्वाभाविक रूप में उत्पन्न होती है। जैसे- किसी टेबुल, कुर्सी, व्यक्ति या अन्य वस्तुओं के अलग-अलग भागों का ज्ञान नहीं होता बल्कि उसकी सम्पूर्णता का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस एकीकरण-प्रक्रिया के कारण व्यक्ति को किसी वस्तु के सम्पूर्ण रूप का ज्ञान होता है।

प्रत्यक्षीकरण में सन्निहित इन चारों प्रक्रियाओं को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। मान लें कि किसी व्यक्ति ने आप को एक सुगन्ध-युक्त गुलाब का फूल दिया। आप इसका विश्लेषण करें तो पायेंगे कि फूल के प्रत्यक्षीकरण में सर्वप्रथम अपने फूल को देखा, फूल को हाथ में रखा तथा उसकी सुगंध का अनुभव किया। इस समय आँख, त्वचा एवं नाक में स्थित ग्राहकों में तंत्रिका-आवेग बना, जो संवेदी तंत्रिकाओं के सहारे मस्तिष्क या कॉर्टेक्स के विभिन्न क्षेत्रों में पहुँचा। यह ग्राहक-प्रक्रिया हुई। इन तीनों प्रकार की ग्राहक कोशिकाओं में उत्पन्न तंत्रिका-आवेग मस्तिष्क के अलग-अलग संवेदी क्षेत्रों में पहुँचा। जैसे-आँख के तंत्रिका-आवेग दृष्टि खंड में गए, त्वचा के आवेग त्वक्-खंड में गए तथा नाक के आवेग घ्राण-खण्ड होते हुए थैलेमस में पहुँचे जिनसे क्रमशः दृष्टि संवेदना, स्पर्श संवेदना तथा घ्राण संवेदना हुई। इतना ही नहीं तंत्रिका-आवेगों ने कॉर्टेक्स में स्थित साहचर्य क्षेत्रों को प्रभावित किया जिसके फलस्वरूप उन उत्तेजनाओं का सही अर्थ मिला। तब अपने उस गुलाब के फूल के रंग, कोमलता एवं सुगन्ध का अनुभव किया।

जब आपको गुलाब के फूल का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है तो इससे सम्बद्ध कुछ घटनाओं का भी स्मरण होने लगता है। यह प्रतीकात्मक प्रक्रिया हुई। जैसे-उस फूल को देखकर उस फुलवारी का स्मरण हो आया जिसमें से एक दिन फूल तोड़ते समय माली की डाँट-फटकार सुननी पड़ी अथवा आपने फूल तोड़कर अपने मित्र को भेंट में दिया, अथवा फूल को देखकर माली मित्र का स्मरण होना प्रतीकात्मक-प्रक्रिया है। इस प्रकार गुलाब के फूल से सम्बन्धित सभी पूर्व अनुभवों का स्मरण होना ही प्रतीकात्मक प्रक्रिया है। साथ ही साथ फूल देखने से आपके अन्दर एक भाव भी उत्पन्न होगा। क्योंकि प्रत्येक स्मरण के साथ कोई-न-कोई भाव अवश्य जुड़ा रहता है। किसी की प्रेमिका ने उसे गुलाब का फूल भेंट में दिया हो तो उसमें सुखद भाव उत्पन्न होगा। यदि फूल देने वाला मित्र अब इस दुनिया में नहीं है तो दुःखद भाव उत्पन्न होगा। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं जिन्हें फूल देखकर किसी भाव का अनुभव नहीं होता है। इस प्रकार प्रत्यक्षीकरण में भावात्मक-प्रक्रिया सन्निहित है। इन तीनों प्रक्रियाओं के अतिरिक्त प्रत्यक्षीकरण में एकीकरण प्रक्रिया भी पायी जाती है। आप उस गुलाब के फूल का प्रत्यक्षीकरण एक इकाई रूप में करते हैं। आपको उस फूल के प्रत्यक्षीकरण में उसकी पंखुड़ियों, रंग, रूप, आकार, गंध एवं स्पर्श का अलग-अलग ज्ञान नहीं होता अपितु उस फूल का एक संगठित अवगमात्मक अनुभव होता है। यह एकीकरण प्रक्रिया कॉर्टेक्स के कारण होती है। इस प्रकार इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि किसी वस्तु, व्यक्ति या उत्तेजना के अवगम या प्रत्यक्षीकरण में ये चारों प्रक्रियाएँ शामिल रहती हैं।

4.3.3 प्रत्यक्षण तथा संवेदना में अन्तर-

प्रत्यक्षण तथा संवेदना दोनों ज्ञानात्मक मानसिक प्रक्रियाएँ हैं लेकिन इन दोनों मानसिक क्रियाओं में अन्तर पाए जाते हैं। संरचनावादी मनोवैज्ञानिक जैसे-वुंट ने संवेदना को ज्ञानात्मक क्रिया की प्रथम अवस्था एवं प्रत्यक्षण को ज्ञानात्मक क्रिया की दूसरी अवस्था कहा। लेकिन गेस्टाल्टवादियों एवं आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य में संवेदना नाम की कोई मानसिक

क्रिया नहीं होती है। गेस्टाल्टवादियों के अनुसार विशुद्ध संवेदना एक मनोवैज्ञानिक-कल्पना है। इनके अनुसार मानव प्राणियों में होने वाली प्रथम एवं साधारण मानसिक क्रिया ही प्रत्यक्षण है। इन दोनों विचारों को ध्यान में रखकर प्रत्यक्षण और संवेदना में निम्नलिखित अन्तर स्पष्ट किए जा सकते हैं-

1. संवेदना में हमें किसी उत्तेजना का आभास मात्र होता है, इसलिए संवेदना को सरलतम मानसिक प्रक्रिया कहा जाता है। जब ज्ञानेन्द्रिय में उत्पन्न तंत्रिका-आवेग मस्तिष्क के संवेदी क्षेत्र में पहुँचता है तो वहाँ होने वाली पहली मानसिक क्रिया संवेदना कहलाती है। परन्तु जब उसी उत्तेजना का आभास अर्थ में परिवर्तित हो जाता है तो उसे प्रत्यक्षण कहते हैं। दूसरे शब्दों में, जब उत्तेजनाएँ मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों में पहुँचकर संगठित होकर एक इकाई रूप धारण करती हैं तो उसे प्रत्यक्षण कहते हैं। अतः प्रत्यक्षण एक जटिल मानसिक प्रक्रिया है, जिसमें कई मानसिक प्रक्रियाएँ शामिल रहती है।
2. संवेदना की क्रियाओं की उत्पत्ति किसी उत्तेजना द्वारा होती है, लेकिन दूसरी ओर प्रत्यक्षण क्रियाओं की उत्पत्ति किसी वस्तु के द्वारा होती है। इसलिए संवेदना में गुण की चेतना होती है और प्रत्यक्षण में किसी वस्तु-विशेष का ज्ञान होता है।
3. संवेदना से किसी वस्तु का निरर्थक या अर्थहीन ज्ञान होता है जबकि प्रत्यक्षण में किसी वस्तु का सार्थक अनुभव होता है। उदाहरण के लिए यदि एक नारंगी लें तो उसके द्वारा हमारे अन्दर अनेक प्रकार की उत्तेजनाएँ उत्पन्न हो सकती हे। जैसे- भूख, रंग, गंध और रस आदि की अलग-अलग उत्तेजनाओं से उत्पन्न आभास को संवेदना कहते हैं। दूसरी ओर, जब ये सभी आभास आपस में संगठित होकर एक निश्चित अर्थ उत्पन्न करते हैं तब हमें सम्पूर्ण नारंगी का अनुभव होता है। इस सार्थक ज्ञान को प्रत्यक्षीकरण कहते हैं।
4. संवेदना की क्रियाएँ केवल बाह्य-उत्तेजनाओं पर निर्भर करती हैं। लेकिन दूसरी ओर प्रत्यक्षण में बाह्-उत्तेजनाओं एवं आन्तरिक मानसिक क्रियाओं, जैसे-व्यक्ति के स्मरण, कल्पना, प्रेरणा, विवेक, पूर्व अनुभव एवं व्यक्तित्व के गुण आदि की प्रधानता रहती है।
5. संवेदना में ग्राहक-प्रक्रियाओं की प्रधानता रहती है। जबकि प्रत्यक्षण में ग्राहक प्रक्रिया के साथ-साथ मस्तिष्क के साहचर्यात्मक क्रियाओं, जैसे- प्रतीकात्मक प्रक्रिया, भावात्मक प्रक्रिया एवं एकीकरण-प्रक्रिया भी शामिल रहती हैं। जैसे- नारंगी को सामने लाया जाता है तो आँखें उसे ग्रहण करती हैं एवं हाथ स्पर्श करता है, तब नारंगी की संवेदना होती है। लेकिन प्रत्यक्षण में सन्निहित मस्तिष्क के सभी साहचर्यात्मक क्रियाओं के फलस्वरूप हमें नारंगी देखने पर उसके रूप, रंग, आकार, गंध एवं स्वाद का स्मरण होता है और नारंगी के सम्पूर्ण अर्थ का ज्ञान हो जाता है।
6. संवेदनाएँ मस्तिष्क के विश्लेषण करने से उत्पन्न होती हैं। लेकिन इसके विपरीत प्रत्यक्षण की क्रियाओं का सम्बन्ध हमारे वास्तविक अनुभव रहता है।

7. संवेदना को अमूर्त तथा प्रत्यक्षण को मूर्त मानसिक प्रक्रिया कहा जाता है। इसका कारण यह है कि सयाने व्यक्तियों में विशुद्ध संवेदना नहीं होती है। सयाने व्यक्ति को जब किसी वस्तु की संवेदना होती है तो उसके साथ उस वस्तु का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। अतः विशुद्ध-संवेदना को एक मनोवैज्ञानिक-कल्पना कहा जाता है जबकि दूसरी ओर बच्चे एवं सयाने सभी व्यक्तियों को प्रत्यक्षण होता है। इसलिए प्रत्यक्षण को मूर्त अनुभव कहा जाता है।

इतनी भिन्नता होते हुए भी दोनों क्रियाओं में अधिक समानता है। संवेदना और प्रत्यक्षण के द्वारा ज्ञान का विकास होता है। कई परिस्थितियों में ये दोनों क्रियाएँ अलग नहीं हो पाती है, जैसे-दृष्टि संवेदना और दृष्टि प्रत्यक्षीकरण, श्रवण संवेदना एवं श्रवण प्रत्यक्षीकरण आदि। अध्ययन करने के दृष्टिकोण से इन दोनों मानसिक क्रियाओं में अन्तर दिख पड़ता है। जैसे- संवेदना का अध्ययन करने में ग्राहकों की रचना एवं कार्यों को देखा जाता है, दूसरी ओर प्रत्यक्षीकरण की क्रियाओं के अध्ययन में मानसिक क्रियाओं पर ध्यान दिया जाता है।

4.4 प्रत्यक्षीकरण का गेस्टाल्टवादी दृष्टिकोण

गेस्टाल्ट स्कूल का जन्म 1912 ई0 में वर्दाईमर द्वारा एक साधारण दृष्टि सम्बन्धी प्रयोग से प्रारम्भ हुआ। कोहलर तथा कॉफ्का उनके प्रयोज्य थे। गेस्टाल्टवादियों ने अवगात्मक प्रपंच के लिए कुछ कल्पनात्मक व प्रत्ययों का व्यवहार किया। इस सिद्धांत की जड़ फाई-प्रपंच अध्ययन में है। वर्दाईमर ने इस प्रयोग में प्रकाश की दो स्थिर रेखाओं को बारी-बारी से एक सेकेण्ड में 15 बार पर्दे पर प्रस्तुत किया। इन दोनों प्रकाश की स्थिर रेखाओं को एक सेकेण्ड में 15 बार जलाया-बुझाया गया। कोहलर और कॉफ्का ने स्थिर रेखाओं को चलती हुई रेखाओं के रूप में देखा, जबकि उत्तेजनाओं (प्रकाश की रेखाओं) में किसी प्रकार की गति नहीं थी। अतः स्थिर उत्तेजनाओं (प्रकाश की रेखाओं) का गति के रूप में भ्रमात्मक अनुभव का होना फाई-प्रपंच के रूप में जाना जाता है। इस प्रकार गेस्टाल्ट सिद्धांत पूर्व स्थापित दो सिद्धांतों, जैसे- संरचनावादी सिद्धांत तथा साहचर्यवादी सिद्धांत का घोर विरोध करता है। संरचनावादी सिद्धांत यह स्वीकार करता है कि संवेदना की छोटी-छोटी इकाइयों से प्रत्यक्षण होता है तथा साहचर्यवादी सिद्धांत प्रत्यक्षण में पूर्व-अनुभूति के महत्व को स्वीकार करता है। इन दोनों सिद्धांतों के विरोध में ही गेस्टाल्ट सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया। अतः यह स्पष्ट होता है कि संरचनावादी (वुंट के विचार) विचारधारा से बिल्कुल भिन्न फाई-प्रपंच के प्रयोगात्मक निष्कर्ष प्राप्त हुए जिसमें यह देखा गया कि अनुभव की विशेषताएँ उत्तेजना से निर्धारित नहीं होती, बल्कि उत्तेजना केवल अवगमात्मक प्रक्रिया आरम्भ कर देती है। प्रत्यक्षण की अन्य विशेषताएँ कुछ दूसरी प्रक्रिया और परिस्थिति से निर्धारित होती है। इस प्रयोग के निहितार्थ को निर्धारित करने के क्रम में इस सिद्धांत की रूप रेखा निश्चित की गई। इस सिद्धांत की आधुनिक रूपरेखा तैयार करने में कोहलर एवं कॉफ्का, ब्राउन तथा वोथ आदि का नाम प्रमुख है। इन मनोवैज्ञानिकों ने कुछ काल्पनिक संप्रत्ययों को प्रस्तुत किया हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं-

1) **दृष्टिक्षेत्र-** इनका पहला काल्पनिक विचार दृष्टिक्षेत्र है। गेस्टाल्टवादियों के अनुसार प्रत्यक्षीकरण की सभी बातें दृष्टिक्षेत्र की देन हैं। इन्होंने दृष्टिक्षेत्र में इकाई पर जोर दिया है। दृष्टिक्षेत्र के सभी भाग एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं, जिनमें आपस में संगठित होने का गुण रहता है। इन गुणों की तीव्रता में अन्तर रहता है, जिनका स्वरूप गत्यात्मक होता है। दृष्टिक्षेत्र के किसी एक भाग में परिवर्तन होने से सम्पूर्ण संगठन परिवर्तित हो जाता है। दृष्टिक्षेत्र में रहने वाली प्रत्येक उत्तेजना का अर्थ क्षेत्र-संगठन द्वारा निर्धारित होता है। मनुष्य में उत्तेजनाओं को व्यवस्थित एवं संगठित देखने की जन्मजात प्रवृत्ति होती है। अवगमात्मक संगठन में उद्दीपक-अर्थ के लिए सीखने अथवा पूर्व-अनुभूति की अवश्यकता नहीं होती है। ब्राउन तथा बोथ के अनुसार दृष्टिक्षेत्र में एक विशिष्ट बनावट होती है, जिसकी सहायता से दृष्टि अनुभव होते हैं। इसे ही गेस्टाल्टवादियों ने दैहिक दृष्टिकोण के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कोहलर ने इसे क्रियात्मक-दैहिक-प्रक्रिया कहा है। लेकिन कोहलर ने यह नहीं बताया कि मस्तिष्क के किस भाग से गत्यात्मक क्रिया होती है। कोहलर का विचार है कि सम्पूर्ण मस्तिष्क में क्षेत्र जैसी क्रिया होती है। इसके अनुसार क्रियात्मक-दैहिक-प्रक्रिया के बीच समानान्तर जैसा सम्बन्ध है- जिसकी व्याख्या समरूपता के नियम के आधार पर की गई है।

2) **समरूपता के नियम-** कोहलर के अनुसार समरूपता का शाब्दिक अर्थ रूप की समानता है। गेस्टाल्टवादियों के अनुसार उद्दीपक क्षेत्र तथा मस्तिष्कीय क्षेत्र के बीच बराबर का सम्बन्ध रहता है। इस विचार को समरूपता का नियम कहते हैं। इन विद्वानों ने समरूपता का नाम देकर मन तथा शरीर के बीच एक प्रकार का मानसिक समानान्तरण जैसा सम्बन्ध स्वीकार किया है। इनके अनुसार दृष्टिक्षेत्र की वस्तुएँ मस्तिष्कीय क्षेत्र में निरूपित रहती है। दूसरे शब्दों में, भौतिक क्षेत्र मस्तिष्क में अपने समान रूप उत्पन्न नहीं करते, दोनों के बीच अनुकूलता नहीं भी हो सकती है, फिर भी मस्तिष्क उन उत्तेजित बिन्दुओं के बीच एक प्रकार का सम्बन्ध उपस्थित करता है। अतः देखी हुई वस्तुओं में एक इकाई या सम्पूर्ण होने की विशेषता उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ, अगर भौतिक क्षेत्र में तीन बिन्दु हों तो मस्तिष्क में तीन उत्तेजित केन्द्र बनेंगे और इसके साथ ही तीनों उत्तेजित केन्द्रों के बीच एक इकाई जैसी क्रिया भी उत्पन्न होगी। इसीलिए इन तीनों बिन्दुओं को त्रिभुज के रूप में देखते हैं। इसे ही समरूपता का नियम कहते हैं जो इस सिद्धांत की पृष्ठभूमि है। समरूपता को किसी देश और उसके नक्शे के बीच के सम्बन्ध के रूप में देखा जा सकता है।

3) **क्षेत्र शक्तियाँ-** इस सिद्धांत का तीसरा काल्पनिक विचार दृष्टिक्षेत्र की दो शक्तियाँ हैं, जिनके द्वारा क्षेत्र की विभिन्न उत्तेजनाएँ मिलकर एक आकृति का रूप ले लेती हैं। ये दोनों शक्तियाँ हैं- संसंजक शक्तियाँ एवं निरोधक शक्तियाँ संसंजक शक्तियाँ- गेस्टाल्टवादियों का कहना है कि दृष्टिक्षेत्र की जिन उत्तेजनाओं में समानता एवं समीपता होती है, वे एक दूसरे को आकर्षित करके आपस में मिलकर एक आकृति का रूप ले लेती हैं। इसी प्रवृत्ति को संसंजक शक्ति कहते हैं। इन शक्तियों की उत्पत्ति उत्तेजनाओं के स्वरूप से होती है। संसंजक शक्तियों की उत्पत्ति केन्द्रीय सूत्रों

से होती है। इनका कार्य विभिन्न उत्तेजनाओं को आपस में संगठित करना है जो एक आकृति बन जाती है। अतः इसका स्वरूप अवगमात्मक होता है।

निरोधक शक्तियाँ- इनका कार्य उत्तेजनाओं को एक दूसरे से अलग करना है। कोहलर के अनुसार अगर ये निरोधक शक्तियाँ दृष्टिक्षेत्र में नहीं रहती तो सभी उत्तेजनाएँ एक दूसरे से मिल जाती और विभिन्न आकृतियों का निर्माण नहीं करती। इन शक्तियों की उत्पत्ति परिधीय सूत्रों से होती है, जिनका कार्य उत्तेजनाओं को अलग-अलग रखना है और इनका स्वरूप संवेदी होता है।

फाई-प्रपंच के प्रयोग पर विचार करने से इन दोनों शक्तियों की कार्यवाही बहुत ही स्पष्ट हो जाती है। दृष्टिक्षेत्र की जिन प्रक्रियाओं के बीच जितनी अधिक समानता होती है, उनमें संसंजक शक्तियाँ उतनी ही अधिक होती हैं। उसी प्रकार दृष्टिक्षेत्र की प्रक्रियाओं के बीच स्थान तथा समय की जितनी समीपता होती है, संसंजक शक्तियाँ उतनी ही प्रबल होती हैं कॉफ्का के अनुसार यदि संसंजक तथा निरोधक शक्तियाँ एक ही दिशा में कार्य करें तो क्षेत्र संगठन अधिक स्थायी होगा। यदि ये दोनों शक्तियाँ विपरीत दिशा में कार्य करें तो क्षेत्र संगठन बड़ा ही चंचल और अस्थायी होगा। अतः यह कहा जाता है कि संसंजक तथा निरोधक दोनों शक्तियों के बीच अधिक भेद होने से दृष्टिक्षेत्र में अवगमात्मक कार्य के लिए अधिक शक्ति उत्पन्न होती है। यदि दोनों शक्तियों की प्रबलता बराबर है तो अवगमात्मक कार्य की शक्ति का अभाव होगा। अगर संसंजक शक्तियाँ, निरोधक शक्तियों से प्रबल हो तो उत्पन्न आकृति स्थायी होगी। जिस प्रकार गुण एवं मात्रा की समानता तथा समय और स्थान की समीपता को संसंजक शक्तियों का जन्मदाता माना गया है, उसी प्रकार निरोधक शक्तियों की उत्पत्ति का सूत्र इस सिद्धांत में नहीं बताया गया। संसंजक शक्तियाँ वस्तुओं को उनकी जगह से हटाकर एक दूसरे से मिलाने का प्रयास करती है तो उस विस्थापन के प्रयास में निरोधक शक्तियों का जन्म होता है और ये बढ़ती जाती हैं। यहाँ तक कि संसंजक शक्तियाँ निरोधक शक्तियों के बराबर हो जाती हैं। जब दोनों की शक्तियों का बल बराबर होता है तो आकार का निर्माण नहीं होता और जब ससंजक शक्तियों की तुलना में निरोधक शक्तियां बलवान होती हैं तो अस्थिर आकार का निर्माण होता है। लेकिन यदि ऐसा होता तो कभी भी निरोधक शक्तियाँ, संसंजक शक्तियों से प्रबल नहीं होतीं। अतः निरोधक शक्तियों के वर्णन में यह सिद्धांत अधूरा है।

इस सिद्धांत का विश्वास है कि दृष्टिक्षेत्र में तनाव को कम करने की प्रवृत्ति निहित रहती है। कॉफ्का ने संसंजक शक्तियों की तुलना साबुन के झाग से की है। झाग के सभी बुलबुले एक दूसरे से सटे रहते हैं-यह संसंजक शक्ति है। और सभी बुलबुलों का अपना अलग अस्तित्व होता है-यह निरोधक शक्ति है। इन दोनों शक्तियों की अन्तर्किया के फलस्वरूप क्षेत्र की कुछ वस्तुएँ मिलकर एक आकृति का रूप ले लेती हैं और क्षेत्र का शेष भाग पृष्ठभूमि का रूप धारण कर लेता है। अतः आकृति पृष्ठभूमि के ऊपर रखी हुई दिखाई देती है। पृष्ठभूमि आकृति की सम्पत्ति होती है। आकृति की उत्पत्ति या क्षेत्र संगठन के सम्बन्ध में पहले केवल परिधीय नियमों की सहायता ली गयी। जिनके अनुसार क्षेत्र स्वतः विभिन्न नियमों के अनुसार संगठित हो जाता है। उत्तेजनाओं की सार्थकता इसी

जन्मजात संगठन की देन मानी जाती है। यह सिद्धांत अवगमात्मक संगठन को पूर्णतः जन्मजात मानता है। आगे चलकर संगठन के केन्द्रीय नियमों की आवश्यकता का अनुभव किया गया और आज इन नियमों पर अधिक बल दिया जा रहा है। इन दोनों प्रकार के नियमों का उद्देश्य यह बताना है कि किस प्रकार वातावरण की उत्तेजनाएँ समूहीकरण द्वारा पहचानने योग्य आकार बन जाती हैं।

4) संगठन के परिधीय नियम-

i) **समानता का नियम-** जो उत्तेजनाएँ एक-सी होती हैं वे आसानी से एक समूह में शामिल होकर भिन्न उत्तेजनाओं से पृथक एक आकार बन जाती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि आपस में मिलती हुई चीजों का संबंध जल्द स्थापित हो जाता है।

अतः ये उत्तेजनाएँ एक संगठित इकाई के रूप में दिखती हैं अथवा उनका प्रत्यक्षीकरण होता है। उदाहरण के लिए आगे के चित्र देखें-

चित्र ए   चित्र बी

ऊपर के चित्र (ए) में तीन छोटे त्रिभुजों का संगठन हो गया है तथा तीन छोटे वृत्तों का दूसरा संगठन। इस दोनों आकृतियों का प्रत्यक्षीकरण समानता के आधार पर ही एक-दूसरे से भिन्न या पृथक आकृति के रूप में होता है। चित्र (बी) में चूँकि सभी छह वृत एक ही तरह के हैं, इसलिए इनमें कोई अलग-अलग संगठन नहीं होता।

ii) **समीपता का नियम-** जो उत्तेजनाएँ एक साथ पास-पास होती हैं वे दूर-स्थित उत्तेजनाओं की अपेक्षा आसानी से एक समूह में संयुक्त होती हैं। उदाहरण के लिए , पार्श्व की रेखाओं को देखें।

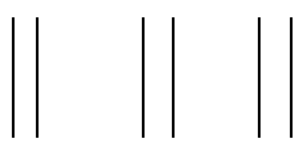

ए ए   बी बी   सी सी

ऊपर के चित्र में 6 लंबी रेखाएँ हैं, लेकिन इनका प्रत्यक्षीकरण सरल लंबी रेखाओं के तीन जोड़ों (क्रमशः एए , बीबी, सीसी) के रूप में होता है। इसका कारण यह है कि रेखा ए और ए ,बी और बी तथा सी और सी के बीच निकटता या समीपता का संबंध है जिससे क्रमशः प्रत्येक निकट

की रेखा ए समूह में संयुक्त होकर अपने से दूर की रेखाओं से पृथक मालूम पड़ती है। लेकिन, रेखाएँ ए और बी, बी और सी तथा ए और सी की पारस्परिक दूरियाँ अधिक रहने के कारण इनका अनुभव समूह रूप में नहीं होता।

iii) **निरंतरता का नियम-** जिन उत्तेजनाओं में निरंतरता रहती है वे समूहित होकर एक आकार बन जाती है। निरंतरता के अभाव में संगठित आकार का बनना संभव नहीं होता। जैसे-नीचे के चित्र में यह बिन्दुओं में उत्तम निरंतरता का ही परिणाम है कि इनका प्रत्यक्षीकरण अँगरेजी के वर्णमाला के रूप में (संगठित आकार) होता है।

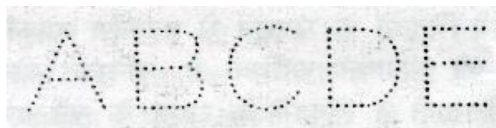

iv) **सुडौलपन या उत्तम आकृति-** सुडौलपन या उत्तम आकृति देखने की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से सबमें पाई जाती है। उत्तम आकार या सुडौलपन से तात्पर्य वस्तु की पूर्णता तथा संतुलन से है। उत्तेजना-क्षेत्र के विभिन्न तत्व जब मिलकर एक ऐसा आकार बना लेते है, जो देखने में अपनी पूर्णता के कारण अच्छा लगता है, तब हमें आसानी से उनका एक इकाई के रूप में प्रत्यक्षीकरण होता है। गेस्टाल्टवादियों के अनुसार किसी भी आकार के रिक्त स्थानों को भरकर उसे पूर्ण इकाई के रूप में देखने की मनुष्यों में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसका कारण यह है कि अपूर्ण आकार मानसिक संतुलन को भंग कर देता है तथा पूर्ण आकार मानसिक संतुलन को बनाए रखता है। इसीलिए , मनुष्य स्वभावतः पूर्ण आकार का ही प्रत्यक्षीकरण करता है। जैसे-नीचे के चित्रों ए और बी में अलग-अलग बाण रेखाएँ हैं। इनमें 'ए' का प्रत्यक्षीकरण एक अच्छी आकृति के रूप में होता है, जबकि चित्र 'बी' का प्रत्यक्षीकरण विकृत आकार के रूप में होता है। अच्छी आकृति बड़ेगी या अनियमित आकृतियों की तुलना में अधिक प्रभावोत्पादक और स्पष्ट होती हैं।

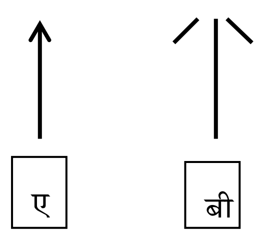

v) **सामान्य दिशा का नियम-** कभी-कभी उत्तेजनाएँ विभिन्न दिशाओं में बिखरी रहती हैं। उनका प्रत्यक्षीकरण हमें दिशा के आधार पर अलग-अलग समूहों में होता है। बगल में प्रदर्शित बिंदुओं से बने चित्रों को देखें। यहाँ बिंदुओं के एक समूह का प्रत्यक्षीकरण धनु के रूप में होता है, जबकि बिंदुओं के दूसरे समूह का प्रत्यक्षीकरण एक सरल रेखा के रूप में। बिंदुओं के समूहीकरण में यह अंतर बिंदुओं की दिशा में भिन्नता होने के कारण है।

vi) **तत्वों के शामिल रहने का नियम-** वैसी आकृतियाँ,जिनमें सभी तत्व शामिल होते हैं उन्हें संगठित आकृति के रूप में प्रत्यक्षीकरण करना आसान होता है बनिस्पत वैसी आकृतियो के जिनके कुछ तत्वों को शामिल नहीं किया जा सकता। सभी तत्वों के मिलने से 'समूहीकरण' अपेक्षाकृत सरल होता है तथा इनसे बनी आकृति भी अधिक स्पष्ट होती है।

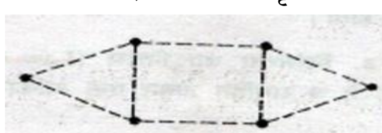

यही कारण है कि ऊपर के सभी बिंदुओं के संगठन से षटकोण आकृति का प्रत्यक्षीकरण होने की संभावना अधिक है, बनिस्पत दोनों किनारों पर के बिंदुओं को हटाकर केवल बीचवाले 4 बिंदुओं के समूह के बने एक वर्ग का प्रत्यक्षीकरण करना। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्षीकरण में आकृति के विभिन्न तत्वों को शामिल करते हुए उनके समूह से बनी आकृति का प्रत्यक्षीकरण करने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

vii) **पूर्णता का नियम-** किसी वस्तु को आकार रूप में संगठित करने की क्रिया में हम उन तत्वों को भी शामिल कर लेते हैं, जो उस वस्तु में विद्यमान नहीं रहते। ऐसा करने से उत्तेजना का संगठन अच्छी एवं स्पष्ट आकृति के रूप में हो सकता है। नीचे चित्र ए तथा बी के क्रमश: तीन व चार रेखाओं से घिरे दो अलग-अलग स्थान हैं, परन्तु इन्हें इस क्रमषः त्रिभुज तथा वर्ग के रूप में देखते हैं।

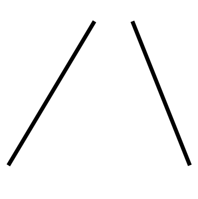

चित्र ए

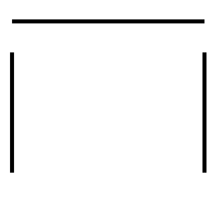

चित्र बी

5) संगठन के केंद्रीय नियम-

i. मानसवृत्ति- उत्तेजना-क्षेत्र में स्थित तत्वों का संगठन या समूहीकरण प्रत्यक्षीकरण करने वाले व्यक्ति की मानसिक वृत्ति या तैयारी पर भी निर्भर करता है। इस वृत्ति के कारण ही संगठन के परिधीय नियमों से प्रोत्साहित न होने पर भी व्यक्ति उसे संगठित आकार के रूप में ही देखने या अनुभव करने का प्रयास करता है। उदाहरण के लिए एक अनिर्मित चित्र को लें इस अनिर्मित चित्र में भी व्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार की वस्तु के आकार का प्रत्यक्षीकरण करता है।

रोर्शा परीक्षण में स्याही के धब्बों वाले कार्डो का प्रयोग कर यह देखा गया है कि व्यक्ति को इन धब्बों में भी विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की आकृतियों का प्रत्यक्ष बोध होता है। मानसवृत्ति का एक दूसरा रूप भी होता है। किसी उत्तेजना को एक रूप में देख लेने के बाद यदि उसमें कुछ परिवर्तन भी हो जाए तो व्यक्ति उसे पहले रूप में ही अनुभव करता है। लीपर ने प्रयोग कर इस तथ्य की पुष्टि की है। उन्होंने प्रयोज्य को एक चित्र दिखाया, फिर उस चित्र का एक परिवर्तित रूप दिखाया। प्रयोज्य को परिवर्तित चित्र भी पहले चित्र के रूप में दिखाई पड़ा।

ii. अर्थगर्भता का नियम- गेस्टाल्टवादियों के अनुसार संगठन के सभी नियमों का उद्देश्य उत्तेजन-परिस्थिति में अर्थगर्भता का अनुभव करना होता है। सुडौलपन अच्छी आकृति पूर्णता, निरंतरता आदि नियमों का भी संबंध अर्थगर्भता से ही है। इस नियम को अर्थ ढूँढने का प्रयास भी कहा जा सकता है। ऐसे प्रयास की प्रवृत्ति सभी मनुष्यों में जन्मजात रूप से पायी जाती है। अर्थगर्भता की यह प्रवृत्ति उत्तेजनाओं में तारतम्य की उपस्थिति से प्रोत्साहित होती है। अतः जिन उत्तेजनाओं में तारतम्य विद्यमान रहता है, उनका संगठन अपेक्षाकृत आसान होता है तथा ऐसे संगठित आकार की स्मृति भी अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होती है।

iii. पूर्व अनुभव- इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि जो उत्तेजना समूहित नहीं होती, उसका प्रत्यक्षीकरण भी व्यक्ति अपने पूर्व अनुभव एवं परिचय की सहायता से समूहित रूप की एक आकृति के रूप में करता है। उदाहरण के लिए नीचे के अक्षर देखें।

यहाँ अँग्रेजी के कुछ अक्षर एक ही साथ हैं और इनके बीच में खाली जगह नहीं हैं। फिर भी, हम इन अक्षरों को अलग-अलग पूर्ण शब्दों के रूप में पढ़ते हैं। इसका प्रधान कारण हमारा पूर्व अनुभव एवं परिचय है।

iv. प्रेरणात्मक नियम- गेस्टालटवादियों ने प्रेरणात्मक अंगों के महत्व को नहीं स्वीकार किया है। फिर भी, ऐसे अनेक प्रमाण मिले हैं जिनसे प्रत्यक्षीकरण में व्यक्ति की प्रेरणा, मूल्य, मनोवृत्ति आदि का महत्व स्पष्ट होता है। व्यक्ति के प्रत्यक्षीकरण पर प्रेरणात्मक अंगों के प्रभावों का विस्तार से वर्णन आगे किया गया है।

6) गेस्टाल्टवाद दृष्टिकोण का मूल्यांकन-

गेस्टाल्टवादियों ने प्रत्यक्षीकरण की व्याख्या हेतु काल्पनिक प्रत्ययों का सहारा लिया है। इन्होंने उत्तेजना क्षेत्र की समरूपता, क्षेत्र संगठन एवं क्षेत्र शक्ति आदि काल्पनिक प्रत्ययों के आधार पर प्रत्यक्षीकरण में होने वाले संगठन की क्रिया का वर्णन किया है। गेस्टाल्टवादियों के ये काल्पनिक प्रत्यय कहाँ तक वैज्ञानिक कसौटी पर सही हैं, इस संबंध में फिलहाल कुछ भी नहीं कहा जा सकता। परंतु, इतनी बात तो तय है कि प्रत्यक्षीकरण के अन्य सिद्धांतों की तुलना में यह सिद्धांत सबसे अधिक कुशल है तथा क्षेत्र शक्ति से संबंधित तथ्यों का परिमाणात्मक अध्ययन भी होने लगा है। इस प्रकार, वैज्ञानिकता की माँगों को पूरा करने की दिशा में मनावैज्ञानिकों का प्रयास जारी है। यह इस सिद्धांत की एक बहुत बड़ी विशेषता है। गेस्टाल्टवादियों ने जिन तथ्यों का वर्णन किया, आज वे गहन अध्ययन और शोध के विषय हैं।

इन गुणों के बावजूद यह सिद्धांत आलोचना का शिकार रहा है। आलोचकों की दृष्टि में इस सिद्धांत की निम्नलिखित प्रमुख त्रुटियाँ हैं-

1. गेस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिकों ने प्रत्यक्षात्मक संगठन में अर्थ, मनोभाव, प्रेरणा, पूर्वशिक्षण आदि प्रमुख कारकों के महत्व को स्वीकार नहीं किया है, जबकि इनके महत्व को सिद्ध करने वाले अनेक प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध है।
2. इस सिद्धांत में शारीरिक प्रक्रियाओं का वर्णन यत्र-तत्र तो किया गया है, किंतु इनकी व्याख्या पूर्ण सफल नहीं हो सकी है।
3. इस सिद्धांत के पक्ष में प्राप्त प्रदत्त अधिकतर दृष्टि क्षेत्र से संबंधित उत्तेजनाओं के प्रत्यक्षीकरण से लिए गए हैं। अतः, दूसरे प्रकार के प्रत्यक्षीकरण की भी व्याख्या यह सिद्धांत कर सकता है या नहीं, यह स्पष्ट नहीं होता। वैसे श्रवण उत्तेजनाओं से उत्पन्न प्रत्यक्षीकरण की कुछ घटनाओं का वर्णन इस सिद्धांत के सहारे दिया जा सकता है, किंतु इसके संबंध में प्रयोगात्मक अध्ययनों की भारी कमी है, अतः निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कहना संभव नहीं हैं।

4.5 प्रत्यक्षीकरण का व्यवहारवादी दृष्टिकोण

व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों ने भी प्रत्यक्षीकरण के संबंध में अपना एक अलग दृष्टिकोण दिया है। हालाँकि व्यवहारवादियों का जितना महत्वपूर्ण योगदान सीखने के क्षेत्र में माना जाता है, उतना प्रत्यक्षीकरण में नहीं। लेकिन, विभेद-शिक्षण संबंधी कुछ प्रयोगों के सहारे इन्होंने उत्तेजना और प्रतिक्रिया के बीच की मध्यवर्ती मानसिक प्रक्रिया का वर्णन करने की कोशिश की है।

व्यवहारवादियों के अनुसार प्रत्यक्षीकरण भी प्रर्णतः सीखा हुआ व्यवहार है। अतः जिन नियमों से हमारे अन्य व्यवहार उत्पन्न होते हैं, उन्हीं नियमों से प्रत्यक्षीकरण की क्रिया भी उत्पन्न होती है। अर्थात, प्रत्यक्षीकरण में भी आदत-निर्माण सामान्यीकरण, अवरोध आदि के नियम काम करते हैं। व्यवहारवादियों का दृष्टिकोण वर्णनात्मक स्वरूप का है। यह प्रत्यक्षीकरण की व्याख्या कम

करता है और वर्णन अधिक, जबकि किसी भी सिद्धांत की व्याख्या के पक्ष पर ही अधिक जोर देना चाहिए।

हल ने इस दृष्टिकोण को सबसे अधिक स्पष्ट किया है। इन्होंने इसे स्पष्ट करने हेतु स्नायुमंडलीय अंतः क्रिया को आधार बनाया है। इनका कहना है कि किसी उत्तेजना के प्रत्यक्षीकरण में उत्तेजना के विभिन्न ज्ञानवाही तत्वों के स्नायुप्रवाह स्नायुमंडल में परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं और इसी प्रतिक्रिया के कारण उत्तेजना का एक प्रतिरूप बनता है। उत्तेजनाओं का प्रत्यक्षीकरण इसी प्रतिरूप के अनुसार होता है।

हल ने इस विचार को विस्तृत करते हुए कहा है कि समय विशेष में स्नायुमंडल में वर्तमान सभी ज्ञानवाही स्नायुप्रवाह परस्पर अंतः क्रिया कर एक-दूसरे को कुछ इस प्रकार बदल देते हैं कि उत्तेजना के संवेदी विचरणों से प्रत्यक्षीकरण भिन्न तरह का होता है क्योंकि इसमें कुछ ऐसे तत्व आ जाते हैं, जो संवेदी विवरणों में नहीं रहते।

व्यवहारवादियों ने अनुबिंब को भी माना है। वे यह स्वीकार करते हैं कि किसी उत्तेजना के हटाए जाने के बाद भी थोड़ी देर तक उस उत्तेजना का प्रभाव उत्तेजन चिन्ह के रूप में स्नायुमंडल में बना रहता है और इन उत्तेजिन चिन्हों के बीच भी पारस्परिक क्रियाएँ होती हैं। यह प्रतिक्रिया दो तरह की होती है- (क) स्थानिक प्रतिक्रिया और (ख) सामयिक प्रतिक्रिया।

वर्तमान उत्तेजना से उत्पन्न विभिन्न ज्ञानवाही प्रवाहों के बीच की क्रिया-प्रतिक्रिया को स्थानिक प्रतिक्रिया कहते हैं और वर्तमान उत्तेजना तथा उनके उत्तेजनाचिन्हों के बीच की पारस्परिक क्रिया को सामयिक प्रतिक्रिया कहते हैं। इन प्रतिक्रियाओं के संबंध में समकालिक विरोध संबंधी उदाहरणों से स्पष्ट प्रमाण मिलता है। जैसे-जब हम लाल और हरे रंगों को ऊपर नीचे या अगल-बगल रखकर देखते हैं तब लाल और अधिक लाल तथा हरा और अधिक हरा दिखाई देता है। इससे स्थानिक प्रतिक्रिया का प्रमाण मिलता है। यहाँ दोनों रंगों की उत्तेजनाओं के ज्ञानवाही स्नायु-प्रवाहों के बीच परस्पर प्रतिक्रिया होती है। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जो प्रतिक्रिया प्रतिरूप बना उसमें कुछ परिवर्तन या बादलाव हो गया, जिससे दोनों रंगों के गुण में परिवर्तन आ गया। इसलिए, रंगों के भौतिक गुण के परिवर्तित रूप का अनुभव होता है, यानी लाल वास्तविकता से अधिक लाल तथा हरा भी वास्तविकता से अधिक हरा प्रतीत होता है। इसी तरह विभिन्न शब्दों के अर्थ पर भी पहले के कहे गए शब्दों का प्रभाव पड़ता हैं, जिससे 'सामयिक प्रतिक्रिया' का उदाहरण मिलता है।

स्नायु-प्रवाहों का पारस्परिक क्रिया के आधार पर ही हल ने उत्तेजना प्रतिरूप की व्याख्या की है। इनके अनुसार, जब उत्तेजनाओं का एक प्रतिरूप बन जाता है तब उससे उत्पन्न प्रतिक्रिया उस प्रतिरूप के किसी भी पृथक उत्तेजना से उत्पन्न होने वाली क्रिया से भिन्न होती है। साथ ही कोई उत्तेजना किसी एक ही प्रतिरूप में रहकर जो क्रिया उत्पन्न करती है, वही उत्तेजना किसी दूसरे

प्रतिरूप में दूसरी क्रिया उत्पन्न करती है। इसका कारण यह है कि एक प्रतिरूप में किसी उत्तेजना का जो प्रकार या गुण रहता है, वह दूसरे प्रतिरूप में बदल जाता है। यही कारण है कि एक ही उत्तेजना विभिन्न प्रतिरूपों में जाकर अलग-अलग क्रियाएँ उत्पन्न करता है। उत्तेजना के इस प्रतिरूपीकरण के आधार पर व्यवहारवादियों का कहना है कि अलग-अलग परिस्थितियों में एक ही उत्तेजना के अर्थ बदलते रहते हैं।

व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों ने अपने उपर्युक्त दृष्टिकोण को प्रमाणित करने हेतु कुछ प्रयोगों का सहारा लिया है। इस संबंध में वुडवरी ने डिक नाम के कुत्ते पर प्रयोग किया। कुत्ते के सामने दो प्रकार के स्वर-ऊँचा स्वर एवं मंद स्वर एक ही साथ प्रस्तुत किया जाता था, जिन्हें सुनकर कुत्ता पिजड़े की छड़ों में भोजन प्राप्त करने हेतु मुँह रगड़ने लगता था- यानी उसमें प्रतिक्रिया उत्पन्न होती थी देखा गया कि जब इन दोनों प्रकार के स्वरों को अलग-अलग प्रस्तुत किया जाता था, तब उस कुत्ते में कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती थी। इससे स्थानिक प्रतिक्रिया के पक्ष में प्रमाण मिलता है। इस प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि उत्तेजना से एक प्रतिरूप बनता है, जिससे प्रतिक्रिया भी निर्धारित होती है। एक दूसरे कुत्ते, जिसका नाम चक था, पर भी प्रयोग कर सामयिक प्रतिक्रिया के संबंध में प्रमाण जुटाया गया। इस प्रयोग में उच्च और मंद स्वरों को सामयिक क्रमानुसार उपस्थित किया जाता था। ऊँचे स्वर के एक सेकंड बाद मंद स्वर उपस्थित किया जाता था। इस क्रमिक व्यवस्था के फलस्वरूप कुत्ते में एक प्रतिरूप बना, जिससे उसने प्रबलित और अप्रबलित उत्तेजनाओं में अंतर करना सीख लिया। स्वरों के इस क्रम में परिवर्तन लाने पर देखा गया कि कुत्ता निष्क्रिय रहता था, यानी उसमें प्रतिक्रिया नहीं होती थी। ऐसा इसलिए हुआ कि समान स्वरूप की उत्तेजनाओं के रहने पर भी उनके क्रम में परिवर्तन किए जाने के कारण प्रतिरूप बदल गया।

पर, यहाँ यह स्मरणीय होना चाहिए कि उपर्युक्त प्रयोग विभेद-शिक्षण पर प्रकाश डालता है, न कि प्रत्यक्षीकरण पर। प्रत्यक्षीकरण तो उत्तेजनाओं के ज्ञानवाही एवं गतिवाही स्नायु-संबंधी क्रियाओं के बीच की यानी मध्यवर्ती मानसिक क्रिया है। अतः प्रत्यक्षीकरण को केवल उत्तेजना-प्रतिक्रिया सूत्र के आधार पर नहीं समझा जा सकता।

ऑसगुड के अनुसार क्रेचेव्स्की एवं लॉरेंस द्वारा किए गए प्रयोग प्रत्यक्षीकरण के संबंध में व्यवहारवादियों के विचारों पर अधिक प्रकाश डालते हैं। इन प्रयोगों में एक विशेष ढंग से उत्तेजना परिस्थिति का अनुभव करना सिखाया गया और तब इस बात की जाँच की गई कि पशु उस परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण कैसे करते हैं।

व्यवहारवादी द्रष्टिकोण का मूल्यांकन -

कट्टर व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों ने हल के दृष्टिकोण पर यह आरोप लगाया है कि उन्होंने अपने विचारों में काल्पनिक प्रत्ययों को स्थान दिया है और प्रतिरूप की चर्चा कर उन्होंने स्पष्ट रूप

से गेस्टाल्टवाद की ओर झुकाव दिखाया है। दूसरी ओर, गेस्टाल्टवादियों का कहना है कि हल मूलरूप से अणुवादी हैं, फिर भी वे चुपके से गेस्टाल्टवादियों के क्षेत्र में प्रवेश कर गए हैं। इस प्रकार, हल से न तो व्यवहारवादी खुश हैं और न गेस्टाल्टवादी। फिर भी, हल के विचारों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जहाँ तक स्नायुमंडल में उत्पन्न पारस्परिक क्रिया की बात है, स्नायु सम्बन्धी अध्ययनों एवं व्यवहार सम्बन्धी अध्ययनों से अनेक ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि स्नायुमंडल में अत्यंत ही जटिल स्वरूप की पारस्परिक क्रियाएँ कभी-कभी ही नहीं, बल्कि नियमित रूप से होती रहती हैं। लेकिन, कठिनाई यह है कि हल इन बातों की चर्चा करके प्रत्यक्षीकरण की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करने में सफल नहीं हो सके है। मात्र इतना कहना कि सभी ज्ञानवाही स्नायुप्रवाहों के बीच पारस्परिक क्रिया होती है- प्रत्यक्षीकरण की व्याख्या के लिए पर्याप्त नहीं है। इसकी व्याख्या के लिए इन प्रतिक्रियाओं की मात्रा को निर्धारित करने वाले नियमों एवं उनके प्रभावों (प्रत्यक्षात्मक एवं व्यवहारात्मक- के संबंध में भी चर्चा की जानी चाहिए थी। हल भी इस कमी से परिचित हैं और उन्होंने 1945 ई0 में पारस्परिक क्रिया के परिमाण-संबंधी अध्ययन की विधि का भी सुझाव दिया है। उनका विश्वास है कि यदि उनके बताए गए मार्ग पर अनुसंधान होते रहे तो इस सिद्धांत को और अच्छी तरह स्पष्ट किया जा सकता है।

4.6 गेस्टाल्टवादी एवं व्यवहारवादी दृष्टिकोणों की तुलना

गेस्टाल्टवादियों ने प्रत्यक्षीकरण की व्याख्या उत्तेजना-परिस्थिति की संपूर्णता के अनुभव के आधार पर की है तथा संपूर्णता का यह अनुभव मस्तिष्क की संगठन क्रिया पर निर्भर करता है। व्यवहारवादियों ने भी उत्तेजनाओं से उत्पन्न ज्ञानवाही स्नायुप्रवाहों के पारस्परिक क्रिया से उत्पन्न प्रतिरूपीकरण को प्रत्यक्षीकरण का आधार माना है। प्रतिरूपीकरण और संगठन लगभग एक ही बातें हें। लेकिन, गेस्टाल्टवादी संगठन में उत्तेजना से संबद्ध तत्वों के महत्व की चर्चा करते हैं, जबकि व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक प्रतिरूपीकरण की क्रिया में उत्तेजनाओं के स्थानिक एवं सामयिक क्रम की महत्ता बताते हैं।

गेस्टाल्टवादियों के अनुसार उत्तेजनाओं के संवेदी विवरण एवं उनसे उत्पन्न प्रत्यक्षात्मक अनुभव एक समान नहीं होते, बल्कि संवेदी विवरणों के संगठन से उत्पन्न अनुभव भिन्न होते हैं। व्यवहारवादियों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। व्यवहारवादियों के अनुसार उत्तेजनाओं से संबंधित ज्ञानवाही स्नायुप्रवाहों के पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जो प्रतिरूप बनता है, वह भिन्न स्वरूप का होता है तथा एक ही उत्तेजना का अनुभव अलग-अलग प्रतिरूप में अलग-अलग होता है।

लेकिन, गेस्टाल्टवादियों एवं व्यवहारवादियों के दृष्टिकोणों में स्पष्ट अंतर भी है। इनके विचारों में मुख्य अंतर निम्नलिखित हैं-

1. व्यवहारवादी और गेस्टाल्टवादी दोनों एक-दूसरे के कट्टर विरोधी तो हैं ही, ये दोनों वुंट और टिचनर के भी कट्टर विरोधी रहे हैं। व्यवहारवादियों ने चेतन अनुभव के अध्ययन करने की परंपरा को मनोविज्ञान के क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया। उनके अनुसार सभी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का अध्ययन व्यवहार के विश्लेषण के आधार पर किया जाना चाहिए। इस विचारधारा में प्रत्यक्षीकरण को भी अन्य व्यवहारों की तरह 'सीखा हुआ व्यवहार' माना गया है।
2. दूसरी ओर गेस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिकों ने वुंट और टिचनर के चेतन अनुभव के अध्ययन की परंपरा का निर्वाह तो किया, लेकिन उन्होंने तत्व-विश्लेषण संबंधी विचारों का खंडन किया। उनकी दृष्टि में अनुभवों के तत्वों का विश्लेषण करने पर उनका कोई अर्थ नहीं रह जाता, वे पूर्णतः अर्थहीन हो जाते हैं। व्यक्ति के अनुभव होते हैं जो तत्वों के संगठन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। अतः प्रत्यक्षात्मक अनुभव संपूर्ण का होता है, न कि उत्तेजनाओं के विभिन्न भागों का।
3. प्रत्यक्षीकरण का व्यवहारवादी दृष्टिकोण वर्णनात्मक अधिक है, व्याख्यात्मक कम। ठीक इसके विपरीत, गेस्टाल्टवादियों का दृष्टिकोण व्याख्यात्मक एवं वर्णनात्मक दोनों है।
4. प्रत्यक्षीकरण के संबंध में व्यवहारवादियों का दृष्टिकोण अस्पष्ट हैं। उन्होंने अपने विचारों के समर्थन में विभेदी-शिक्षण संबंधी कुछ प्रयोगों का सहारा लिया है, लेकिन इन प्रयोगों से प्रत्यक्षीकरण पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। दूसरी ओर गेस्टाल्टवादियों के विचार स्पष्ट हैं तथा इन्होंने अपने सिद्धांत में क्षेत्र-शक्ति, परिवर्तनीय चित्रों का प्रत्यक्षीकरण, आकार और पृष्ठभूमि संगठन के नियम समरूपता का नियम, आदि अनेक ऐसे तथ्यों को प्रकाश में लाया है, जो आजकल वैज्ञानिक अध्ययन एवं शोध के महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं तथा जिनका परिमाणात्मक अध्ययन बड़े पैमाने पर होने लगा है।
5. व्यवहारवादी दृष्टिकोण आणविक है, जबकि गेस्टाल्टवादी दृष्टिकोण इंद्रियग्राह्य या प्रत्यक्ष विज्ञान है। व्यवहारवादी एवं गेस्टाल्टवादी दृष्टिकोणों के उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचना के आधार पर निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि यद्यपि गेस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिक प्रत्यक्षीकरण की व्याख्या में व्यवहारवादियों की अपेक्षा सफल रहे हैं, तथापि व्यवहारवादियों के दृष्टिकोण के संबंध में यदि हल द्वारा बताए गए मार्गों का अनुसरण करते हुए शोध किए जाएँ तो व्यवहारवादी विचारधारा की कुशलता बढ़ सकती है। अतः इस संबंध में अध्ययन एवं शोध की आवश्यकता है।

4.7 सारांश

- प्रत्यक्षीकरण एक जटिल मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वातावरण में उपस्थित वस्तुओं, व्यक्तियों या घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करता है। यह ज्ञान तात्कालिक होता है। प्रत्यक्षीकरण को प्रत्यक्षीकरण या प्रत्यक्षण नाम से भी जाना जाता है।
- प्रत्यक्षीकरण की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं - चयनात्मकता, आकार व पृष्ठभूमि, समग्रता, आत्मगतता, स्थिरता आदि।
- प्रत्यक्षीकरण में चार मानसिक प्रक्रियाएँ पाई जाती हैं - ग्राहक, प्रतीकात्मक, भावात्मक एवं एकीकरण की प्रक्रिया।
- प्रत्यक्षीकरण संवेदना से भिन्न होता है क्योंकि संवेदना प्रथम मानसिक प्रक्रिया है जिसमें उद्दीपक का आभास मात्र होता है उसमें अर्थ नहीं जुड़ता। जब संवेदना में अर्थ जुड़ जाता है तो उसे प्रत्यक्षीकरण की संज्ञा देते हैं।
- प्रत्यक्षीकरण का गेस्टाल्टवादी सिद्धान्त दृष्टि क्षेत्र की शक्तियों के आधार पर आकार और पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में प्रत्यक्षीकरण की व्याख्या करता है जबकि व्यवहारवादी सिद्धान्त प्रत्यक्षीकरण को सीखा हुआ व्यवहार मानते हैं और इसकी व्याख्या आदत निर्माण अवरोध आदि के आधार पर करते हैं।

4.8 शब्दावली

- **प्रत्यक्षीकरण:** प्रत्यक्षीकरण एक जटिल मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वातावरण में उपस्थित वस्तुओं अथवा घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करता है।
- **संसजक शक्ति**: दृष्टि-क्षेत्र की जिन उत्तेजनाओं में समानता एवं समीपता होती है वे एक दूसरे को आकर्षित करके आपस में मिलकर एक आकृति का रूप ले लेती है। उत्तेजनाओं में पायी जाने वाली इसी प्रवृत्ति को संसजक शक्ति कहते हैं।
- **निरोधक शक्ति:** दृष्टि क्षेत्र में व्याप्त वैसी शक्ति जो उत्तेजनाओं को एक-दूसरे से पृथक रखने की प्रवृत्ति रखती हैं, निरोधक शक्ति कहलाती है। इसी शक्ति के कारण पृष्ठभूमि का निर्माण होता है।

4.9 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) जब संवेदना में अर्थ जुड़ जाता है तो उसे .... कहते हैं।
2) प्रत्यक्षीकरण का .... सिद्धान्त इसे एक सीखा हुआ व्यवहार मानता है।
3) दृष्टि क्षेत्र की शक्तियों के आधार पर प्रत्यक्षीकरण की व्याख्या .... सिद्धान्त करता है।
4) दृष्टि क्षेत्र की उत्तेजनाओं की वह शक्ति जो उन्हें आपस में मिलाकर एक आकृति प्रदान करती है .... कहलाती है।

उत्तर: 1) प्रत्यक्षीकरण 2) व्यवहारवादी 3) गेस्टाल्टवादी 4) ससंजक शक्ति

4.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- उच्चतर प्रायोगिक मनोविज्ञान-डा. अरूण कुमार सिंह-मोतीलाल-बनारसीदास
- सामान्य मनोविज्ञान - सिन्हा एवं मिश्रा - भारतीय भवन
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान - सुलैमान एवं खान - शुक्ला बुक डिपो, पटना
- एक्सपेरिमेंटल साइकोलॉजी - कॉलिन्स एवं ड्रेक
- एक्सपेरिमेंटल साइकोलॉजी – ऑएगुड

4.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रत्यक्षीकरण से आप क्या समझते हैं? इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. प्रत्यक्षीकरण को परिभाषित करें। यह संवेदना से किस प्रकार भिन्न है?
3. प्रत्यक्षीकरण में सन्निहित विभिन्न प्रक्रियाओं का उल्लेख करें।
4. प्रत्यक्षीकरण के गेस्टाल्टवादी दृष्टिकोण की व्याख्या करें।
5. प्रत्यक्षीकरण के व्यवहारवादी सिद्धान्त का मूल्यांकन करें।
6. इनमें से प्रत्येक पर लगभग 100 शब्द लिखें -

   (i) क्षेत्र शक्तियां (ii) आकार एवं पृष्ठभूमि

   (iii) समरूपता का नियम (iv) प्रत्यक्षीकरण में विगत अनुभव का महत्व

इकाई-5 प्रत्यक्षात्मक संगठन, प्रत्यक्षीकरण के निर्धारक

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 प्रत्यक्षात्मक संगठन
5.4 प्रत्यक्षीकरण के निर्धारक
5.5 सारांश
5.6 शब्दावली
5.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
5.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
5.9 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया में मस्तिष्क की संगठन क्रिया की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। अध्ययनों से स्पष्ट हुआ है कि प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया उद्दीपक क्षेत्र के स्वतः संगठित होने पर निर्भर करती है जो कि मस्तिष्क की जन्मजात प्रवृत्ति है। मस्तिष्क में इस क्षमता के अभाव में प्रत्यक्षीकरण संभव नहीं है। मस्तिष्क की संगठनात्मक क्षमता के कारण ही किसी उत्तेजना का प्रत्यक्षीकरण एक निश्चित वस्तु की आकृति के रूप में होता है। इसमें दृष्टि-क्षेत्र में पायी जाने वाली क्षेत्र शक्तियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, साथ-ही, प्रत्यक्षीकरण के परिधीय एवं केन्द्रीय नियम उद्दीपक-क्षेत्र की वस्तुओं को समूहित एवं संगठित कर पहचानने योग्य आकार बनाने में सहायक होते हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ ऐसे तत्व या कारक भी होते हैं जो प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं, इन्हें प्रत्यक्षीकरण के निर्धारक के रूप में जानते हैं।

इस इकाई में आप प्रत्यक्षात्मक संगठन के विभिन्न नियमों से तो अवगत होंगे ही, साथ-ही-साथ, प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया को निर्धारित करने वाले विभिन्न कारकों के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो जायेंगे कि आप-

- प्रत्यक्षीकरण एवं प्रत्यक्षात्मक संगठन की पूरी प्रक्रिया को स्पष्ट कर सकें।

- प्रत्यक्षात्मक संगठन के विभिन्न नियमों से अवगत हो सकें।
- प्रत्यक्षात्मक संगठन को प्रभावित करने वाले कारकों की व्याख्या कर सकें।
- प्रत्यक्षीकरण के वैयक्तिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक कारकों निर्धारकों की विवेचना कर सकेंगे।

5.3 प्रत्यक्षात्मक संगठन

गेस्टास्टवादियों ने प्रत्यक्षीकरण के क्षेत्र में फाई-प्रपंच प्रयोग करके प्रत्यक्षीकरण के सम्बन्ध में कई तथ्यों का खुलासा किया जिसमें एक महत्वपूर्ण तथ्य था प्रत्यक्षीकरण में मस्तिष्क की संगठन क्रिया। गेस्टास्टवादियों ने बताया कि प्रत्यक्ष बोध की सार्थकता उद्दीपक क्षेत्र के स्वतः संगठित होने पर निर्भर करती है, जो मस्तिष्क की जन्मजात प्रवृत्ति है। इनके अनुसार प्रत्यक्षीकरण मस्तिष्क की संगठन क्रिया पर ही आश्रित है। मस्तिष्क में इस क्षमता के अभाव में प्रत्यक्षीकरण संभव नहीं है। इस सम्बन्ध में गोल्ड स्टाइल नामक मनोवैज्ञानिक ने अपने अध्ययन के आधार पर एक सटीक उदाहरण प्रस्तुत किया है। एक सैनिक के मस्तिष्क में गोली लगने से चोट आ गई थी। चोट के घाव ठीक हो जाने के बाद उसे जौन शब्द दिया गया। वह सैनिक इस शब्द के विभिन्न अक्षरों (जे. ओ. एच. एन.) को अलग-अलग पढ़ सकता था, परन्तु इन अक्षरों के संगठन से बना शब्द ''जौन'' का उच्चारण नहीं कर सकता था। यानी, उसमें अक्षरों को एकत्र कर समग्र में देखने की क्षमता नष्ट हो चुकी थी। गोल्ड स्टाइल के इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्रत्यक्षीकरण की क्रिया मस्तिष्क के संगठन की प्रवृत्ति पर आश्रित है। सैनिक के मस्तिष्क में गोली लगने के कारण संगठन की क्षमता नष्ट हो गई थी। फलतः उसे 'जौन' शब्द का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सका।

गेस्टाल्टवादियों ने प्रत्यक्षात्मक संगठन में उद्दीपक-क्षेत्र की भूमिका को महत्वपूर्ण माना क्योंकि वातावरण में उपस्थित उद्दीपक ही मस्तिष्क को क्रियाशील करते हैं। प्रत्येक उद्दीपक का अपना उद्दीपक-क्षेत्र होता है जिसमें विभिन्न शक्तियों का गत्यात्मक विवरण रहता है। इसके फलस्वरूप उद्दीपक के सभी अंशों में परस्पर-निर्भरता पायी जाती है। यानी, यदि उद्दीपक-क्षेत्र के किसी एक भाग में परिवर्तन हो जाय तो सम्पूर्ण क्षेत्र की व्यवस्था प्रभावित हो जाती है।

गेस्टाल्टवादियों के अनुसार, प्रत्यक्षीकरण में उद्दीपक-क्षेत्र के विभिन्न भागों के अंतःसम्बन्धों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और इसी सम्बन्ध के कारण उद्दीपक का प्रत्यक्षीकरण एक निश्चित वस्तु की आकृति के रूप में होता है। किसी वस्तु की आकृति के अनुभव को गेस्टाल्टवादियों ने ''गेस्टाल्ट क्वालिटी'' की संज्ञा दी। यानी, प्रत्यक्षीकरण सदा ही संगठित आकृति या आकार का होता है। टेबुल का प्रत्यक्षीकरण, कुर्सी का प्रत्यक्षीकरण आदि में इन उद्दीपकों के विभिन्न भाग आपस में मिलकर एक निश्चित आकृति का रूप ले लेते हैं और तब हम विभिन्न भागों के संगठित हो जाने पर इन्हें टेबुल या कुर्सी के रूप में देखते हैं। इससे यह साबित होता है कि उद्दीपक-क्षेत्र और

उससे उत्पन्न अनुभूति में खास तरह का सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध की व्याख्या गेस्टाल्टवादियों ने ''समरूपता नियम'' के आधार पर की और बताया कि जो सम्बन्ध किसी देश और उसके नक्शे में होता है वही सम्बन्ध उद्दीपक-क्षेत्र और मस्तिष्क-क्षेत्र के बीच होता है। यानी, यदि उद्दीपक-क्षेत्र में चार बिन्दुएँ हैं तो मस्तिष्क में भी प्रत्येक के अनुरूप एक-एक केन्द्र बनेंगे। स्पष्ट है कि उद्दीपक क्षेत्र और मस्तिष्क क्षेत्र के बीच 1:1 का सम्बन्ध होता है। इसे ही समरूपता का सम्बन्ध कहते है- यानी, आकार की समानता का सम्बन्ध। समरूपता नियम के अनुसार यदि उद्दीपक-क्षेत्र में चार भुजाओं से घिरा क्षेत्र है तो मस्तिष्क क्षेत्र में भी चार भुजाओं से घिरा उसी तरह का क्षेत्र उभरेगा तथा यदि उद्दीपक-क्षेत्र में त्रिकोण है तो मस्तिष्क क्षेत्र में भी त्रिकोण ही उभरेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि उद्दीपक-क्षेत्र और उनसे उत्पन्न अनुभव में अनुरूपता होती है। अनुरूपता का मतलब बराबरी से नहीं है, बल्कि देश और उसके नक्शे के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध जैसा है। इसे स्पष्ट करते हुए कोहलर ने कहा कि ''हमारे अनुभव और वातावरण की भौतिक उत्तेजनाओं के बीच बिंदुगत अनुरूपता नहीं रहती, बल्कि हमारे अनुभव एक रूप की सार्थक आकृति के होते हैं और इनकी प्रारंभिक संवेदना और प्रतिभाओं को एक-दूसरे से पृथक या अलग नहीं किया जा सकता। अतः मनोवैज्ञानिकों के लिए संवेदी तत्वों का अध्ययन लाभकारी नहीं हैं।

उद्दीपक-क्षेत्र के सम्बन्ध में गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों के उपर्युक्त मत से स्पष्ट है कि वातावरण में उपस्थित उद्दीपक हमारे अनुभवों से पूर्णरूपेण नहीं मिलते, बल्कि वातावरण से प्राप्त उद्दीपकों के संवेदी प्रदत्तों के संगठन से जो अनुभव होता है वह भिन्न आकृति के रूप में होता है जिसकी अभिव्यक्ति व्यक्ति अपने व्यवहार में प्रत्यक्षीकरण की क्रिया के रूप में करता है।

हमारे मस्तिष्क में संगठन की क्रिया कैसे होती है इसकी व्याख्या के लिए गेस्टाल्टवादियों ने दो प्रकार की क्षेत्र-शक्तियों की कल्पना की-ससंजक शक्ति एवं प्रतिरोधक या निरोधक शक्ति। ससंजक शक्ति एक ऐसी शक्ति है जिसके कारण उद्दीपक-क्षेत्र में उपस्थित समान उद्दीपक एक-दूसरे को आकर्षित करके आपस में मिल जाने की प्रवृत्ति रखते हैं। ससंजक बलों की उत्पत्ति केन्द्रीय स्रोत से होती है। इसका काम उद्दीपकों को मिलाना है तथा इसका स्वरूप अवगमात्मक होता है। प्रतिरोधक शक्ति एक ऐसी शक्ति है जो उद्दीपकों की भिन्नता से उत्पन्न होती है और उन्हें अलग-अलग रखने का प्रयास करती है। इसकी उत्पत्ति परिधीय स्रोत से होती है। इसकी क्रिया उद्दीपकों का विलगाव है तथा इसका स्वरूप संवेदनात्मक होता है।

ससंजक शक्तियां उद्दीपक-क्षेत्र के अधिकतर अंशों को अपने अधीन कर लेती हैं जिससे उनका एक संगठित आकार बनता है तथा जो अंश इस आकार से बाहर रह जाते हैं, वे उस आकार की पृष्ठभूमि बनते हैं। इसलिए, प्रत्यक्षीकरण में उद्दीपक के आकार का अनुभव सदा ही एक आधार या पृष्ठभूमि पर होता है। यदि उद्दीपक-क्षेत्र से सभी प्रतिरोधक शक्तियां हट जाये तो पृष्ठभूमि का निर्माण नहीं होगा और सभी उद्दीपक एक-दूसरे से मिलकर अस्पष्ट, अर्थहीन और अस्तित्वहीन बन

जायेंगे। इसी प्रकार, यदि उद्दीपक-क्षेत्र से सभी ससंजक शक्तियाँ हट जाये तो उद्दीपक के सभी तत्व एक-दूसरे से विलग होकर आकार हीन हो जायेंगे तथा पृष्ठभूमि में परिणत हो जायेंगे। अतः संगठन की क्रिया में उपर्युक्त दोनों ही शक्तियों का समान महत्व है। इसके बिना न तो आकार और पृष्ठभूमि का निर्माण होगा और न ही प्रत्यक्षीकरण की क्रिया सम्पन्न होगी।

ससंजक एवं प्रतिरोधक शक्तियों की प्रबलता के सम्बन्ध में भी गेस्टाल्टवादियों ने अपने विचार व्यक्त किए और बताया कि इन शक्तियों की प्रबलता उद्दीपकों के बीच समानता तथा समय एवं स्थान सम्बन्धी समीपता द्वारा निर्धारित होती है। जो उद्दीपक परस्पर प्रकार अथवा तीव्रता में जितना ही अधिक समान होगा उनमें एक साथ मिल जाने या सिमटकर एक हो जाने की क्षमता उतनी ही अधिक होगी। इसी प्रकार, जो उद्दीपक समय या स्थान में एक-दूसरे से जितने अधिक समीप होंगे, उनमें भी एक होने की क्षमता उतनी ही अधिक प्रबल होगी। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो उद्दीपक गुण या प्रकार एवं तीव्रता में समान होंगे तथा स्थान और समय में एक-दूसरे के समीप होंगे, वे आपस में संगठित होकर आकार बनायेंगे तथा उद्दीपक-क्षेत्र के शेष भाग उसकी पृष्ठभूमि बन जायेंगे।

उद्दीपक-क्षेत्र में पायी जाने वाली दोनों ही क्षेत्र शक्तियाँ अपनी सापेक्षिक प्रबलता के आधार पर किस प्रकार प्रत्यक्षीकरण का आधार बनती हैं, इसकी गणितीय व्याख्या ब्राउन एवं वॉथ नामक मनोवैज्ञानिकों ने की है। यदि ससंजक शक्तियों का कुल योग $\sum C$ हो तथा प्रतिरोधक शक्तियों का कुल योग $\sum R$ हो तो प्रत्यक्षीकरण की व्याख्या निम्नवत् की जा सकती है-

$\sum C = \sum R$ की स्थिति में प्रत्यक्षीकरण नहीं होगा।

$\sum C > \sum R$ की स्थिति में स्थायी आकार का अनुभव होगा।

$\sum C < \sum R$ की स्थिति में अस्थायी या अस्थिर आकार का अनुभव होगा।

उपर्युक्त गणितीय विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्यक्षीकरण का होना, स्थायी या अस्थायी आकृति का बनना $\sum C$ एवं $\sum R$ के प्रबलता-स्तर अथवा संतुलन पर निर्भर करता है।

प्रत्यक्षात्मक संगठन के नियम-

गेस्टाल्टवादियों ने प्रत्यक्षात्मक संगठन के कुछ नियमों का भी उल्लेख किया। इनमें से कुछ नियम उद्दीपक और उद्दीपक-क्षेत्र से सम्बन्धित हैं जिन्हें प्रत्यक्षात्मक संगठन का परिधीय नियम कहते हैं तथा कुछ नियम व्यक्ति, जो प्रत्यक्षण करता है, से सम्बन्धित हैं जिन्हें केन्द्रीय नियम कहते हैं। इन दोनों प्रकार के नियमों का उद्देश्य यह बताना है कि किस प्रकार वातावरण की उत्तेजनाएँ समूहीकरण द्वारा पहचानने योग्य आकार बन जाती हैं।

i. **परिधीय नियम-** प्रत्यक्षात्मक संगठन के परिधीय नियम वे हैं जो क्षेत्र-शक्तियों या उद्दीपक की विशेषताओं से सम्बन्धित होते हैं। इनमें कुछ प्रमुख नियम निम्नलिखित हैं जिनकी चर्चा गेस्टाल्टवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत की जा चुकी है-

1. समानता का नियम
2. समीपता का नियम
3. निरंतरता का नियम
4. सुडौलपन
5. सामान्य दिशा का नियम
6. पूर्णता का नियम
7. सन्निहितता का नियम

ii. **केन्द्रीय नियम-** केन्द्रीय नियम केन्द्रीय स्नायुमण्डल की कार्यवाही पर आधारित तथा उद्दीपकों पर आरोपित होते हैं। इनका सम्बन्ध केन्द्रीय प्रक्रियाओं से है जो मस्तिष्क में घटित होती हैं। इनके कारण भी उद्दीपक-क्षेत्र की वस्तुएँ समूहित तथा संगठित होती हैं। कुछ महत्वपूर्ण केन्द्रीय नियम निम्नलिखित हैं।

1. मानस वृत्ति
2. अर्थगर्भता का नियम
3. पूर्व अनुभव

(इन नियमों की चर्चा अवगम के गेस्टाल्टवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत की जा चुकी है।)

5.4 प्रत्यक्षीकरण के निर्धारक

पिछले इकाईयों में हमने जाना कि प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया ग्राहक प्रतीकात्मक एवं भावात्मक प्रतिक्रियाओं के उत्पन्न होने के फलस्वरूप होती है। परंतु प्रत्यक्षीकरण केवल इन्हीं प्रतिक्रियाओं पर निर्भर नहीं करता, अपितु कुछ अन्य तत्व या कारक भी इस ज्ञानात्मक मानसिक प्रक्रिया को संभव बनाने में सहयोग करते हैं। ऐसे तत्वों में संवेदी संकेतों की बहुतता, प्रसंग संगठन के कारक, पूर्व अनुभव या शिक्षण, प्रेरणा, मूल्य आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त कुछ सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्वों का भी प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण स्थान होता है।

आइये, हम उन कारकों पर विचार करें जो प्रत्यक्षीकरण या अवगम की प्रक्रिया में निर्धारक की भूमिका निभाते है-

1) **संवेदी संकेतों का बाहुल्य-** प्रत्यक्षीकरण के लिए उपस्थित उत्तेजना से संवेदनात्मक संकेतों का प्राप्त होना अनिवार्य है। यह देखा गया है कि जब किसी वस्तु या घटना के संबंध में एक से अधिक संवेदी संकेत एक साथ प्राप्त होते हैं, तब उस वस्तु या घटना का प्रत्यक्ष ज्ञान शीघ्र और

आसान होता है। जैसे-मान लें आगे दी गई तीन ज्यामितिक आकृतियाँ एक साथ उपस्थित होती हैं। इन तीनों के अलग-अलग रंग और आकार हैं, जैसे एक लाल रंग का त्रिभुजाकार है, दूसरा हरे रंग का वृत्ताकार और तीसरा पीले रंग का आयताकार है। यहाँ इन आकृतियों से दो संवेदी संकेत प्राप्त होते हैं-एक रंगों के संकेत और दूसरा इनके आकारों के संकेत। इन दोनों संकेतों के आधार पर इन आकृतियों का क्रमशः त्रिभुज, वृत्त और आयत के रूप में प्रत्यक्षीकरण होता है। इसी तरह हम जब अपने किसी मित्र को देखते हैं तब एक ही साथ अनेक संवेदी संकेत प्राप्त होते हैं, जैसे-चेहरे की आभा, शरीर का रंग, वाणी या आवाज, बालों का स्टाइल इत्यादि।

इन सभी संकेतों के द्वारा अपने मित्र की पहचान करने, अर्थात प्रत्यक्षीकरण करने में मद्द मिलती है। अतः, प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में प्रायः एक से अधिक संवेदी संकेत प्राप्त होते हैं, जो वस्तुओं की पहचान करने में सहायक होते हैं। ये संवेदी संकेत किसी एक ही ज्ञानेन्द्रिय अथवा एक से अधिक ज्ञानेन्द्रियों के उत्तेजित होने पर भी प्राप्त होते हैं। जैसे- हम किसी फूल को देखते हैं। देखने का काम आँख करती है जिससे रंग, रूप या आकार आदि दृश्य संकेत प्राप्त होते हैं। हम इसे सूँघते हैं, जिससे हमें उसके गंध का संकेत मिलता है। फिर, फूल का सुंदर लगना एक भावात्मक संकेत देता है। ये सभी संकेत फूल की पहचान करने में सहायक होते हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रत्यक्षीकरण की क्रिया उत्तेजनाओं से प्राप्त संवेदी संकेतों के बाहुल्य या अधिकता से निर्धारित होती है।

2) **प्रसंग-** किसी वस्तु या घटना का प्रत्यक्ष बोध प्रसंग पर भी निर्भर करता है। व्यक्ति प्रत्येक वस्तु या घटना को किसी दूसरी वस्तु या घटना के परिप्रेक्ष्य या पृष्ठभूमि में ही देखता या अनुभव करता है। उदाहरणार्थ- लाड़-प्यार देने वाले माता-पिता द्वारा अपने बच्चों के किसी अवांछित या अनुचित व्यवहार के लिए दिए गए दंड का प्रत्यक्षीकरण क्रूर या तटस्थ माता-पिता द्वारा दिए गए दंड से भिन्न रूप में किया जाता है। इस भिन्नता का मुख्य कारण माता-पिता का बच्चे के साथ का संबंध है, जो उनके द्वारा दिए जाने वाले दंड के प्रत्यक्षीकरण में प्रसंग या पृष्ठभूमि का काम करता है। इसी तरह एक औसत विद्यार्थी अच्छे विद्यार्थियों के बीच मंद प्रतीत होगा, लेकिन जब उसी विद्यार्थी की तुलना मंद विद्यार्थियों के प्रसंग में की जाती है, तब वह अच्छा विद्यार्थी प्रतीत होता है। स्पष्ट है कि प्रसंग किसी व्यक्ति या घटना विशेष के प्रत्यक्षीकरण में एक मानदंड अथवा पृष्ठभूमि का काम करता है और उसी के आलोक में हमारा प्रत्यक्षीकरण भी निर्धारित होता है। हेल्सन ने प्रत्यक्षीकरण में प्रसंग के महत्व को अभ्यानुकूलन स्तर सिद्धांत द्वारा स्पष्ट किया है। हेल्सन के अनुसार व्यक्ति किसी वस्तु या घटना को किसी प्रसंग में देखता या अनुभव करता है, जिससे एक स्तरमान का निर्धारण होता है। व्यक्ति इसी स्तरमान के आलोक में किसी वस्तु या घटना को परखने या प्रत्यक्षीकरण करने की कोशिश करता है। जैसे- जब हम किसी वजन के भारी या हल्के अथवा किसी रेखा के बड़ी या छोटी या किसी दूरी के निकट या दूर होने का निर्णय प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर करते हैं, तब हमारा यह निर्णय किसी प्रामाणिक भार, प्रामाणिक रेखा अथवा किसी प्रामाणिक स्थान के प्रसंग में होता है।

प्रत्यक्षीकरण में प्रसंग का प्रभाव दृश्य उत्तेजनाओं के विपर्यय, प्रच्छन्न तस्वीरों में से आकृति का प्रत्यक्षीकरण आदि में स्पष्ट रूप से देखा जाता है। हम अपने दैनिक जीवन में भी यह देखते हैं कि जब हम किसी फिल्म को शुरू से न देखकर बीच से देखना शुरू करते हैं, तब हमें उस फिल्म की घटनाओं का अर्थबोध नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि उससे पूर्व की घटनाओं (प्रसंग) का हमें कोई ज्ञान नहीं रहता।

3) **संगठन के कारक तत्व-** प्रत्यक्षीकरण में संगठन की क्रिया का बहुत अधिक महत्व है। वस्तुतः उपस्थित उत्तेजना के संगठन को ही प्रत्यक्षीकरण कहते हैं। इस संगठन में समानता, समीपता, निरंतरता, अच्छी आकृति आदि तत्वों का सहयोग मिलता है और इनके सहयोग के फलस्वरूप ही उपस्थित उत्तेजना एक संगठित आकार का अनुभव उत्पन्न करती है।
4) **शिक्षण का प्रभाव-** प्रत्यक्षीकरण पर शिक्षण का भी प्रभाव पड़ता है। उत्तेजनाओं के अर्थों का ज्ञान सीखने की क्रिया पर निर्भर करता है। हम नित नई-नई वस्तुओं, घटनाओं या परिस्थितियों के बारे में सीखते हैं। विभिन्न वस्तुओं की पारस्परिक समानताओं एवं विभिन्नताओं का ज्ञान भी हमें शिक्षण क्रिया द्वारा ही होता है और इसी शिक्षण के फलस्वरूप विभिन्न वस्तुओं को अलग-अलग वर्गो में बाँटते हैं, जिससे प्रत्ययों का निर्माण होता है। ये प्रत्यय वर्तमान समय में अनुभव उत्पन्न करने वाली उत्तेजनाओं को सार्थक रूप में अनुभव करने के माध्यम होते हैं। इन्हीं प्रत्ययों की सहायता से वर्तमान अनुभव का वर्गीकरण संभव होता है, जिससे उनमें निश्चित एवं वस्तुगत गुणों का बोध होता है।

प्रत्यक्षीकरण पर शिक्षण-क्रिया के महत्व के संबंध में प्राचीन समय से ही विवाद चला आ रहा है। परंतु, यहां हमारा उद्देश्य इन विवादों की चर्चा करना नहीं है। मूल प्रश्न यह है कि कहाँ तक सीखने की क्रिया उपस्थित उत्तेजनाओं से प्राप्त होने वाली संवेदनाओं से संगठित अनुभव उत्पन्न करने में सहायक होती है? इस संबंध में किए गए प्रयोगों से यह स्पष्ट पता चलता है कि शिक्षण-क्रिया से प्राप्त अनुभवों का वर्तमान समय में प्राप्त होने वाले संवेदी विवरणों को संगठित करने और उन्हें एक खास आकार के रूप में अनुभव करने में स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। इसी शिक्षण-क्रिया के फलस्वरूप हम विभिन्न विषम उत्तेजनाओं में विभेद एवं समान स्वरूप की उत्तेजनाओं में समानता की पहचान तथा उत्तेजना के विभिन्न अंगों के पारस्परिक संबंधों का अनुभव करते हैं, जो प्रत्यक्षीकरण क्रिया के आवश्यक पहलू होते हैं।

इस संबंध में विभेद-शिक्षण संबंधी प्रयोग प्रमाणस्वरूप हैं। सेंडेन के अध्ययन से यह बात अच्छी तरह सिद्ध हुई है कि वस्तुओं की सही पहचान और उनका नामकरण शिक्षण-क्रिया का ही प्रतिफल है। प्रत्ययों के विकास में भी सीखने की क्रिया का महत्व प्रमाणित हुआ है।

एक प्रयोग में लैंडन, युएडा आदि ने पाया कि जन्मांध चूहे या चिंपैजी वृत्त एवं त्रिभुज में भेद करने में असमर्थ थे। कई सप्ताहों तक उन्हें सिखाने के बाद उनमें इसकी समझ आ गई। इस प्रयोग में

यह भी देखा गया कि वातावरण में मामूली परिवर्तन लाए जाने पर सीखा हुआ प्रत्यक्षण भी नष्ट हो जाता है। प्रयोज्य को प्रकाश में आलू, अंडा आदि को पहचानना सिखाया गया। इसके बाद रोशनी का ढंग बदल दिया गया, जिससे वस्तुओं की पहचान करने की क्षमता नष्ट हो गई।

एक प्रयोग में लीपर ने एक युवती और वृद्ध महिला का चित्र बनाया और फिर दोनों से एक मिश्रित चित्र बनाया। इस प्रकार के चित्र को बोरिंग ने सास-बहू का चित्र कहा है। कुछ लोगों को केवल युवती का चित्र दिखाकर मिश्रित चित्र दिखाया गया, जिसमें लगभग सभी प्रयोज्यों को केवल युवती का ही प्रत्यक्षीकरण हुआ। दूसरे प्रयोज्यों को केवल वृद्धा का चित्र दिखाकर मिश्रित चित्र दिखाया। इनमें से 95 प्रतिशत प्रयोज्यों को मिश्रित्र चित्र में वृद्धा की तस्वीर वीर ही दिखाई दी। लेकिन, जिन लोगों को केवल मिश्रित्र चित्र दिखाया गया, उन्हें इस चित्र में - युवती और वृद्धा-दोनों का प्रत्यक्षीकरण होता देखा गया। इन लोगों को जब यह कह दिया जाता है कि इस चित्र में केवल युवती का चित्र है तब उन्हें केवल युवती दिखाई देती थी और जब कह दिया जाता था कि इसमें वृद्धा का चित्र है तब प्रयोज्यों को केवल वृद्धा ही दिखाई पड़ती थी।

इन प्रयोगों से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्यक्षीकरण में निर्देश एवं पूर्व शिक्षण का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

5) **प्रत्यक्षीकरण के वैयक्तिक तत्व-** हमारा प्रत्यक्षीकरण केवल उत्तेजना क्षेत्र की विशेषताओं अथवा शारीरिक प्रतिक्रियाओं पर ही निर्भर नहीं करता, बल्कि प्रत्यक्षीकरण करने वाले व्यक्ति की वैयक्तिक विशेषताओं एवं उसके सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश का भी प्रभाव प्रत्यक्षीकरण पर पड़ता है। व्यक्ति की वैयक्तिक विशेषताओं में (क) आवश्यकता (ख) प्रेरणा (ग) संवेग (घ) मनोवृत्ति (ड.) मूल्य (च) अर्थ आदि को शामिल किया जाता है। इनके अतिरिक्त सामाजिक आदर्श, लोकरीतियाँ, सामाजिक मनोवृत्ति एवं सांस्कृतिक विभिन्नताएँ प्रमुख निर्धारक या कारक तत्व हैं। इनका वर्णन नीचे किया जा रहा है-

(क) आवश्यकता- किसी वस्तु या घटना के प्रत्यक्षीकरण में व्यक्ति की तत्क्षण आवश्यकताओं का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। हम अपनी आवश्यकता के अनुसार किसी चीज को देखते हैं। उदाहरण के लिए- जब दो व्यक्ति एक साथ किसी होटल में जाते हैं, जिसमें एक भूखा है और दूसरा प्यासा तो दोनों का ध्यान होटल में उपलब्ध विभिन्न सामग्री पर एक समान नहीं जाएगा। भूखे व्यक्ति का ध्यान खाद्य पदार्थो पर सबसे पहले जाता है, जबकि प्यासे व्यक्ति का पानी पर।

प्रत्यक्षीकरण पर आवश्यकता के प्रभाव को स्पष्ट करने हेतु ऑसगुड ने अपने व्यक्तिगत अनुभवों का उदाहरण दिया है। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है, ''जिस दफ्तर के पास से मैं प्रतिदिन गुजरता हूँ उस पर 400 डी नंबर लिखा हुआ है। लेकिन, जब कभी मैं भोजन के समय उस तरफ से गुजरता हूँ, मैं उसे नंबर की जगह फूड पढ़ता हूँ।'' इसी तरह, उन्होंने एक दूसरा दृष्टांत भी दिया है। वे आगे लिखते हैं, ''जिस कार को मैं प्रतिदिन ड्राइव करता हूँ, उसके डेश बोर्ड पर 'पहिये की कील'

लिखा हुआ है। लेकिन, जब भी भोजन के समय मैं ड्राइव करता होता हूँ, मैं उसे भुना हुआ मांस का टुकड़ा पढ़ता हूँ।''

ऑसगुड के व्यक्तिगत जीवन के उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति की आवश्यकताएँ उसके प्रत्यक्षीकरण को निर्धारित किया करती है। वस्तुओं से प्राप्त होने वाले संवेदी अनुभव उसकी तत्क्षण की आवश्यकताओं के साँचे में ढल जाते हैं।

(ख) मूल्य- प्रत्यक्षीकरण के निर्धारक तत्वों में वस्तु मूल्य का भी महत्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना मूल्य होता है। वस्तुओं का मूल्य सामान्य और वैयक्तिक दोनों तरह का होता है। एक वस्तु यदि किसी व्यक्ति के लिए मूल्यवान या महत्वपूर्ण हो सकती है, तो वही वस्तु दूसरे के लिए मूल्यहीन या कम मूल्य की हो सकती है। उदाहरणार्थ- रूपए या सिक्कों को लें। एक धनी व्यक्ति के लिए एक रूपया या सिक्का का कोई महत्व नहीं होगा, जबकि वही सिक्का किसी गरीब आदमी के लिए बहुत महत्व रखता है।

वस्तु-मूल्य का प्रभाव प्रत्यक्षीकरण के तीनों पक्षों-चयन, स्थायीकरण और तीक्ष्णीकरण पर पड़ता है। व्यक्ति वातावरण में उपस्थित सभी उत्तेजनाओं का प्रत्यक्षीकरण नहीं करता, बल्कि वह 'चयन' करता है। चयन की क्रिया उत्तेजना विशेष की विशेषता के अतिरिक्त व्यक्ति की पसंद या उसके 'वैयक्तिक मूल्य तंत्र' से प्रभावित होती है। जो चीजें व्यक्ति के लिए अधिक महत्व की होती हैं, उन्हें वह अपने अवधान केंद्र में शीघ्रता से स्थापित कर लेता है, फिर चुने गए वस्तु के प्रत्यक्ष अनुभव को व्यक्ति स्थिर कर लेता है तथा उत्तेजना के कुछ पक्षों पर अपेक्षाकृत अधिक जोर देता है, जिसे तीक्ष्णीकरण कहते हैं। इस प्रकार, वस्तु-मूल्य का प्रभाव प्रत्यक्षीकरण के तीनों पहलुओं पर पड़ता है।

ब्रूनर एवं गुडमैन ने प्रत्यक्षीकरण के दो निर्धारक तत्वों की चर्चा की है- (क) ऑटोक्थेनल एवं (ख) व्यवहार-संबंधी। ऑटोक्थोनल निर्धारकों के अंतर्गत इन्होंने ज्ञानेन्द्रियों एवं स्नायुतंत्र में उत्पन्न होने वाली उत्तेजना की ज्ञानवाही विशेषताओं को शामिल किया है, जबकि व्यवहार-संबंधी निर्धारकों के अंतर्गत प्राणी की सक्रिय अभ्यानुकूलन संबंधी क्रियाओं को रखा है। इन्होंने व्यवहार-संबंधी निर्धारकों में ही वस्तु-मूल्य का महत्वपूर्ण स्थान बताया है और यह पूर्व कल्पना बनाई कि किसी व्यक्ति के लिए जिस वस्तु का मूल्य जितना अधिक होता है, व्यावहारिक निर्धारकों से उसके संगठित होने की संभावना उतनी ही अधिक होती है। इनके अनुसार व्यवहार-संबंधी निर्धारकों से होने वाले संगठन के तीन पक्ष होते हैं-चयन, स्थायीकरण एवं तीक्ष्णीकरण। ब्रूनर एवं गुडमैन ने तीसरे पक्ष यानी तीक्ष्णीकरण पर विशेष जोर दिया है और अपने प्रयोग द्वारा प्रत्यक्षात्मक संगठन के इस पक्ष पर मूल्य के प्रभाव को प्रदर्शित किया। इनका प्रयोग इस प्रकार है-

सामान्य बुद्धि के 30 बच्चे चुने गए। इनमें 10 बच्चे अमीर परिवार के, 10 बच्चे गरीब परिवार के और शैष 10 बच्चे अमीर और गरीब वर्गो में बँटे हुए नहीं थे। एक पर्दे पर प्रकाश वृत्त को

प्रक्षेपित करने की व्यवस्था की गई, जिसके आकार को आवश्यकतानुसार एक नॉव की सहायता से घटाया-बढ़ाया जा सकता था। प्रयोज्यों को पहले इसका इस्तेमाल सिखाया गया। इसके बाद प्रयोज्यों को अपने-अपने स्मरण से विभिन्न प्रकार के सिक्कों के आकार के प्रकाश वृत्त बनाने (पर्दे पर प्रक्षेपित करने) को कहा गया। तत्पश्चात दोनों प्रयोगात्मक समूह (अमीर एवं गरीब बच्चों के समूहों) के बच्चों की हथेली में वास्तविक सिक्के दिए गए तथा उन्हें इन सिक्कों का अवलोकन कर ठीक उसी आकार के प्रकाश वृत्त बनाने को कहा गया। नियंत्रित समूह (जो अमीर और गरीब वर्गो में बँटे हुए नहीं थे) के बच्चों की हथेली में वास्तविक सिक्कों के आकारों के बने कार्ड बोर्ड के नमूने दिए गए थे।

प्रयोज्यों द्वारा बनाए गए सिक्कों के आकारों में प्राप्त अंतर को प्रयोज्यों के प्रत्यक्षीकरण-संबंधी वस्तुगत प्रदत्त के रूप में संग्रह किया गया और उनका प्रतिशत निकालकर परिणाम प्राप्त किए गए। इस प्रयोग से प्राप्त परिणामों में देखा गया कि-

1. सभी बच्चों ने वास्तविक सिक्कों की उपस्थिति में उनके बढ़ते हुए मान यानी मूल्य के अनुसार सिक्कों के आकारों का अत्यांकन किया। जैसे प्रयोज्यों ने 10 पैसे के सिक्के का आकार वास्तविक आकार से बड़ा बनाया। चवन्नी का आकार उससे भी बड़ा, अठन्नी का आकार और भी बड़ा बनाया आदि। इस प्रकार, सिक्कों के वास्तविक आकारों और प्रयोज्यों द्वारा बनाए गए आकारों में महत्वपूर्ण अंतर पाया गया। लेकिन, सबसे बड़े मानवाले सिक्के के आकार में ऐसी बात नहीं देखी गयी। इसका कारण यह था कि सर्वाधिक मान वाले सिक्के प्रायः बच्चों को उपलब्ध नहीं होते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में ऐसे सिक्के बहुत अधिक मूल्यवान नहीं होते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि जिन सिक्कों का सामाजिक मूल्य जितना अधिक होता है, उसका प्रत्यक्षीकरण भी बढ़े हुए आकार के रूप में होता है।
2. यह भी देखा गया कि गरीब परिवार के बच्चों ने अमीर परिवार के बच्चों की तुलना में सिक्कों के आकार बड़े बनाए और यह प्रवृत्ति सिक्कों के बढ़ते हुए मान के अनुसार बढ़ती गई। इसका कारण यह था कि गरीब बच्चों के लिए छोटे-से-छोटे सिक्के भी अधिक मूल्यवान होते हैं क्योंकि उन्हें इनकी आवश्यकता अधिक होती है।
3. इस प्रयोग में यह भी देखा गया कि सिक्कों की अनुपस्थिति में गरीब बच्चों का अत्यांकन घट गया।

इस प्रयोग से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुओं के मूल्य के अनुसार उनके आकारों को आँकने या निरीक्षण करने की प्रवृत्ति होती है। अतः वस्तु-मूल्य प्रत्यक्षीकरण की क्रिया का एक प्रमुख वैयक्तिक कारक तत्व होता है।

(ग) वस्तु के प्रतीकात्मक अर्थ का प्रभाव- प्रत्येक वस्तु का एक प्रकट अर्थ होता है। यह अर्थ सार्वजनिक, अर्थात सबके लिए समान होता है। लेकिन, वस्तुओं के अप्रकट अर्थ भी होते हैं,

जो व्यक्तिगत और प्रतीकात्मक स्वरूप के होते हैं। वस्तुओं के ये प्रतीकात्मक अर्थ कुछ दूसरी बातों की ओर संकेत करते हैं। वस्तुओं के प्रतीकात्मक अर्थो को संकेत मूल्य की संज्ञा दी जाती है। वस्तुओं के अप्रकट वैयक्तिक अर्थ भी व्यक्ति विशेष के लिए धनात्मक अथवा निषेधात्मक महत्व रखते हैं और व्यक्ति उस उत्तेजना का प्रत्यक्षीकरण इन धनात्मक या निषेधात्मक स्वरूप के व्यक्तिगत अर्थो के संदर्भ में करता है। इस तथ्य की पुष्टि करने हेतु पोस्टमैन और ब्रूनर ने एक प्रयोग किया। इन्होंने तीन तरह के प्रतीकात्मक चिन्हों या संकेतों का उपयोग किया। प्रयोज्यों की हथेली में बराबर-बराबर आकार की प्लास्टिक तख्तियों पर बने डॉलर, स्वस्तिक और ज्यामितिक आकृतियाँ दी गई और उन्हें ब्रूनर तथा गुडमैन द्वारा उपयोग में लाए गए उपकरण की सहायता से पर्दे पर प्रकाशवृत प्रतीकों को बनाने को कहा गया। डॉलर अमेंरिका का सबसे बड़ा सिक्का है, जिसे सभी अमेंरिकन चाहते हैं। अतः, इसका सांकेतिक मूल्य धनात्मक स्वरूप का होता है। स्वस्तिक हिटलर का राष्ट्रीय चिन्ह है, जिससे सभी अमेंरिकन घृणा करते हैं। यह चिन्ह किसी भयावह या घातक परिस्थिति की आशंका को उत्पन्न करता है। अतः, इस प्रतीक का सांकेतिक मूल्य निषेधात्मक है। जयामितिक आकृतियाँ न तो धनात्मक मूल्य की है और न निषेधात्मक मूल्य की। प्रयोग में देखा गया कि प्रयोज्यों ने डॉलर और स्वस्तिक दोनों के प्रकाशवृत्त को तटस्थ उत्तेजना, अर्थात ज्यामितिक आकृतियों की तुलना में बड़े आकार का देखा। इससे यह स्पष्ट होता है कि तटस्थ सांकेतिक मूल्यों वाली उत्तेजनाओं की तुलना में धनात्मक या निषेधात्मक उत्तेजनाओं का प्रत्यक्षबोध भिन्न स्वरूप का होता है। डॉलर चूँकि धनात्मक स्वरूप की उत्तेजना है, इसलिए प्रयोज्यों को इसका प्रत्यक्षीकरण बड़े आकार, अर्थात विशेष महत्व के संदर्भ में हुआ। स्वस्तिक निषेधात्मक स्वरूप की उत्तेजना है, किन्तु चूँकि इससे सभी अमेंरिकन घबराते तथा भय खाते हैं, इसलिए इस उत्तेजना का प्रत्यक्षीकरण भी विशेष महत्व के आलोक में हुआ। इसीलिए, इस प्रतीक के प्रकाशवृत का आकार भी वास्तविक आकार से वृहत यानी बड़ा रूप में अनुभव किया गया।

किसी वस्तु के प्रतीकात्मक अर्थ का प्रत्यक्षीकरण पर पड़ने वाले प्रभाव का उदाहरण हम अपने दैनिक जीवन में भी पाते हैं। मान लें, किन्हीं दो व्यक्तियों का आपस में मनमुटाव या झगड़ा हो गया है। ऐसी स्थिति में ये दोनों व्यक्ति एक-दूसरे की मनोवृत्ति अथवा गतिविधियों के बारे में अनिश्चित रहेंगे। इसका प्रभाव उनके प्रत्यक्षीकरण पर भी पड़ेगा। एक दूसरे के बारे में उनके वैयक्तिक प्रतीकात्मक अर्थ में घृणा, शंका आदि के भाव मिश्रित हो जाएँगे और तदनुसार ही वे एक-दूसरे का प्रत्यक्षीकरण भी करेंगे। अर्थात, एक-दूसरे के व्यवहार का प्रत्यक्षीकरण उनके घृणा के भाव, शंका या प्रत्याशी से प्रभावित होगा। इसी तरह, व्यक्ति जब किसी प्रकार की मानसिक दुश्चिता या तनाव या दबावपूर्ण परिस्थिति में रहता है तब उसका प्रत्यक्षीकरण वस्तुगत न होकर वैयक्तिक या आत्मगत हो जाता है। उसके इस प्रत्यक्षीकरण का प्रभाव उसके व्यवहारों में भी प्रकट होता है।

(घ) प्रत्यक्षात्मक सुरक्षा- प्रत्यक्षीकरण के वैयक्तिक निर्धारकों में व्यक्ति विशेष की चयनात्मक सुग्राहिता का भी महत्वपूर्ण स्थान है। प्रायः ऐसा विश्वास किया जाता है कि जो उत्तेजनाएँ वैयक्तिक

मूल्यों के अनुरूप होती हैं, उनकी चयनात्मक सुग्राहिता बढ़ जाती है। अर्थात, वैसी उत्तेजनाएँ शीघ्र ही अवधान-केंद्र में स्थापित हो जाती है। अतः ऐसी उत्तेजनाओं का अनुभव करने की अवसीमा कम रहती है। लेकिन, जो उत्तेजनाएँ वैयक्तिक मूल्यों के प्रतिकूल होती हैं, उनकी सुग्राहिता कम होती है। अतः वैसी उत्तेजनाओं का प्रत्यक्षीकरण आसानी से नहीं होता। फलस्वरूप इस प्रकार की उत्तेजनाओं के अनुभव करने की अवसीमा भी बढ़ जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के वैयक्तिक मूल्यों से प्रतिकूल उत्तेजनाओं का प्रत्यक्षीकरण विफल होता है और इस विफलता को प्रत्यक्षात्मक सुरक्षा कहते हैं।

प्रत्यक्षात्मक सुरक्षा की व्याख्या दूसरे तरह से भी की जा सकती है। मनुष्य के समक्ष जब कोई ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होती है, जिससे उसे खतरा या भय का अनुभव होता है, तब मनुष्य में वैसी उत्तेजनाओं का अनुभव न करने अथवा गलत अनुभव करने की प्रवृत्ति होती है क्योंकि मनुष्य वैसी ही उत्तेजनाओं का प्रत्यक्षीकरण करना चाहता है, जिनसे उसे संतुष्टि, आनंद, आत्मसम्मान आदि का अनुभव होता है। इसका कारण यह है कि घातक या भय उत्पन्न करने वाली उत्तेजनाओं को चेतन केंद्र में आने में व्यक्ति का अचेतन मन अवरोध उत्पन्न करता है। इस तथ्य की पुष्टि पोस्टमैन, ब्रूनर एवं मैक्गिन्नीज आदि के प्रयोग से भी हो जाती है जो इन्होंने 25 प्रयोज्यों पर प्रयोग किए । सबसे पहले प्रत्येक प्रयोज्य के वैयक्तिक मूल्य तंत्र को ऑलपोर्ट-वर्नन-लिंडजे मानदंड के आधार पर उनके छः मूल्यों को क्रमानुसार निर्धारित किया गया हैं ये छः मूल्य थे-

1. सैद्धांतिक
2. आर्थिक
3. सौंदर्यबोधी
4. सामाजिक
5. राजनीतिक
6. धार्मिक

इसके बाद प्रत्येक मूल्य से संबंधित 6-6 शब्द चुने गए और उन्हें टेचिस्टोस्कोप यंत्र के सहारे अनियमित ढंग से दिखाकर प्रयोज्यों को पहचानने को कहा गया। देखा गया कि जो शब्द प्रयोज्यों के अधिकतम मूल्य के थे, उन्हें बहुत ही कम समय में पहचान लिया गया। इस प्रकार, अधिकतम मूल्य वाले शब्दों की पहचान की समय अवसीमा कम और निम्नतम मूल्यों के शब्दों की पहचान की समय अवसीमा अधिक पाई गई। इससे स्पष्ट है कि वैयक्तिक मूल्य के अनुकूल उत्तेजनाओं का प्रत्यक्षीकरण शीघ्रता से होता है, जबकि प्रतिकूल उत्तेजनाओं का प्रत्यक्षीकरण प्रायः विफल रहता है।

कुछ ऐसे भी प्रयोग हुए है, जिनसे पता चलता है कि भयावह उत्तेजनाओं का प्रत्यक्षीकरण बड़े आकार में होता है और साथ-ही-साथ यह भी पता चलता है कि भयावह उत्तेजनाओं की पहचान अवसीमा अधिक होती है। अब पश्न यह उठता है कि उत्तेजना के स्वरूप से परिचित हुए

बिना उसकी पहचान अवसीमा कैसे कम या अधिक हो जाती है। इन प्रयोगों से तो यह अर्थ निकलता है कि व्यक्ति को इन उत्तेजनाओं की पहचान पहले हो गई और तब चूँकि वह उत्तेजना भयावह या आत्मसम्मान को ठेस लगाने वाली प्रतीत हुई, इसलिए उनके बारे में रिपोर्ट देने में विलंब हुआ। इसकी व्याख्या मैकगिन्नीज ने समय विशेष में व्यक्ति की संवेगात्मक अवस्था के आधार पर की है। इनके अनुसार व्यक्ति जिस प्रकार की संवेग की अवस्था (जैसे-क्रोध, भय, प्रेम आदि) में रहता है, उसी के अनुसार वह किसी घटना विशेष का प्रत्यक्षीकरण करता है। इसलिए , जब व्यक्ति डरा हुआ रहता है तब उसे भय उत्पन्न करने वाली उत्तेजनाओं का प्रत्यक्षीकरण होता है, क्रोध की अवस्था में आक्रोशमय परिस्थितियों का ही प्रत्यक्षीकरण होता है। इसे एक उदाहरण द्वारा और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। युद्ध के मैदान में सैनिकों को किसी पेड़-पौधे आदि की छाया भी दुश्मन की छाया मालूम पड़ती है। किसी प्रेमी को कुरूप प्रेमिका भी अति सुंदर मालूम पड़ती है। मैकगिन्नीज ने इसे एक प्रयोग द्वारा प्रमाणित किया है। इन्होंने 8 स्त्री और 8 पुरुष प्रयोज्यों की शब्द-पहचान अवसीमा और उन शब्दों के प्रति प्रयोज्यों की गैलवेनिक स्किन प्रतिवर्त्त को मापा। उत्तेजना के रूप में 7 समाजवर्जित शब्द एवं 11 तटस्थ शब्दों का उपयोग किया गया। देखा गया कि समाजवर्जित शब्दों के प्रस्तुत होते ही गैल्वेनिक स्किन प्रतिवर्त्त बढ़ गया और उनकी पहचान भी देर से हुई। इससे स्पष्ट है कि समाजवर्जित शब्द संवेगात्मक महत्व के होते है, जिसके फलस्वरूप उनकी पहचान अवसीमा अधिक होती है।

प्रत्यक्षात्मक सुरक्षा-संबंधी उपर्युक्त प्रयोगों के परिणाम विवादास्पद भी है। होवेस और सोलोमन ने 1950 ई0 में मैकगिन्नीज के प्रभाव को रद्द कर दिया। इनके अनुसार समाज वर्जित शब्दों की अवसीमा का कम या अधिक होना उत्तेजना से व्यक्ति की पहचान पर निर्भर करता है। जो शब्द जितने सुपरिचित होते हैं, उन्हें उतनी ही शीघ्रता और आसानी से पहचाना जा सकता है। ठीक इसके विपरीत जो शब्द उपयोग में कम हाते हैं वे सुपरिचित नहीं होते अतः उनकी पहचान अवसीमा भी अधिक होती है। समाजवर्जित शब्द लिखित-रूप में या दैनिक बातचीत में प्रायः कम उपयोग में आते है। इसलिए इनके उपयोग की बारंबारता अपेक्षाकृत कम होती है। यही कारण है कि मैक्गिन्नीज के प्रयोग में ऐसे शब्दों की अवसीमा अधिक पाई गई। साथ ही, चूँकि इस प्रयोग में स्त्री और पुरुष दोनों उपस्थित थे, इसलिए संभव है कि स्त्री की उपस्थिति में गंदे शब्दों के प्रत्यक्ष अनुभव को व्यक्त करने में पुरुष प्रयोज्यों ने संकोच किया हो, जिससे उसकी अनुक्रिया विलंबित हुई हो। ऐसी ही संभावना स्त्रियों की अनुक्रिया के संबंध में भी हो सकती है। अतः प्रयोज्यों की रिपोर्टिंग की विश्वसनीयता संदेहास्पद है।

प्रत्यक्षात्मक सुरक्षा-संबंधी उपर्युक्त विरोधी परिणामों के आलोक में यह आवश्यक हो जाता है कि इस संबंध में और भी सुव्यवस्थित अध्ययन किए जाएँ फिर भी इतनी बात तो निश्चित रूप से प्रमाणित होती है कि वैयक्तिक मूल्य, संवेग, मनोवृत्ति आदि वैयक्तिक तत्वों का प्रत्यक्षीकरण की क्रिया पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

6) **सामाजिक कारक-** मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः उसके प्रत्यक्षीकरण पर भी सामाजिक वातावरण से प्राप्त अनुभवों का प्रभाव पड़ता है।

यहाँ निम्नलिखित कारकों की चर्चा करना आवश्यक है-

(क) **सामाजिक आदर्श-** सामाजिक आदर्श प्रत्यक्षीकरण का निर्धारक है। हम किसी वस्तु, व्यक्ति या घटना का प्रत्यक्षीकरण सामाजिक आदर्श के संदर्भ में करते हैं, जैसे-संख्या 13 को कुछ देशों में अशुभ संख्या माना जाता है, इसलिए उन देशों में इसका प्रत्यक्षीकरण किसी अप्रिय या अशुभ घटना के संकेत के रूप में किया जाता है। प्रायः माता-पिता के चेहरे की बनावट और बच्चों के चेहरे की बनावट में कुछ समानता देखी जाती है, लेकिन 'ट्रोब्रियांडर' प्रजाति के लोगों में बच्चों और माता-पिता के चेहरे में समानता रहते हुए भी समानता का अनुभव नहीं होता। मलिनोवस्की ने इसकी व्याख्या करते हुए यह बताया है कि ट्रोब्रियांडर प्रजाति के लोगों में बच्चों और माता-पिता में समानता दिखाई पड़ना बुरा माना जाता है, इसलिए उन्हें समानता दिखाई नहीं पड़ती। अस्तु, स्पष्ट है कि सामाजिक नियम, आदर्श, रीति-रिवाज या परंपरा प्रत्यक्षीकरण की क्रिया को प्रभावित करते हैं।

(ख) **सामाजिक मनोवृत्ति-** सामाजिक मनोवृत्ति भी प्रत्यक्षीकरण को निर्धारित करती है। जिल्लिंग ने एक स्कूल के प्रिय और अप्रिय छात्रों पर एक अध्ययन किया है। इन्होंने इन दोनों समूह के बालकों को अलग-अलग कुछ लिखने को कहा। इन्होंने प्रिय समूह के बालकों को जान-बूझकर गलत लिखने का निर्देश दिया, जबकि अप्रिय समूह के बालकों को सही लिखने का निर्देश। बाद में जब सामान्य लोगों से प्रिय और अप्रिय समूह के छात्रों के काम के विषय में राय ली तो तब देखा गया कि अधिकतर लोगों ने प्रिंय समूह के छात्रों के काम को अच्छा और अप्रिय समूह के छात्रों के काम को खराब बताया। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रिय छात्रों के प्रति सामान्य लोगों की मनोवृत्ति चूँकि अनुकूल थी इसलिए उन्होंने प्रिय छात्रों के कार्य संपादन का प्रत्यक्षीकरण अच्छे निष्पादन के रूप में तथा अप्रिय छात्रों के प्रति प्रतिकूल मनोवृत्ति के कारण उनके कार्य संपादन का प्रत्यक्षीकरण खराब निष्पादन के रूप में किया।

हम अपने सामान्य जीवन में भी सामाजिक मनोवृत्ति, पूर्वाग्रह आदि का महत्व प्रत्यक्षीकरण में देखते हैं। पूर्वाग्रह के फलस्वरूप ही बुरा कार्य करने वाला भी अच्छा दिखाई पड़ता है और अच्छा कार्य करने वाला भी बुरा दिखाई देता है। जैसे-मान लें 'क' नाम का कोई व्यक्ति गर्मी के मौसम में भूखा रहने और धूप लगने के कारण अचेतावस्था में सड़क के किनारे लेटा हुआ हैं उसके पास से उसका किई परिचित मित्र 'ख' गुजरता है तथा उस लेटे हुए व्यक्ति को देखता है। लेकिन, पहले से वह जानता है कि लेटा हुआ व्यक्ति शराब के नशे में प्रायः इसी तरह जहाँ-तहाँ पड़ा हुआ रहता है। इस पूर्वाग्रह के आलोक में वह वर्तमान में भी यह अनुभव करता है कि उसने शराब पी रखी है और उसी नशे में लेटा हुआ है।

7) **प्रत्यक्षीकरण के सांस्कृतिक निर्धारण-** संस्कृति का भी महत्वपूर्ण प्रभाव प्रत्यक्षीकरण पर पड़ता है। इसका सबसे सुंदर उदाहरण हमें आदिम जातियों के लोगों में मिलता है। आदिम जाति के लोगों में एक अद्भुत शक्ति पाई जाती है। इस शक्ति के कारण वे जंगल के बहुत दूर के भाग में भी किसी जानवर को देख लेते हैं। इतनी दूरी पर उपस्थित जानवरों को देखने और पहचानने की इतनी तीक्ष्ण क्षमता अन्य विकसित सभ्यता वाले संस्कृति के लोगों में प्रायः नहीं पाई जाती। यह अंतर आदिम जाति एवं आधुनिक विकसित समाज की संस्कृति में अंतर होने के कारण पाया जाता है।

समाज द्वारा अवरूद्ध या प्रतिबंधित कृत्यों के प्रति हमारी प्रतिक्रियाओं से भी प्रत्यक्षीकरण पर संस्कृति के प्रभाव का स्पष्ट संकेत मिलता है। प्रत्यक्षात्मक सुरक्षा के संदर्भ में ऐसे प्रयोगों की चर्चा की गई है जिनसे यह सिद्ध हुआ कि समाज या संस्कृति द्वारा वर्जित क्रियाओं से संबंधित शब्दों का प्रत्यक्षीकरण सुखद एवं तटस्थ शब्दों की अपेक्षा विलम्ब से होता है। अतः स्पष्ट है कि सांस्कृतिक आदर्श, नियम आदि प्रत्यक्षीकरण की क्रिया का निर्देशन करता है और एक विशेष प्रकार की आकृति का रूप देता है। इसीलिए, हमें वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण संस्कृति के आधार पर ही होता है।

8) **सामाजिक संसूचन-** प्रत्यक्षीकरण के सामाजिक-सांस्कृतिक कारक में सामाजिक संसूचन या सलाह का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसके महत्व की व्याख्या के लिए एक प्रयोग का उदाहरण दिया जा सकता है। शेरिफ ने ऑटोकाइनेटिक गति से संबंधित भ्रम पर प्रयोग किया है। यह प्रयोग दो अवस्थाओं में किया गया। प्रयोग की पहली अवस्था में प्रत्येक प्रयोज्य को एक-एक कर अंधेरे कमरे में बुलाया गया और पर्दे पर प्रक्षेपित प्रकाश का एक छोटा-सा वृत्त दिखाया गया। प्रकाश स्थिर था, लेकिन वह घूमता हुआ या चलता हुआ मालूम पड़ता था। प्रयोज्यों को उन्हें देखकर गति की दर का अनुमान लगाना था। दूसरी अवस्था में सभी प्रयोज्यों को एक साथ समूह में प्रकाशवृत्त दिखाया गया तथा उनका अनुमान प्राप्त किया गया। देखा गया कि दोनों अवस्थाओं में प्रयोज्यों ने अपना अनुमान प्रकट करने में गलती की, अर्थात उन्हें भ्रम हुआ। लेकिन, दूसरी अवस्था (सामूहिक अवस्था) की तुलना में पहली अवस्था में (जब प्रयोज्य अकेले में उसे देखते थे) गलतियों की मात्रा अधिक थी तथा प्रयोज्यों द्वारा व्यक्त त्रुटियों की मात्रा में विभिन्नता का प्रसार भी अधिक था। इसका कारण यह था कि सामूहिक अवस्था में सभी प्रयोज्य अपना-अपना अनुमान व्यक्त कर एक-दूसरे को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते थे जिसके फलस्वरूप वे अनुमान में आवश्यक संशोधन करते थे। यह इस बात की ओर संकेत करता है कि अप्रत्यक्ष रूप से पारस्परिक संसूचन द्वारा प्रकाशवृत्त का प्रत्यक्षीकरण प्रभावित हुआ।

विज्ञापनकर्ताओं के विज्ञापनों से भी सामाजिक संसूचन का प्रभाव स्पष्ट होता है। उदाहरणस्वरूप सिगरेट के विज्ञापनों को देखें। सिगरेट निर्माता यह अच्छी तरह समझते हैं कि कौन-

कौन सी ऐसी विशेषताएँ हैं जो ग्राहकों को आकर्षित कर सकती है, जैसे-स्वाद की विशिष्टता, सुगंध, शांत और सुखद प्रभाव इत्यादि कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो धूम्रपान करने वाले व्यक्तियों को अधिक भाती हैं। इसीलिए विज्ञापनकर्ता अपने सिगरेट के विज्ञापनों में इन विशेषताओं का उल्लेख करता है, जो ग्राहकों को उक्त ब्रांड की सिगरेट का चयन करने हेतु संसूचन का काम करती है। मनोवैज्ञानिकों ने कुछ ऐसे प्रयोग भी किए हैं जिसमें प्रयोज्यों की आँखों पर पट्टी बाँधकार दो-तीन अलग-अलग ब्रांड की सिगरेट को स्वाद के आधार पर पहचानने को कहा गया। देखा गया कि बंद आँख की हालत में वे सिगरेट की पहचान करने में विफल रहे। इससे स्पष्ट होता है कि सिगरेट के डब्बे पर संसूचित विशेषताओं या नामों के आधार पर ही उनका प्रत्यक्षीकरण संभव होता है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्षीकरण की क्रिया पर उत्तेजना से संबंधित तत्वों के अतिरिक्त वैयक्तिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्वों के भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ते हैं।

5.5 सारांश

- प्रत्याक्षात्मक संगठन मस्तिष्क की संगठन क्रिया पर आश्रित है जो मस्तिष्क की जन्मजात प्रवृत्ति होती है।
- उद्दीपक क्षेत्र और उनसे उत्पन्न अनुभव में अनुरूपता होती है उसी तरह जैसे किसी देश और उसके नक्शे में होता है।
- प्रत्यक्षात्मक संगठन के दो महत्वपूर्ण नियम हैं- परिधीय एवं केन्द्रीय।
- प्रत्यक्षीकरण के निर्धारकों में संवेदी संकेतों का बाहुल्य, प्रसंग, संगठन के कारक तत्व, शिक्षण के अतिरिक्त वैयक्तिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कारकों की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

5.6 शब्दावली

- **प्रत्यक्षात्मक संगठन:** मस्तिष्क में पायी जाने वाली संगठन की जन्मजात क्षमता के कारण किसी व्यक्ति, वस्तु या घटना का प्रत्यक्षीकरण सदा ही संगठित आकृति के रूप में होना प्रत्यक्षात्मक संगठन कहलाता है।
- **समरूपता नियम:** उद्दीपक क्षेत्र और मस्तिष्क क्षेत्र के बीच 1:1 का सम्बन्ध, जैसा कि किसी देश और उसके नक्शे के बीच पाया जाता है, समरूपता नियम कहलाता है।
- **प्रत्यक्षात्मक सुरक्षा:** व्यक्ति के वैयक्तिक मूल्यों से प्रतिकूल उत्तेजनाओं के प्रत्यक्षीकरण की विफलता को प्रत्यक्षात्मक सुरक्षा कहते हैं। जिन उत्तेजनाओं से व्यक्ति के अहं (इगो) को खतरा या भय होता है, उसकी सुग्राहकता कम हो जाती है और व्यक्ति वैसी उत्तेजनाओं के प्रत्यक्षीकरण से बचना चाहता है।

5.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) समीपता का नियम प्रत्यक्षात्मक संगठन का एक .... नियम है। (परिधीय/केन्द्रीय)
2) मानस वृति प्रत्यक्षात्मक संगठन का एक .... नियम है। (परिधीय/केन्द्रीय)
3) व्यक्ति के वैयक्तिक मूल्यों से प्रतिकूल उत्तेजनाओं के प्रत्यक्षीकरण की विफलता को .... कहते हैं। (प्रत्यक्षात्मक सुरक्षा/प्रत्यक्षात्मक स्थिरता)
4) उद्दीपक क्षेत्र और मस्तिष्क क्षेत्र के बीच 1:1 का सम्बन्ध .... नियम कहलाता है। (समानता / समरूपता)

उत्तर: 1) परिधीय 2) केन्द्रीय 3) प्रत्यक्षात्मक सुरक्षा 4) समरूपता

5.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- उच्चतर प्रायोगिक मनोविज्ञान - डा. अरूण कुमार सिंह - मोतीलाल - बनारसीदास
- सामान्य मनोविज्ञान - सिन्हा एवं मिश्रा - भारतीय भवन
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान - सुलैमान एवं खान - शुक्ला बुक डिपो, पटना
- एक्सपेरिमेंन्टल साइकोलॉजी - कॉलिन्स एवं ड्रेक
- एक्सपेरिमेंन्टल साइकोलॉजी – ऑसगुड

5.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रत्यक्षात्मक संगठन से आप क्या समझते हैं? संगठन के कारकों का वर्णन करें।
2. प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करने वाले वैयक्तिक एवं सामाजिक कारकों की विवेचना करें।
3. प्रत्यक्षीकरण में सांस्कृतिक कारकों के महत्व पर प्रकाश डालें।
4. प्रत्यक्षात्मक संगठन के विभिन्न नियमों की सोदाहरण व्याख्या करें।
5. संक्षिप्त टिप्पणियां लिखें-
   (i) संगठन के नियम
   (ii) प्रत्यक्षात्मक सुरक्षा
   (iii) प्रत्यक्षीकरण और वैयक्तिक मूल्य
   (iv) प्रत्यक्षीकरण में क्षेत्र शक्तियों की भूमिका।

इकाई-6 सांवेदिक प्रक्रियाः आँख एवं कान की संरचना और कार्य

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 संवेदी प्रक्रियाएँ
6.4 मानव नेत्र: संरचना एवं कार्य
6.5 मानव कान: संरचना एवं कार्य
6.5.1 बाह्य कर्ण
6.5.2 मध्य कर्ण
6.5.3 अन्तः कर्ण
6.5.4 श्रवण संवेदना की प्रक्रिया
6.6 सारांश
6.7 शब्दावली
6.8 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
6.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
6.10 निबन्धात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

मनोविज्ञान प्राणी के व्यवहार का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। मानव प्राणी का व्यवहार उसके अनुभव और आस-पास के वातावरण के परिप्रेक्ष्य में घटित होता है। वातावरण में विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाएँ रहती हैं जो मनुष्य के ग्राहक केन्द्रों को प्रभावित करती रहती हैं और व्यक्ति में उन ग्राहक केन्द्रों से सम्बद्ध तरह-तरह की संवेदनाओं की उत्पत्ति होती रहती है। ये संवेदनाएँ अर्थ पाकर प्रत्यक्षीकरण का रूप धारण करती हैं और इस प्रकार व्यक्ति का ज्ञान-क्षेत्र विस्तृत होता जाता है।

मानव व्यवहार को समझने के लिए पहले यह आवश्यक है कि व्यक्ति की ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं को जानें और इसके लिए ज्ञानात्मक अंगों की संरचना, कार्य व संवेदी प्रक्रियाओं को जानना आवश्यक है।

प्रस्तुत इकाई में मानव प्राणी के दो महत्वपूर्ण संवेदी अंगों-आँख और कान की संरचना एवं कार्य के बारे में आप जान सकेंगे एवं इन अंगों द्वारा होने वाली संवेदी प्रक्रियाओं का अध्ययन भी कर सकेंगे।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप इस योग्य हो सकेंगे कि आप-

- सांवेदिक प्रक्रियाओं को भली-भांति समझ सकें।
- सांवेदिक प्रक्रियाओं में संवेदी अंगों की भूमिका से अवगत हो सकें।
- आँख की संरचना, कार्य तथा दृष्टि संवेदना की उत्पत्ति में आँखों की भूमिका रेखांकित कर सकें।
- कान की संरचना, कार्य तथा श्रवण संवेदना की उत्पत्ति में कानों की भूमिका पर प्रकाश डाल सकें।

6.3 संवेदी प्रक्रियाएँ

मनोविज्ञान का स्वरूप एवं इसकी परिभाषा पर विचार करते समय यह स्पष्ट चर्चा की कि ‘‘मनोविज्ञान प्राणी और वातावरण से सम्बद्ध अनुभव और व्यवहार का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।’’ इसके केन्द्र में मनुष्य है और वह एक खास तरह के वातावरण में रहता है। इस वातावरण की उत्तेजनाएँ व्यक्ति को खास प्रकार की अनुक्रिया करने के लिए बाध्य करती हैं। इसीलिए मनुष्य के व्यवहार की व्याख्या उत्तेजना-प्राणी-अनुक्रिया सूत्र के आधार पर की जाती है।

मानव व्यवहार अथवा उसकी अनुभूतियों के बारे में सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने हेतु यह आवश्यक है कि पहले व्यक्ति के ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं को समझें तथा फिर ज्ञानात्मक अंगों की संरचना और कार्य को जानें।

दरअसल, व्यक्ति को वातावरण में उपस्थित होने वाली विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं का ज्ञान उसकी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है। वातावरण की उत्तेजनाएँ सम्बद्ध ज्ञानेन्द्रियों या ग्राहक केन्द्रों को उत्तेजित करती हैं जिससे स्नायु-प्रवाह उत्पन्न होता है। यह स्नायु-प्रवाह ज्ञानवाही तंत्रिका कोशों की सहायता से सुषुम्ना से होता हुआ मस्तिष्क के विशेष भाग में पहुँचता है, जिससे एक मानसिक क्रिया उत्पन्न होती है। यह मानसिक क्रिया अत्यन्त ही सरल एवं प्रारंभिक स्वरूप की होती है, जिसे संवेदना कहते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने संवेदना को ही प्रथम मानसिक ज्ञानात्मक प्रक्रिया कहा है जिसमें व्यक्ति को वातावरण में उपस्थित उत्तेजनाओं का तात्कालिक आभास मात्र ज्ञान प्राप्त होता है।

संवेदन की प्रक्रिया में उत्तेजना के सम्बन्ध में अर्थपूर्ण ज्ञान का अभाव होता है। इसमें व्यक्ति केवल उपस्थित उत्तेजनाओं के स्वरूप, अर्थात् आकार, प्रकार, रंग एवं उसकी तीव्रता इत्यादि के संबंध में सूचनाएँ प्राप्त करता है और इन सूचनाओं को संगठित कर पूर्व अनुभवों का उपयोग करते हुए जब उनमें किसी निश्चित अर्थ को जोड़ देता है तो संवेदना अवगम में परिणत हो जाती है। इसीलिए संवेदना को अवगम से पहले की प्रक्रिया माना गयी है।

तो स्पष्ट है कि संवेदना मानसिक ज्ञान की प्रारंभिक प्रक्रिया है जो ज्ञानेन्द्रियों से ग्राहकों के उत्तेजित होने के फलस्वरूप होती है। संवेदनाओं के कई प्रकार हैं जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों या ग्राहक अंगों से सम्बन्धित हैं। जैसे-आँख हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ है और इससे सम्बन्धित संवेदना दृष्टि संवेदना कहलाती है, कान ज्ञानेन्द्रियाँ है और इससे सम्बन्धित संवेदना श्रवण संवेदना कहलाती है। इसी प्रकार, नाक, जीभ और त्वचा हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और इनसे सम्बद्ध संवेदनाओं को क्रमश: श्रवण संवेदना, स्वाद संवेदना तथा स्पर्श संवेदना की संज्ञा देते हैं। इन संवेदनाओं में आँख और कान से संबद्ध संवेदनाओं, अर्थात् दृष्टि और श्रवण संवेदनाओं पर यहाँ हम विशेष चर्चा करेंगे और इसके लिए पहले आवश्यक है कि हम आँख और कान की बनावट तथा कार्य का अवलोकन करें। आगे हम आँख की संरचना और कार्य के साथ ही दृष्टि संवेदना सम्पन्न होने की क्रिया पर भी विचार करेंगे तथा इसी तरह कान की संरचना और कार्य के साथ श्रवण संवेदना सम्पन्न होने की क्रिया पर चर्चा करेंगे।

6.4 मानव-नेत्र: संरचना एवं कार्य

मानव आँख की तुलना एक कैमरे से की जा सकती है। इसमें तस्वीर अंकित करने के लिए एक प्लेट होती है, तथा आँखों में वस्तुओं के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने के लिए अक्षिपट होता है। प्रकाश आँख के खुले भाग, जिसे पुतली कहते हैं, से अक्षि-पट पर पड़ता है। अक्षि-पट में ग्राहक कोश पाए जाते हैं जो दृश्य वस्तुओं के प्रतिबिंबित प्रकाश की तरंगों को ग्रहण करते हैं। फलस्वरूप, ग्राहक कोश कार्यशील होता है और दृष्टि स्नायुप्रवाह उत्पन्न होता है, जो दृष्टि स्नायु द्वारा मस्तिष्क के पृष्ठखंड में पहुँचता है, जहाँ उक्त वस्तु की विशेषताओं के प्रभाव स्नायुतंत्र पर अंकित होते हैं और तब व्यक्ति में उस वस्तु की संवेदना होती है।

मानव आँखें सिर के क्षेत्र में ललाट के ठीक नीचे गड्डों में स्थित हैं। ये गेंद की तरह गोल आकृति के होते हैं, इसलिए इन्हें नेत्रगोलक कहते हैं। नेत्रगोलक का थोड़ा सा भाग बाहर से दिखाई पड़ता है और शेष भाग गड्ढे के भीतर रहता है। नेत्रगोतक में तीन परतें पाई जाती हैं-

ख. श्वेत पटल
ग. मध्यपटल
घ. अक्षिपट

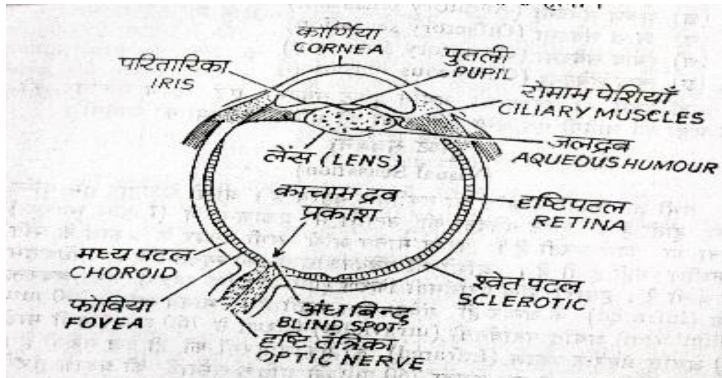

चित्र—14 मानव आँख की रचना

1) **श्वेत पटल-** यह आँख की सबसे बाहरी या ऊपरी परत है, जो सफेद रंग का होता है। यह अपारदर्शी होता है, फलस्वरूप प्रकाश इससे होकर अन्दर की ओर नहीं जा पाता। श्वेत-पटल के आगे का भाग थोड़ा सा उभरा हुआ होता है। इस उभरे भाग को कनीनिका (कॉर्निया) कहते हैं। श्वेत-पटल का केवल यही भाग पारदर्शी होता है। इसी के द्वारा प्रकाश आँखों में प्रवेश करता है। श्वेत पटल की मोटाई लगभग 5 मि.ली. होती है तथा आँख के अन्य भागों की अपेक्षा यह कड़ा और मजबूत होता है। इस परत के कड़ा होने तथा मजबूत होने से 'लेंस' और 'उपतारा' की बाहरी आघातों से रक्षा होती है।

श्वेत पटल का मुख्य कार्य नेत्र के कोमल भागों को बाहरी आघातों से सुरक्षा प्रदान करना है।

2) **मध्य-पटल-** यह नेत्र के मध्य का आवरण है जो श्वेत-पटल के नीचे स्थित होता है। मध्य-पटल एक गहरे रंग की परत होती है जो सामान्यतः काले या भूरे रंग की होती है तथा नेत्र-गोलक का 5/6 भाग होती है। यह भी श्वेत-पटल की तरह पूर्णतः अपारदर्शी होता है। यह इधर-उधर के अनावश्यक प्रकाश को आँखों में जाने से रोकता है।

मध्य-पटल के उभरे हुए अग्रभाग को उपतारा कहते हैं। उपतारा कनीनिका (कॉर्निया) के पिछले भाग में रहती है। कनीनिका (कार्निया) और उपतारा के बीच का भाग खाली रहता है, जिसमें जलद्रव भरा रहता है। उपतारा के मध्य में थोड़ा रिक्त स्थान होता है जो छिद्र की तरह प्रतीत होता है, पुतली कहलाता है। पुतली के द्वारा ही बाहर का प्रकाश आँख के भीतरी भाग में पहुँचाता है। उपतारा आँख की पुतली पर नियंत्रण रखती है। प्रकाश की तीव्रता के अनुसार उपतारा के फैलने या सिकुड़ने के फलस्वरूप पुतली का आकार बड़ा या छोटा हो जाता है। कम प्रकाश की स्थिति में पुतली का आकार बड़ा या छोटा हो जाता है। कम प्रकाश की स्थिति में पुतली बड़ी हो जाती है और तीव्र प्रकाश रहने पर पुतली छोटी हो जाती है। इस प्रकार, पुतली प्रकाश की तीव्रता के अनुरूप

अभियोजित होती है जिससे जरूरत के मुताबिक अधिक या कम मात्रा में (मंद प्रकाश में अधिक और तीव्र प्रकाश में कम) प्रकाश-किरण आँख की रेटिना में प्रवेश करता है। पुतली का बड़ा या छोटा होना उपतारा की क्रिया पर निर्भर करता है। उपतारा 'सिलियरी मांसपेशी' से संबद्ध रहता है, जो स्वतःचालित स्नायुतंत्र से संचालित होती है।

स्वतःचालित स्नायु-तंत्र के अनुकम्पी तंत्र के प्रभाव से उपतारा पीछे की ओर हटती है जिससे पुतली का आकार बढ़ जाता है और अधिक मात्रा में प्रकाश-तरंग आँख के अंदर प्रवेश करती है, लेकिन तीव्र प्रकाश की स्थिति में सहानुकम्पी तन्त्र कार्यशील होता है, जिसके प्रभाव से उपतारा फैलकर आगे की ओर आती है जिससे पुतली का आकार छोटा हो जाता है। इस प्रकार, पुतली के आकार का बड़ा या छोटा होना प्रकाश की मात्रा से नियंत्रित होता है तथा इस क्रिया (बड़ा या छोटा होने की क्रिया) का संचालन स्वतःचालित स्नायुतंत्र द्वारा सिलियरी मांसपेशी के पीछे की ओर लौटने और आगे की ओर बढ़ने की क्रिया द्वारा होता है।

उपतारा के पीछे लेंस रहता है। यह पारदर्शी झिल्ली का बना होता है तथा सामान्य स्थिति में यह उभयोत्तल आकार का होता है। लेंस दोनों ओर से कुछ पतली तार जैसी मांसपेशियों से जुड़ी रहती है, जिसे 'सस्पेंसरी लिगामेंट' कहते हैं। इस मांसपेशी के कारण ही लेंस अपनी जगह पर संतुलित रूप से रहता है।

लेंस चारों ओर से रोमाभ पेशियों से घिरा रहता है। पुतली से होकर जो प्रकाश आँख में प्रवेश करता है, उसे लेंस दृष्टि-पटल तक पहुँचा देता है। लेंस के आकार का नियंत्रण रोमाभ पेशियों की सहायता से प्रतिवर्तित रूप में होता रहता है। दूर की वस्तुएँ देखते समय रोमाभ पेशियाँ फैल जाती हैं जिससे लेंस का आकार बड़ा हो जाता है। इसके विपरीत नजदीक की वस्तुएँ देखते समय ये पेशियाँ सिकुड़ जाती हैं, फलस्वरूप लेंस छोटा हो जाता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि लेंस का छोटा एवं उभरा अथवा बड़ा और पतला या चपटा होना रोमाभ पेशियों के सिकुड़ने या फैलने की क्रिया पर निर्भर करता है।

इन मांसपेशियों के सिकुड़कर छोटे होने पर लेंस फूल जाता है, जिससे इसकी वक्रता बढ़ जाती है तथा इन्हीं मांसपेशियों के फैलकर आगे की ओर बढ़ने पर लेंस बड़ा और चपटा हो जाता है, जिससे इसकी वक्रता घट जाती है। लेंस की सतह की वक्रता के बढ़ने और घटने की इस क्रिया को समायोजन कहते हैं। इस समायोजन के फलस्वरूप ही दूरी के अनुसार वस्तुओं का प्रतिबिम्ब रेटिना पर स्पष्ट रूप से बनता है।

लेंस के पीछे की जगह में 'काँच-द्रव भरा रहता है। यह एक पारदर्शी द्रव है। इसका मुख्य कार्य आँख के स्वरूप या नेत्रगोलक के गोल आकार को कायम रखना है।

3) **अक्षि-पटल** -अक्षिपटल आँख की तीसरी और सबसे महत्वपूर्ण परत है। यह आँख की सर्वाधिक संवेदनशील परत है और कोशिकाओं एवं तंत्रिका तंतुओं से निर्मित है। इन सभी कोशिकाओं को ग्राहक कोशिकाएँ कहते हैं। अक्षि-पट या अक्षिपटल जिसे दृष्टि-पटल भी कहते हैं, के द्वारा प्रकाश को ग्रहण किया जाता है। श्वेत-पटल एवं मध्य-पटल का कार्य प्रकाश तरंगों को दृष्टि-पटल तक पहुँचा देना है। अक्षि-पटल की ग्राहक-कोशिकाएँ इन प्रकाश-तरंगों को ग्रहण कर लेती हैं। ये ग्राहक-कोशिकाएँ दो प्रकार की होती हैं-

अ. दण्ड या शलाकाएँ

ब. सूचियाँ या शंकु

मानव नेत्र में शलाकाओं एवं सूचियों की संख्या करोड़ों में है। शलाकाएँ एवं सूचियाँ केवल अपनी रचना में ही नहीं, अपितु कार्य में भी एक-दूसरे से भिन्न हैं।

- शलाकाएँ लम्बी और पतली होती है जबकि सूचियाँ (शंकु) छोटी और मोटी होती हैं।
- दण्ड या शलाकाएँ मंद अथवा धूमिल प्रकाश में कार्य करती हैं, अर्थात् इनसे मंद प्रकाश की संवेदना होती है। अतः इन कोशों द्वारा रंगहीन यानि उजला, काला या भूरा अथवा अंधेकार की संवेदना होती है। दूसरी ओर सूचियाँ तेज प्रकाश में क्रियाशील होती हैं अर्थात् सूचि से तीव्र प्रकाश अथवा विभिन्न प्रकार के रंगों की संवेदना होती है। इनमें प्रकाश-तरंगों की लम्बाई के अनुसार रंग-विभेदन की क्षमता पायी जाती हैं। इनसे रंगीन एवं रंगहीन प्रकाश दोनों का अनुभव होता है। जैसे-काला, भूरा, श्वेत, लाल, हरा, नीला एवं पीला सभी रंग दिखाई पड़ते हैं।
- श्लाकाओं में एक प्रकार का रंग पाया जाता है जिसे 'रोडोप्सिन' कहते हैं। यह एक जैव-रासायनिक द्रव्य है जिनमें विटामिन ए पाया जाता है। जबकि सूचियों में जो जैव-रासायनिक द्रव्य पाया जाता है उसे आयोडोप्सिन कहते हैं।
- ऐसा अनुमान है कि मनुष्य की एक आँख में शलाकाओं की संख्या 11 करोड़ से 12 करोड़ के बीच है दूसरी ओर सूचियों की संख्या 63 से 68 लाख के बीच हैं। लेकिन हमारे अक्षि-पटल पर इसका वितरण समान नहीं है। इसकी संख्या कहीं अधिक और कहीं कम रहती है। कहीं पर दंड या शलाकाएँ अधिक मात्रा में पाये जाते हैं तो कहीं पर सूचि।
- रेटिना (अक्षि-पटल) में तीन क्षेत्र पाये जाते हैं-परिधीय क्षेत्र, मध्य-क्षेत्र एवं केन्द्रीय क्षेत्र। परिधीय क्षेत्र में केवल शलाकाएँ , मध्य क्षेत्र में सूचियाँ एवं शलाकाएँ दोनों तथा केन्द्रीय क्षेत्र में केवल सूचियाँ ही पायी जाती हैं।
- अक्षि-पटल के मध्य में एक पीले रंग का गहरा स्थल पाया जाता है जिसे 'पीत बिन्दु' कहते हैं यह एक संवेदनशील भाग है। इसमें केवल सूचियाँ ही पायी जाती हैं जो बहुत पतली और घनी है। पीत-बिन्दु से दूरी बढ़ने के साथ-साथ सूचियों की संख्या में कमी होने लगती है एवं शलाकाओं की संख्या में वृद्धि होने लगती है। पीत बिन्दु में केवल सूचियाँ होने के कारण इस पर पड़ने वाली प्रतिमा बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इसलिए इसे 'स्पष्टतम् दृष्टि बिन्दु' भी कहते

हैं।तेज प्रकाश में अधिकतर व्यक्ति 'फोविया' यानि पीतबिन्दु से ही काम लेता है। मंद प्रकाश में पीत बिन्दु से दिखाई नहीं पड़ता है।

दृष्टि संवेदना की प्रक्रिया-

अक्षि-पटल कें जिस स्थान से दृष्टि-स्नायु निकलते हैं, उस स्थान को अंधे बिन्दु कहते हैं। इस स्थान पर सूचि एवं शलाकाएँ में से कोई भी ग्राहक कोश नहीं पाये जाते। अतः जब प्रकाश अक्षिपटल के इस भाग पर पड़ता है, तब दृष्टि-संवेदना नहीं होती। लेकिनकुछ मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोज्यों में देखा कि अधिक तीव्र प्रकाश होने पर अंधे-बिंन्दु क्रियाशील हो जाता है। इसलिए, विश्वास किया जाता है कि इस स्थान पर भी शलाकाएँ तथा सूची सीमित मात्रा में वर्तमान है। फिर भी, इस संबंध में कोई निश्चित मत नहीं है।

इस प्रकार यह कह सकते हैं कि प्रकाश-तरंगों को सर्वप्रथम आँखें ग्रहण करती हैं। ये प्रकाश-तरंगें कनीनिका, जल-द्रव और पुतली से होती हुई लेंस पर पड़ती हैं। लेंस उन्हें अक्षि-पटल में भेज देता है। प्रकाश-तरंगें जब अक्षि-पटल पर पहुँचती हैं तो वहाँ की शलाकाएँ एवं सूचियाँ उत्तेजित होकर तंत्रिका-आवेग उत्पन्न करती हैं। यह तंत्रिका-आवेग दृष्टि-स्नायुओं द्वारा कॉर्टेक्स के दोनों दृष्टि खंडों में चला जाता है जहाँ दृष्टि-संवेदना होती है। दृष्टि-खंड में साहचर्य क्षेत्र हैं जो देखी हुई वस्तु का अर्थ बतलाते हैं तब उस वस्तु का अवगम होता है।

6.5 मानव कान: संरचना एवं कार्य

कान श्रवण-संवेदना की ज्ञानेन्द्रिय है और ध्वनि-तरंगों से इसे उत्तेजना प्राप्त होती है। जब किसी पदार्थ में कम्पन्न होता है तो उससे वायु में लहरें पैदा होती हैं जो वायु के साथ आगे की ओर बढ़ती हैं। इन्हें ही ध्वनि तरंगें कहते हैं। मानव कान इन्हीं ध्वनि-तरंगों को ग्रहण करता है। मानव कान के द्वारा ध्वनि तरंगें किस रूप में ग्रहण की जाती है एवं कैसे श्रवण-संवेदना होती है, इसे जानने के लिए कान की रचना एवं कार्यों को जानना आवश्यक है।
अध्ययन के दृष्टिकोण से कान को तीन भागों में बाँटा गया है-

क. बाह्य कर्ण
ख. मध्य कर्ण
ग. आन्तरिक या अन्तः कर्ण

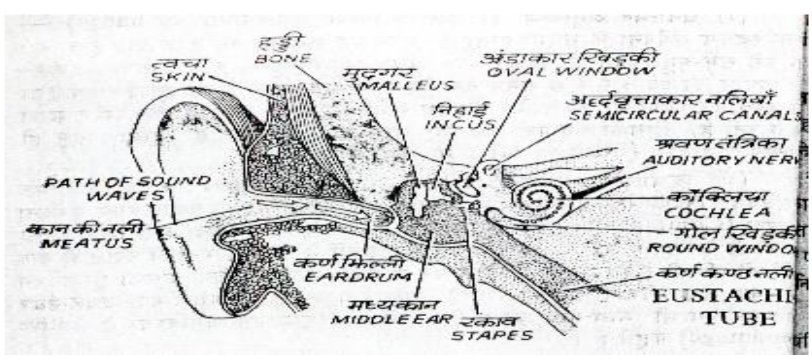

6.5.1 बाह्य कर्ण या कान-

कान का वह भाग जो बाहर से दिखाई पड़ता है, उसे बाह्य कर्ण कहते हैं। इसके दो भाग होते हैः- 1. पिन्ना 2. कर्ण-नली

1) **पिन्ना -** कान से सटा हुआ जो भाग बाहर की तरफ निकला हुआ होता है, उसे पिन्ना कहते हैं। यह कार्टिलेज नामक मुलायम हड्डी से निर्मित होता है। पिन्ना कोई विशेष कार्य नहीं करता है, क्योंकि इस संबंध में किए गये प्रयोगों से यह विदित होता है कि कान के इस भाग को जड़ से काट देने पर भी श्रवण-संवेदना में कोई क्षति नहीं पहुँचती। लेकिन, मनुष्य के चेहरे की सुंदरता एवं शोभा बनाये रखने में इसका महत्व है। पशुओं में कान के इस भाग का महत्व कुछ विशेष है। जानवरों में, विशेषकर कुत्तों में पिन्ना चारों ओर से आने वाली ध्वनि तरंगों को एकत्रित करते हैं तथा उनकी दिशा मालूम करते हैं।
2) **कर्ण-नली-** कर्ण-नली पिन्ना की जड़ से प्रारंभ होकर कर्णढोल तक फैली लंबी नलिका है जिसकी औसत लंबाई 25 मिलीमीटर है। कर्ण नली का भीतरी छोर जहाँ पर समाप्त होता है, वहाँ कान का एक 'पर्दा' होता है जिसे कर्णढोल कहते हैं। यह पर्दा बारीक मेंब्रेन या झिल्ली से बना होता है इसलिए इसे टिम्पैनिक मेंम्ब्रेन या टिम्पैनम भी कहते हैं। कर्ण नली में छोटे-छोटे केश तथा विषैले मैल भरे रहते हैं। यह मैल विभिन्न कीड़े-मकोड़ों तथा अन्य वस्तुओं से कण-झिल्ली की रक्षा करती हैं। यह नली कुछ टेढ़ी होती है। तथा पिन्ना से टकराकर आने वाली ध्वनि तरंगों को आगे की ओर भेजाती है। ये ध्वनि-तरंगें कर्णढोल या कर्ण-झिल्ली से टकराती हैं। यह झिल्ली बहुत ही अधिक कोमल एवं संवेदनशील होती है। अतः ध्वनि-तरंगों के टकराने से इसमें तीव्र कम्पन होते हैं। कर्ण ढोल के बाद मध्य-कर्ण प्रारम्भ होता है।

बाह्य कर्ण का मुख्य कार्य वायु तरंगों को ग्रहण कर कर्णनली द्वारा कर्णढोल तक संचारित करना होता है जिसके फलस्वरूप 'कर्णढोल' प्रकंपित होने लगता है।

6.5.2 मध्य कर्ण-

मध्य कर्ण की सीमा की शुरूआत कर्णढोल अर्थात् टिम्पैनम से होती है तथा इसकी दूसरी सीमा हड्डीदार दीवार की अंडाकार खिड़की से लगी रहती है। इस हड्डीदार दीवार में ही एक ओर खिड़की होती है, जिसे गोलाकार खिड़की कहते हैं। ये दोनों खिड़कियाँ मेंब्रेन युक्त होती है।

कर्ण-झिल्ली या कर्ण ढोल के पीछे तीन हिलने-डुलने वाली हड्डियाँ होती हैं। ये तीनों हड्डियाँ एक दूसरे से सटी हुई हैं। इन्हें इनके कार्य के आधार पर मुद्गर या हथौड़ा, निहाई एवं रकाब कहते हैं। 'मुद्गर से सटी हुई 'निहाई' रहती है तथा 'निहाई' से सटी हुई 'रकाब' होती है। रकाब के साथ छोटी सी मांसपेशी जिसे स्टॉपेडियस कहते हैं, संबंधित रहता है। इसकी सहायता से 'रकाब' अंडाकार खिड़की में अच्छी तरह फिट कर जाती है।

मध्य-कर्ण में कर्ण ढोल के दोनों ओर वायु के दबाव को नियंत्रित रखने के लिए एक नली है, जिसे 'कर्ण-कंठनली' या 'कण्ठ-कर्ण नली' कहते हैं। यह नली कण्ठ तक चली गयी है यानि कान को कण्ठ से मिलाती है तथा इसका प्रधान कार्य कर्णढोल के भीतर और बाहर की हवाओं के दबाव को संतुलित रखना है। जैसे-अचानक तेज और कर्कश आवाज होने पर वायु-चाप के कारण मुँह खुल जाता है और वायु के साथ कमपन बाहर निकल जाता है। इससे हमारे कर्ण-ढोल की रक्षा होती है। अगर यह नली हमारे कान में न होती तो तीव्र वायु चाप से कर्ण ढोल को क्षति पहुँचने की संभावना होती जिससे हमारी श्रवण क्षमता प्रभावित होती।

जब ध्वनि तरंगें 'कर्ण ढोल' (कर्ण झिल्ली') से टकराती हैं तो उनके संपर्क से कर्ण ढोल में मन्द प्रकम्पन होने लगते हैं। इनसे मुद्गर निहाई और रकाब में क्रमशः कम्पन होने लगता है। इन हड्डियों में कम्पन होने से ध्वनि-तरंगों की तीव्रता में लगभग तीस गुनी वृद्धि हो जाती है, जो ध्वनि-तरंगों को अन्तःकर्ण तक पहुँचाने में सहायक होती है। रकाब के प्रकम्पित होने से अंडाकार खिड़की द्वारा प्रकम्पन अन्तःकर्ण में पहुँचता है। अतः कह सकते हैं कि मध्यकर्ण में इन तीनों हड्डियों की एक ऐसी स्वाभाविक व्यवस्था है जिसकी सहायता से ध्वनि-तरंगें बाह्-कर्ण से अन्तःकर्ण में पहुँचती है।

6.5.3 अन्तः कर्ण या आंतरिक कर्ण-

कान के दूसरे भागों की तुलना में अन्तःकर्ण की रचना सबसे जटिल है। यह अंडाकार खिड़की से प्रारंभ होकर कोर्टि अंग एवं अर्द्धवृत्ताकार (चंद्राकार) नली तक फैला हुआ है। यह कनपट्टी की हड्डी के भीतर सुरक्षित रूप में स्थित है। इसकी दीवार एक प्रकार की पतली झिल्ली से ढँकी रहती है जिसके ऊपरी भाग में एँडोलिम्फ नामक तरल पदार्थ निरंतर भरा रहता है। यह तरल पदार्थ भी एक दूसरे तरल पदार्थ के ऊपर आश्रित रहता है जिसे पेरिलिंफ कहते हैं। अंतःकर्ण की संपूर्ण रचना दो प्रकार की परतों से घिरी रहती है। ऊपरी परत झिल्लीदार होती है, इसलिए इसे झिल्लीदार लेबिरिंथ कहते हैं, इसकी भीतरी दीवार हड्डियों से बनी होती है, इसलिए इसे हड्डीदार लेबिरिंथ कहते हैं।

अतं: कर्ण के दो प्रमुख भाग हैं-

1. अर्द्ववृत्ताकार नलियाँ या अर्द्धचंद्राकार नलियाँ 2. कॉक्लिया

1) **अर्द्ववृत्ताकार नली-** यह शारीरिक संतुलन बनाये रखता है। इस नली में एक तरल पदार्थ भरा रहता है। जब इस तरल पदार्थ में गति उत्पन्न होती है तो व्यक्ति का शारीरिक संतुलन भंग हो जाता है और वह चक्कर खाकर गिर जाता है। जैसे-एक स्थान पर खड़ा होकर चक्कर काटने से व्यक्ति गिर जाता है। इस प्रकार इन नली का प्रधान कार्य श्रवण संवेदना के समय शारीरिक संतुलन बनाये रखना है। श्रवण-संवेदना के लिए इस नली का कोई विशेष महत्व नहीं है।

2) **कॉक्लिया-** कॉक्लिया का आकार घोंघे की तरह चक्राकार होता है तथा इसमें ढाई लपेट देखने को मिलता है। यह एक लम्बी नली है जो आधार से शीर्ष तक क्रमशः पतली होती जाती है। इसकी नली में तरल पदार्थ भरा रहता है।

कॉक्लिया में तीन प्रधान नलियाँ हैं-

1. स्कालावेस्टिबुलि या बेस्टिबुलर कैनाल
2. टिम्पैनिक कैनाल या कर्णपटह नली
3. कॉक्लिया कैनाल या कर्णावर्त नली

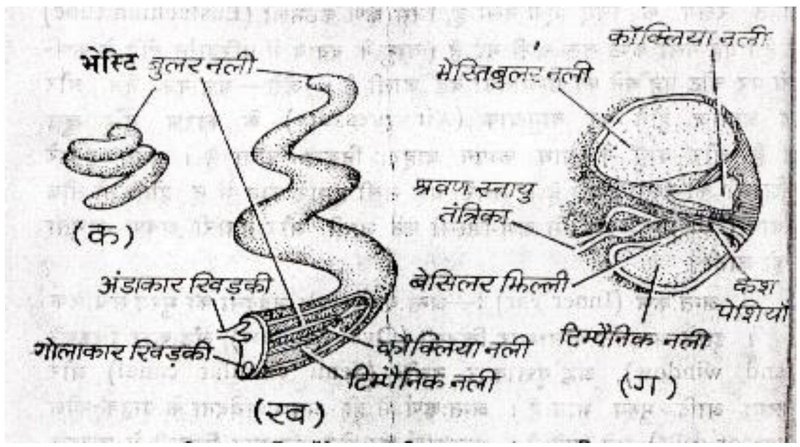

वेस्टीब्यूलर नली का प्रारम्भ अण्डाकार खिड़की से होता है और यह कॉक्लिया के शीर्ष तक चली गयी है। इस नली में जो तरल पदार्थ भरा रहता है, उसे पेरिलिम्फ या परिलसिका कहते हैं। वेस्टीब्यूलर या प्रघाण नली अंडाकार खिड़की तक आये हुए ध्वनि-प्रकम्पन को ग्रहण करती है और इसे कॉक्लिया के शीर्ष तक पहुँचाती है।

टिम्पैनिक या कर्णपटह नली कॉक्लिया के आधार से शीर्ष तक फैली हुई है। इस नली के अंदर पाये जाने वाले तरल पदार्थ को भी पेरीलिम्फ या परिलसिका कहते हैं। टिम्पैनिक नली ध्वनि-प्रकम्पन को वेस्टीब्यूलर नली से ग्रहण करती है।

कॉक्लिया या कर्णावर्त नली वेस्टीब्यूलर नली एवं टिम्पैनिक नली के बीच स्थित है। इस नली में भी एक तरल पदार्थ भरा होता है, जिसे एन्डोलिम्फ या अंतर्लसिका कहते हैं।

कॉक्लिया नली एवं टिम्पैनिक नली के बीच आधार झिल्ली या बेसिलर झिल्ली पायी जाती है यानि इन दोनों नलियों को बेसिलर झिल्ली अलग करती है। टिंपैनिक (कर्णपटह नली) को स्काला मिडिया के नाम से भी पुकारा जाता है। इसी प्रकार कॉक्लिया नली एवं वेस्टीब्यूलर नली के

बीच राइसनेर झिल्ली पायी जाती है तथा टिंपैनिक नली एवं वेस्टीब्यूलर नली को अलग करने वाली झिल्ली टेक्टोरियल मेंब्रेन (झिल्ली) कहलाती है। कॉक्लिया के शीर्ष के निकट राइसनेर झिल्ली और आधार झिल्ली एक दूसरे से मिल जाती है। इस स्थान को हेलीकोट्रीमा कहते हैं। यह टिम्पैनिक नली एवं कॉक्लिया नली को मिलाने का कार्य करता है। कॉक्लिया नली राइसनेर-झिल्ली एवं आधार झिल्ली के बीच में स्थित है। इस आधार-झिल्ली में श्रवण-संवेदना का सबसे मुख्य अंग है, जिसे 'कोर्टि-अंग' कहते हैं। 'कोर्टि अंग' में अनेक केश-कोशिकाएँ ऊपर से नीचे तक फैली रहती हैं ये केश-कोशिकाएँ ध्वनि-तरंगों के प्रति अधिक संवेदनशील होती हैं। 'बेसिलर मेंब्रेन' के ऊपर एँडोलिम्फ (अंतर्लसिका) नामक तरल पदार्थ में ये 'केश-कोशिकाएँ' सेवार के घास की तरह तीन पंक्रियों में फैली रहती हैं। इन केश-कोशिकाओं का संबंध श्रवण तंत्रिकाओं से रहता है। केश-कोशिकाएँ ही 'श्रवण-ग्राहक' का कार्य करती है।

6.5.4 श्रवण संवेदना की प्रक्रिया-

जब मध्य कर्ण से आया हुआ प्रकमपन आधार-झिल्ली को प्रकम्पित करता है तो इनके केश-कोशिकाओं में भी प्रकम्पन होने लगता है। इनकी उत्तेजना से श्रवण-तंत्रिकाओं या श्रवण-स्नायुओं में तंत्रिका आवेग बनते हैं। ये तंत्रिका आवेग कॉक्लिया से बाहर निकलकर श्रवण तंत्रिकाओं में आते हैं। श्रवण-तंत्रिकाओं की संख्या लगभग तीस हजार होती है। श्रवण-तंत्रिकाओं के द्वारा तंत्रिका-आवंग कॉर्टेक्स के दोनों श्रवण खंडों में जाते हैं। फलस्वरूप व्यक्ति को श्रवण-संवेदना होती है।

इससे स्पष्ट है कि सर्वप्रथम ध्वनि तरंगों को बाह्य-कर्ण एकत्र कर कर्ण-नली के रास्ते मध्य-कर्ण में स्थित कर्ण-ढोल तक पहुँचा देता है। कर्ण ढोल के प्रकम्पित होते ही इससे सटी तीनों हड्डियों (मुद्गर, निहाई तथा रकाब) में भी प्रकम्पन होने लगता है। कर्ण-झिल्ली का प्रकम्पन अंडाकार खिड़की तक पहुँचता है। यहाँ ध्वनि-प्रकम्पन बाइस गुना अधिक बढ़ जाता है। इसके साथ ही रकाब का प्रकम्पन अंडाकार खिड़की को प्रकम्पित करते हुए कॉक्लिया के वेस्टीब्यूलर नली के पेरीलिम्फ (परिलसिका) नामक तरल पदार्थ में पहुँचकर हलचल उत्पन्न करता है। इस हलचल से टिम्पैनिक (कर्णपटह) नली के पेरीलिम्फ (परिलसिका) में भी प्रकम्पन उत्पन्न होता है। इस कारण इन दोनों नलियों के बीच स्थित आधार-झिल्ली (बेसिलर मेंम्ब्रेन) में प्रकम्पन होने लगता है। तत्पश्चात् यह प्रकम्पन कॉक्लिया के 'कोर्टि अंग' में जाता है जिसके फलस्वरूप कॉक्लिया-नली के भीतर 'एण्डोलिम्फ' (अंतलैसिका) नामक तरल पदार्थ में भी प्रकम्पन होने लगता है और 'केश कोशिकाएँ' उत्तेजित हो जाती हैं। इनके उत्तेजित होने से वहाँ तंत्रिका-आवेग बनते हैं, जो श्रवण-स्नायु द्वारा कॉर्टेक्स के दोनों गोलार्द्धों के दोनों श्रवण-खण्डों में जाते हैं। श्रवण-खण्डों में स्थित संवेदी क्षेत्र में जैसे ही तंत्रिका-आवेग पहुँचते हैं, श्रवण-संवेदना होने लगती है। इस प्रकार प्रत्येक कान का संबंध कॉर्टेक्स के दोनों गोलार्द्धों के दोनों श्रवण-खण्डों से है। फलस्वरूप किसी एक खंड में क्षति

होने से कान की केवल आधी श्रवण-क्षमता घटती है। जब श्रवण-खण्डों (दोनों गोलार्द्धों के) संवेदी क्षेत्र को नष्ट कर दिया जाये तो व्यक्ति में बहरापन उत्पन्न होता है|

6.6 सारांश

- वातावरण की उत्तेजनाएँ सम्बद्ध ज्ञानेन्द्रियों को उत्तेजित करती हैं जिससे स्नायु-प्रवाह उत्पन्न होता है। यह स्नायु-प्रवाह ज्ञानवाही तंत्रिका-कोशों की सहायता से सुषुम्ना से होता हुआ मस्तिष्क के विशेष भाग में पहुँचता है जिससे एक मानसिक क्रिया उत्पन्न होती है। यह मानसिक क्रिया अत्यन्त ही सरल एवं प्रारंभिक स्वरूप की होती है। इसमें उत्तेजना का आभास-मात्र ही मिल पाता है। इसे ही संवेदना कहते हैं।
- दृष्टि संवेदना का ग्राहक-केन्द्र आँख है। आँखों में वस्तुओं के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने के लिए अक्षि पटल होता है। प्रकाश, जो आँख के लिए उपयुक्त उत्तेजना है, आँख की पुतली से होते हुए अक्षि-पटल पर पड़ता है। अक्षि-पटल में पाये जाने वाले दण्ड (शलाकाएँ) और शंकु (सूचियां) ग्राहक कोश का कार्य करते हैं। ये दृश्य वस्तुओं के प्रतिबिंबित प्रकाश की तरंगों को ग्रहण करते हैं। फलस्वरूप, ग्राहक कोशों में स्नायु-प्रवाह उत्पन्न होता है जो दृष्टि-स्नायुओं द्वारा मस्तिष्क के पृष्ठ-खण्ड (ऑक्सीपिटल लोब) में जाता है और व्यक्ति को उस वस्तु की दृष्टि संवेदना होती है।
- श्रवण संवेदना का ग्राहक-केन्द्र कान है। इसे ध्वनि तरंगों से उत्तेजना प्राप्त होती है। जब किसी पदार्थ में कम्पन होता है तो उससे वायु में लहरें पैदा होती हैं जो वायु के साथ आगे की ओर बढ़ती हैं। इन्हें ही ध्वनि तरंग कहते हैं मानव कान इन्हीं ध्वनि तरंगों को ग्रहण करता है। मानव कान के तीन भाग है- बाह्य कर्ण, मध्य कर्ण, एवं अन्तःकर्ण। सर्वप्रथम ध्वनि तरंगों को बाह्य कर्ण एकत्रित करता है तथा कर्ण-नली के रास्ते मध्य कर्ण में स्थित कर्ण-ढोल तक पहुँचा देता है। यहाँ से ध्वनि तरंगें अन्तः कर्ण के कॉक्लिया में पहुँचती हैं, फलतः वहाँ अवस्थित तरल पदार्थ में हलचल पैदा होती है। इस हलचल से केश-कोशिकाएँ उत्तेजित हो जाती है और वहाँ तंत्रिका-आवेग बनते हैं। ये तंत्रिका-आवेग श्रवण-स्नायु द्वारा कॉटैक्स के श्रवण खण्डों में जाते हैं और श्रवण संवेदना उत्पन्न होती है।

6.7 शब्दावली

- **ज्ञानेन्द्रियां:** मनुष्य के शरीर में पाये जाने वाले वैसे अंग जो वातावरण की उत्तेजनाओं को ग्रहण कर उनके बारे में सम्यक् ज्ञानदेने में सहायक होते हैं, ज्ञानेन्द्रियां कहलाती हैं। आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा मानव शरीर की ज्ञानेन्द्रियां हैं।
- **संवेदना:** वह मानसिक क्रिया जो अत्यन्त ही सरल एवं प्रारंभिक स्वरूप की होती है तथा जिसके द्वारा व्यक्ति को वातावरण में उपस्थित उत्तेजनाओं का तात्कालिक आभास-मात्र ज्ञान प्राप्त होता है, संवेदना कहलाती है।

6.8 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) वह मानसिक क्रिया जो अत्यन्त ही सरल एवं प्रारम्भिक स्वरूप की होती है तथा जिससे उद्दीपक का अभास मात्र ही मिल पाता है .... कहलाती है।
2) दृष्टि संवेदना का ग्रहक-केन्द्र .... एवं श्रवण संवेदना का ग्राहक-केन्द्र....... है।
3) मनुष्य की आंख में पाये जाने वाले ग्राहक-कोश हैं .... एवं ....।
4) प्रकाश तरंगों से .... संवेदना एवं ध्वनि तरंगों से .... संवेदना उत्पन्न होती है।

उत्तर: 1) संवेदना 2) आंख एवं कान 3) शलाकाएँ एवं सूचियां 4) दृष्टि एवं ध्वनि

6.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान-अरूण कुमार सिंह- मोतीलाल - बनारसी दास
- शारीरिक मनोविज्ञान- ओझा एवं भार्गव - हर प्रसाद भार्गव, आगरा
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान- सुलैमान एवं खान-शुक्ला बुक डिपो, पटना
- सामान्य मनोविज्ञान- सिन्हा एवं मिश्रा - भारती भवन

6.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संवेदना से आप क्या समझते हैं? सांवेदिक प्रक्रियाओं का वर्णन करें।
2. मानव आँख की रचना और कार्यों का वर्णन करें।
3. दृष्टि संवेदना की प्रक्रिया समझाएँ।
4. मानव कान की रचना एवं कार्यों का वर्णन करें।
5. श्रवण संवेदना की प्रक्रिया समझायें।

इकाई–7 सीखनाः स्वरूप, सिद्धान्त, प्रयास और भूल, सूझ

7.1 प्रस्तावना
7.2 उद्देश्य
7.3 सीखने का स्वरूप
    7.3.1 सीखना तथा परिपक्वता
    7.3.2 सीखना एवं अभिप्रेरणा
7.4 सीखने का सिद्धान्त
    7.4.1 प्रयास और भूल का सिद्धान्त
    7.4.2 अन्तर्दृष्टि अथवा सूझ का सिद्धान्त
7.5 सारांश
7.6 शब्दावली
7.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
7.8 संदर्भ-ग्रन्थ सूची
7.9 निबन्धात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों में आपने किसी उद्दीपक से उत्पन्न संवेदन एवं अवगम का अध्ययन किया और यह भी देखा कि हमारी ज्ञानेन्द्रियां और तंत्रिका-तंत्र किस प्रकार आपस में तालमेंल बिठाकर ज्ञानात्मक, क्रियात्मक एवं साहचर्यात्मक क्रियाओं को सम्पन्न करते हैं।

प्रस्तुत इकाई में हमारा प्रयास आपको नई-नई उत्तेजनाओं एवं अभिनव परिस्थितियों को ग्रहण करने की प्रक्रिया से रू-ब-रू कराना है। इस प्रक्रिया को ही अधिगम या सीखने की प्रक्रिया कहते हैं जो जीवन पर्यन्त चलती रहती है। इस इकाई में आप सीखने के स्वरूप एवं सीखने सम्बन्धी प्रयास और भूल सिद्धान्त तथा सूझ सिद्धान्त से भलीभाँति अवगत हो सकेंगे।

इस इकाई के अध्ययन से आपको यह लाभ होगा कि अधिगम के संप्रत्यय एवं इससे सम्बद्ध विभिन्न सिद्धान्तों को समझने एवं व्याख्या करने में आप निपुण हो जायेगे।

7.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप इस योग्य हो सकेंगे कि आप -

- सीखने की क्रिया को परिभाषित कर सकें एवं इसके स्वरूप को निर्धारित कर सकें।
- सीखना और परिपक्वता में अन्तर स्पष्ट कर सकें।
- सीखने में अभिप्रेरणा के महत्व को रेखांकित कर सकें तथा
- सीखने के विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या एवं तुलना कर सकें।

7.3 सीखने का स्वरूप

सीखने को अधिगम भी कहते हैं। यह एक सतत चलने वाली प्रक्रिया है। मनुष्य जन्म से मृत्यु तक कुछ न कुछ सीखता रहता है। एक सामाजिक प्राणी होने के कारण समाज की विभिन्न परिस्थितियों से उसका घात-प्रतिघात चलता रहता है। जब वह किसी नयी परिस्थिति के सम्पर्क में आता है, तब उसके साथ अपने को सफलतापूर्वक अभियोजित करने का प्रयास करता है। उसका प्रयास उसके पूर्व व्यवहार और अनुभूति में परिवर्तन लाता है। उसके व्यवहार एवं अनुभूति का यह परिवर्तन अथवा परिमार्जन ही सीखना कहलाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सीखना कोई एक प्रकार की विशिष्ट क्रिया नहीं है, वरन् यह तो एक ऐसा परिवर्तन है, जो विभिन्नक्रियाओं के सम्पादन-क्रम में प्राणी में आता है। स्पष्टतः यह परिमार्जन लगभग स्थायी ढंग का होता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई बच्चा गरम लोहे हो छूता है और उसका हाथ जल जाता है, तो फिर जब कभी उसके सामने गरम लोहा उपस्थित किया जाता है, तब वह उसे कभी नहीं छूता। स्पष्ट है कि उसके पहले व्यवहार में लगभग स्थायी परिवर्तन आ गया। यहाँ यह स्पष्ट कर देना अभीष्ट प्रतीत होता है कि व्यवहार का प्रत्येक परिवर्तन या परिमार्जन सीखना नहीं कहलाता। वस्तुतः मनुष्य के व्यवहार में कुछ ऐसे भी परिवर्तन देखने को मिलते हैं, जो सीखने के कारण नहीं उत्पन्न होते, प्रत्युत परिपक्वता के कारण होते हैं। सीखने की एक प्रमुख विशेषता यह है कि व्यवहार का परिवर्तन प्रगतिशील स्वभाव का होता है। पहली बार की सीखी हुई क्रिया में बार-बार परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए एक नवजाता शिशु यह अच्छी तरह नहीं जानता कि वह क्या खाये और किस प्रकार खाये। सर्वप्रथम वह किसी प्रकार खाना सीख लेता है। लेकिन उसका यह वर्तमान सीखना कालक्रम में परिवर्तित होता जाता है। यदि पहले उसने यह सीखा कि हाथ-पर्र धोकर साफ-सुथरी जगह पर बैठकर खाना चाहिए, तो बाद में उसके इस व्यवहार में सम्भवतः परिवर्तन होता है और वह यह भी सीख लेता है कि कमरे में कुर्सी पर बैठकर चम्मच आदि के सहारे खाना चाहिए। सारांश यह है कि एक बार की सीखी हुई क्रिया में उत्तरोत्तर वृद्धि या उन्नति होती रहती है। इसीलिए व्यवहार के प्रगतिशील परिवर्तन को सीखना कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यदि सीखने की क्रिया का विश्लेषण किया जाय तो उसके अन्तर्गत निम्नांकित बातें पायी जायेगी-

1. अभिनव परिस्थिति की उपस्थिति
2. उस परिस्थिति में अभियोजन के लिए व्यक्ति का प्रयास, उसकी क्रियाशीलता
3. परिणामस्वरूप पूर्वानुभूति एवं व्यवहार में परिवर्तन अथवा परिमार्जन
4. इस परिवर्तन अथवा परिमार्जन का लगभग स्थायी ढंग का होना
5. सीखने में प्रगतिशीलता का वर्तमान रहना

7.3.1 सीखना तथा परिपक्वता-

यह बतलाया जा चुका है कि पूर्व-व्यवहार एवं अनुभूति में परिवर्तन का होना ही 'सीखना' कहलाता है। यह परिवर्तन प्रायः दो कारणों से होता है। पहला परिपक्वता के कारण तथा दूसरा सीखने के कारण। परिपक्वता से हमारा तात्पर्य अंग-प्रत्यंग के स्वाभाविक विकास से है। शरीर के विभिन्न अंगों का यह स्वाभाविक विकास केन्द्रीय स्नायु-मण्डल की समर्थता पर निर्भर करता है। केन्द्रीय स्नायु-मण्डल में उम्र बढ़ने के साथ-साथ स्वयं सामर्थ्य आता जाता है। फलस्वरूप प्राणी के व्यवहार में भी परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के लिए, चलने-फिरने, बोलने, सीखने आदि क्रियाओं में परिपक्वता का विशेष हाथ रहता है। उम्र बढ़ने में सिर्फ अपना सिर उठा पाता है, फिर बैठना शुरू करता है और तब उसमें खड़ा होने, टहलने और दौड़ने की क्रियाएँ भी क्रमशः आ जाती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि चलने-फिरने की क्रिया के लिए हाथ-पैर आदि अंगों की परिपक्वता अनिवार्य है। बालमनोवैज्ञानिकों ने बतलाया है कि बच्चे में भिन्न-भिन्न क्रियाओं का विकास परिपक्वता पर ही निर्भर करता है। अतएवं परिपक्वता के कारण होने वाले व्यवहार के परिवर्तन को सीखने के कारण आये हुए व्यवहार के परिवर्तन से अलग कर देना अनिवार्य है।

सीखना परिपक्वता से भिन्न है। सर्वप्रथम इन दोनों में भिन्नता यह है कि सीखने की क्रिया में बाह्य परिस्थिति के प्रभाव से उत्पन्न प्राणी की क्रियाशीलता विद्यमान रहती है। किन्तु परिपक्वता प्राणी का एक स्वाभाविक विकास-मात्र है। इन दोनों में दूसरा अन्तर यह है कि सीखने के कारण प्राणी में भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाओं का विकास होता है, जो उसके व्यक्तित्व को विशेषता प्रदान करती है। वस्तुतः अपनी विशेषताओं के कारण ही प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे से भिन्न होता है। एक ही प्रकार की प्रतिक्रियाएँ सभी प्राणियों में नहीं पायी जातीं। किन्तु परिपक्वता के कारण उत्पन्न प्रतिक्रियाएँ प्रायः किसी जाति के सभी सामान्य व्यक्तियों में समान रूप से पायी जाती है। उदाहरणार्थ, प्रायः सभी सामान्य बच्चों का परिपक्वता के कारण उत्पन्न भाषा-विकास समान ढंग का ही होता है। एक खास अवस्था होने पर ही वे बोलना शुरू करते हैं।

यद्यपि सीखना तथा परिपक्वता- इन दोनों में कुछ अन्तर है, फिर भी ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी नहीं कहे जा सकते, प्रत्युत इन्हें हम एक ही क्रिया के दो पहलू मान सकते हैं। मनुष्य के व्यवहार का विकास निरन्तर होता रहता है। विकास की यह क्रिया परिपक्वता एवं सीखना, दोनों ही से प्रभावित होती है। वस्तुतः परिपक्वता एवं सीखना-इन दोनों का अन्यन्याश्रय सम्बन्ध है। चलने-फिरने, बोलने आदि क्रियाओं का विकास प्रायः परिपक्वता के कारण होता है। लेकिन ये क्रियाएँ भी बाह्य परिस्थिति के प्रभाव से नहीं बच पातीं। वैसे ही, सीखने की क्रिया पर भी परिपक्वता का प्रभाव पाया जाता है। किसी भी सीखने की क्रिया के लिए एक हद तक परिपक्वता की आवश्यकता पड़ती है और सीखने के साथ-साथ केन्द्रीय स्नायुमण्डल में कुछ सूक्ष्म परिवर्तन भी होते हैं। अतएव परिपक्वता और सीखना, इन दोनों में अन्तर होते हुए भी दोनों एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं।

7.3.2 सीखना एवं अभिप्रेरणा-

सीखना में अनुप्रेरणा का प्रमुख हाथ है। किसी भी प्रकार का सीखना अनुप्रेरणा के बिना सम्भव नहीं है। अनुप्रेरणा प्राणी को क्रियाशीलता बनाती है और उसे एक निश्चित दिशा की ओर ले जाती है। उसकी यह क्रियाशीलता तब तक जारी रहती है जब तक उसे सन्तोष प्राप्त नहीं हो जाता। उदाहरण के लिए , भूख से प्रेरित होकर प्राणी भोजन पाने के लिए क्रियाशील हो जाता है। उसकी यह क्रियाशीलता तब तक जारी रहती है, जब तक वह भोजन पाकर अपनी क्षुधा को तृप्त नहीं कर लेता। अनुप्रेरणा प्राणी की आन्तरिक स्थिति का बोध कराती है, जैसे-भूख-प्यास, यौन-वृत्ति इत्यादि।

1) **पुरस्कार एवं दण्ड-** सीखने के सम्बन्ध में किये गये मनोवैज्ञानिक प्रयोगों के आधार पर पाया गया है कि पशु प्रायः उन पुरस्कारों से अधिक प्रेरित होते हैं जो उनकी बुनियादी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ, भोजन, पानी आदि पुरस्कारों से उन्हें कार्य करने की प्रेरणा मिलती है, क्योंकि इनसे उनकी भूख-प्यास आदि बुनियादी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। क्षुधातृप्त मानव अधिकतर भौतिक तथा सामाजिक पुरस्कारों से प्रेरित होकर कोई काम करता है। धन-सम्पत्ति, भौतिक पुरस्कार, मान-प्रतिष्ठा, सामाजिक पुरस्कार हैं। थौर्नडाइक ने चूहे और बिल्लियों पर अनुप्रेरणा सम्बन्धी अनेक प्रयोग किये। उन प्रयोगों के आधार पर यह पाया गया कि जब भूखी बिल्ली या भूखे चूहे को पुरस्कार के तौर पर भोजन दिया गया, तब उन्होनं उलझन बॉक्स से बाहर निकलना या भूल-भूलैया में सही रास्ते से जाना आसानी से सीख लिया। भोजन द्वारा अपुरस्कृत बिल्ली एवं चूहों की अपेक्षा पुरस्कृत बिल्ली एवं चूहों ने कम गलतियाँ की और थोड़े समय में ही कार्य सम्पादित करना सीख लिया। 'प्रयत्न और भूल-विधि' के विवेचन के समय यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी।

मनुष्य के सीखने में धन-सम्पत्ति एवं प्रशंसा प्रभावशाली पुरस्कार सिद्ध हुए हैं। अनेक प्रयोगों में यह पाया गया है कि धन-सम्पत्ति एवं प्रशंसा से पुरस्कृत व्यक्ति अपुरस्कृत व्यक्ति की अपेक्षा किसी कार्य को जल्द सीख लेता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सीखने में केवल पुरस्कार

उतना प्रभावात्पादक नहीं होता, जितना कि दण्ड के साथ दिया गया पुरस्कार। इस सम्बन्ध में पशुओं तथा मनुष्यों पर कई प्रयोग किये गये हैं तथा सीखने में दण्ड एवं पुरस्कार के प्रभावों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इन प्रयोगों में दण्ड के रूप में प्रायः विद्युत-आघात का प्रयोग किया गया है। इन सभी प्रयोगों में प्रायः गलत प्रतिक्रियाओं के लिए दण्ड दिया जाता है तथा सही प्रतिक्रियाओं के लिए पुरस्कार। दण्ड का फल यह होता है कि गलत प्रतिक्रियाएँ क्रमशः खत्म होती जाती हैं। किन्तु इन प्रयोगों से दण्ड का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित नहीं हो पाता। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि केवल पुरस्कार की अपेक्षा दण्ड के साथ दिया गया पुरस्कार अधिक प्रभावोत्पादक होता है। इसके सिवा, कुछ और भी आवश्यक स्थितियाँ हैं, जो मनुष्य के सीखने में सहायता पहुँचाती हैं। वे हैं-

2) **प्रशंसा तथा निन्दा-** सफल कार्यों के लिए प्रशंसा तथा असफल कार्यों के लिए निन्दा, इन दोनों का सीखने वाले पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह एक विचारणीय प्रश्न हैं इस सम्बन्ध में किये गये मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से ज्ञात होता है कि प्रयत्न के प्रारम्भ में प्रशंसित तथा निन्दित, दोनों दलों के व्यक्तियों के कार्यों में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। किन्तु बाद के प्रयत्नों में प्रशंसित दल के व्यक्तियों के कार्यों में क्रमशः उन्नति दिख पड़ती है तथा निन्दित दल के व्यक्तियों के कार्यों में अवनति। स्पष्ट है कि निन्दा की अपेक्षा प्रशंसा सीखने के लिए प्रभावोत्पादक प्रेरणा है।
3) **फल का ज्ञान-** फल का ज्ञान हुए बिना कार्य कुशलता सम्भव नहीं है। जब मनुष्य कोई कार्य करता है, तब उस कार्य के फल को जानने की उसकी इच्छा रहती है। फल जान लेने से उसे प्रोत्साहन मिलता है और वह अपनी पूरी शक्ति के साथ कार्य सम्पन्न करने की चेष्टा करता है। इस विषय पर खोज करने वाले ने बतलाया है कि फल के ज्ञान से कार्य में उन्नति होती है। सम्भवतः मनुष्य अपने प्रयासों के फल जान लेने पर सफल प्रयासों को दुहराता है और असफल प्रयासों में सुधार लाने की चेष्टा करता है। फलस्वरूप, उसे कार्य में कुशलता प्राप्त होती है।

7.4 सीखने का सिद्धान्त

सीखना एक सतत प्रक्रिया है। यह जीवन भर चलती रहती है। व्यक्ति अपनी पूरी जिन्दगी में अंतिम सांस तक कुछ-न-कुछ सीखता रहता है। वह नये-नये अनुभवों, क्रियाओं, कौशलों व मूल्यों को सीखता है। इससे उसके व्यवहार में स्थायी परिवर्तन या परिमार्जन होता है। अतः हम कह सकते हैं कि पर्यावरण के उद्धीपकों तथा प्रशिक्षण के फलस्वरूप नये कौशलों को अर्जित करना सीखता है। परन्तु, प्रश्न उठता है कि जीव क्या और कैसे सीखता हैं? इसके उत्तर में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने अपने-अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। सीखने के स्वरूप, सीखने की विधि आदि का वर्णन प्रत्येक सिद्धान्त अलग-अलग ढंग से करता है। इन सिद्धान्तों में से निम्नलिखित दो सिद्धान्तों का वर्णन यहां विस्तृत रूपसे किया जा रहा है- प्रयास और भूख का सिद्धान्त तथा सूझ या अन्तर्दृष्टि सिद्धान्त।

7.4.1 प्रयास और भूल का सिद्धान्त-

प्रयास और भूल के सिद्धान्त के समुचित परिज्ञानके लिए इसके क्रमिक विकास के इतिहास पर दृष्टिपात करना आवश्यक जान पड़ता है। प्रयास और भूल का सर्वप्रथम प्रयोग अलेक्जेंडर बेन ने अपने 'रचनात्मक बुद्धि' के सिद्धान्त में किया था। उन्होंने बतलाया कि कलाकार अथवा आविष्कार के लिए दो बातें आवश्यक होती हैं- पहली तो यह कि उसे जिन तत्वों का प्रयोग करना है उनसे वह भलीभाँति परिचित हो और दूसरी यह कि वह कोई भी कार्य लक्ष्य-प्राप्ति अथवा अभिप्राय-सिद्धि की भावना से अनुप्रेरित होकर सम्पादित करे। ऐसी अवस्था में, बेन का कहना है कि उसे प्रयत्न और भूल का सहारा लेना पड़ेगा। वस्तुतः लक्ष्य-प्राप्ति की भावना से अनुप्रेरित होकर किये गये सभी कठिन कार्यों में प्रयत्न और भूल का सहारा लेना उपयोगी सिद्ध हुआ है।

पशु-मनोविज्ञान में इस विचार का प्रथम प्रयोग लॉयड मॉर्गन ने किया था। लॉयड मार्गन के पहले के विचारक यह मानते थे कि मनुष्य की भाँति पशुओं में भी विचारने और तर्क करने की शक्ति होती है। उन विचारकों के इस विश्वास के मूल में पशु की बुद्धि अथवा तर्क-सम्बन्धी अनेक कहानियाँ थी। निसन्देह, उन विचारकों के कथन में वैज्ञानिकता का सर्वथा अभाव था। अतएव लॉयड मॉर्गन ने उनके विचारों का खण्डन किया और और स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि पशु सीखनेमें बुद्धि अथवा तर्क आदि का सहारा नहीं लेता, बल्कि वह कोई भी कार्य प्रयत्न और भूल के द्वारा सीखता है। अभ्यास करते-करते पशु क्रमशः किसी कार्य में कुशलता प्राप्त कर लेता है। लॉयड मॉर्गन ने मनुष्य के सीखने में भी प्रयत्न और भूल के महत्व की ओर संकेत किया। उन्होंने यह बतलाया कि यद्यपि मनुष्य किसी कार्य में निपुणता प्राप्त करने के लिए कुछ नियमों और सिद्धान्तों को दृष्टिकोण में रखता है, लेकिन फिरभी कार्य-कुशलता तभी आती है जब वह प्रयत्न करता है, विफल होता है और फिर-फिर प्रयत्न करता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने कार्य में कुशलता प्राप्त करने के लिए अभ्यास को प्रधान माना है।

लॉयड मॉर्गन के विचारों से थौर्नडाइक बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने शीघ्र ही (1898) कुछ समस्या-समाधान-सम्बन्धी प्रयोगों का निर्माण किया और प्रयोगशाला की नियन्त्रित अवस्थाओं में चूहे, बिल्ली आदि पशुओं पर प्रयोग किये। अपने प्रयोग-फलों के आधार पर उन्होंने प्रयत्न और भूल का बड़े ही जोरदार शब्दों में समर्थन किया है। किन्तु, उन्होंने प्रयत्न और भूल शब्द का प्रयोग नहीं करके 'प्रयत्न और आकस्मिक सफलता' का प्रयोग किया है तथा इसे 'विचारों के द्वारा सीखने' से भिन्न बतलाया है। अपने प्रयोगों के आधार पर थौर्नडाइक ने सीखने के इस सिद्धान्त को व्यापक रूप दिया है। अब हम थौर्नडाइक द्वारा प्रस्तुत किये गये कुछ प्रयोगों के आधार पर प्रयत्न और भूल के सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

1) **उलझन-बॉक्स की समस्या-** थौर्नडाइक द्वारा किये गये प्रयोगों की चर्चा करने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि समस्या किसे कहते हैं। मनोविज्ञान में समस्या से ऐसी नयी

परिस्थिति का बोध होता है, जिससे प्राणी (पशु एवं मनुष्य) पहले से अनभिज्ञ रहता है तथा जिससे किसी विशेष प्रकार के लक्ष्य की प्राप्ति की कामना करता है। इस तरह की समस्या उपस्थित होने पर प्राणी प्रायः उसका समाधान प्रयत्न और भूल अथवा 'सूझ' के द्वारा करता है। थौर्नडाइक का कहना है कि उलझन-बॉक्स की समस्या उपस्थित होने पर पशु प्रयत्न और भूल के द्वारा ही उसका समाधान करते हैं। इस सम्बन्ध में बिल्लियों पर किये गये उनके प्रयोग बड़े प्रसिद्ध हैं।

एक भूखी बिल्ली को उलझन-बॉक्स में छोड़ दिया गया। उसका दरवाजा इस प्रकार बना हुआ था कि भीतर के एक बटन को दबाने से वह खुल सकता था। उलझन-बॉक्स के बाहर एक मछली का टुकड़ा रख दिया गया। बिल्ली के सामने समस्या यह थी कि वह उलझन-बॉक्स से बाहर निकलकर मछली खा ले और इस प्रकार अपनी भूख मिटाये। उलझन-बॉक्स में बन्द होते ही बिल्ली बाहर आने के लिए बेचैन हो गयी तथा भूख और बेचैनी से अनुप्रेरित होकर उलझन-बॉक्स के दरवाजे को खोलने के निमित्त उसमें इधर-उधर कूद मचाने लगी। वह उलझन-बॉक्स के भिन्न-भिन्न भागों को दबाती रही और उससे बाहर निकलने का प्रयास करती रही। उसके इस व्यर्थ प्रयासों के सिलसिले में संयोगवश उसका पंजा बटन के ऊपर पड़ गया और उलझन-बॉक्स का दरवाजा खुल गया। बिल्ली उलझन-बॉक्स से बाहर निकल आयी और मछली खाकर उसने अपनी भूख मिटायी। इस प्रयोग को उस बिल्ली पर लगातार कई दिनों तक दुहराया गया। इसका फल यह हुआ कि दरवाजा खोलने में व्यर्थ प्रयासों की संख्या क्रमशः कम होती गयी। अन्ततोगत्वा बिना व्यर्थ प्रयास अथवा किसी गलती के ही बिल्कुल थोड़े समय में उलझन-बॉक्स का दरवाजा खोलना, बिल्ली ने सीख लिया। बिल्ली के इस सीखने की व्याख्या थौर्नडाइक ने प्रयत्न और भूल के आधार पर की है। उनका कहना है कि बिल्ली ने बार-बार प्रयत्न किया, अनेक भूलें हुई, भूलों की संख्या धीरे-धीरे कम होती गयी और तब आखिर में उसने दरवाजा खोलना सीखा। थौर्नडाइक के इस प्रयोग का विश्लेषण करने पर इसमें निम्नांकित बातें मिलती हैं-

i. प्रारम्भ में व्यर्थ प्रयास अधिक हुए।
ii. संयोगवश सही प्रतिक्रिया हो गयी।
iii. एक बार सही प्रतिक्रिया हो जाने पर आगे के प्रत्येक प्रयत्न में व्यर्थ प्रयासों की संख्या क्रमशः कम होती गयी और सही प्रतिक्रिया की सम्भावना बढ़ती गयी।
iv. आगे के प्रत्येक प्रयत्न में क्रमशः कम समय में सही प्रतिक्रिया का सीखना सम्पन्न होता गया।

2) **भूलभूलैया सीखने की समस्या-** थौर्नडाइक ने चूहों पर भी कई प्रयोग किये। उन प्रयोगों में थौर्नडाइक के चूहों के सामने समस्या यह थी कि वे सही मार्ग से दौड़कर भूलभूलैया के मध्य में रखी गयी भोजन की सामग्री को खा लें। थौर्नडाइक के इस प्रकार के एक प्रयोग का उल्लेख यहां किया जाता रहा है। एक भूलभूलैया के मध्य में पनीर का टुकड़ा रख दिया गया और भूखे चूहे

को उस भूलभूलैया के प्रवेशद्वार पर छोड़ दिया गया। उसमें अनेक अन्धे-पथ भी थे, जिनसे होकर जाने से रास्ते में रूकावटें मिलती थीं। फलतः चूहे को फिर-फिर प्रवेशद्वार पर लौट आना पड़ता था। चूहा बार-बार यह प्रयत्न करता था कि वह भूलभूलैया के मध्य में पहुँचकर पनीर को खा ले। किन्तु प्रत्येक बार उसे असफलता ही हाथ लगती थी। कारण, वह कोई अन्धे पन्थ पकड़कर गन्तव्य स्थान पर पहुँचने की चेष्टा करता था। इस प्रकार वह बहुत देर तक प्रयत्न करता रहा। इन प्रयत्नों के सिलसिले में उसे संयोगवश सही मार्ग मिल गया और वह भूलभुलैया के मध्य में पनीर के समीप पहुँच गया तथा पनीर के टुकड़े को खाकर उसने अपनी भूख मिटायी। इस प्रयोग को उस चूहे पर लगातार कई दिनों तक दुहराया गया। इसका फल यह हुआ कि प्रत्येक प्रयत्न में गलतियों की संख्या कम होती गयी, अर्थात् चूहा अन्धे-पथों का परित्याग करता गया तथा सही प्रतिक्रिया की सम्भावना बढ़ती गयी और चूहा सही मार्ग को अपनाता गया। इसके सिवा, प्रत्येक प्रयत्न में क्रमशः कम समय में ही चूहे ने सही मार्ग पकड़कर भूलभुलैया के मध्य भाग में पहुँचकर पनीर खाना सीख लिया। इस प्रकार के कई प्रयत्नों के बाद आखिर में बिना गलती के ही थोड़े समय के भीतर सही मार्ग अपनाकर पनीर के नजदीक तक पहुँचना, चूहे ने सीख लिया। चूहे की इस सीखने की व्याख्या थौर्नडाइक ने प्रयत्न और भूल के आधार पर की है। थौर्नडाइक के इस प्रयोग का विश्लेषण करने पर भी ठीक वे ही चार बातें मिलेंगी जो बिल्ली के ऊपर किये गये उनके प्रयोग के सम्बन्ध में ऊपर बतलायी जा चुकी हैं।

उपर्युक्त प्रयोग के आधार पर थौर्नडाइक ने यह पाया कि पशु गलत प्रतिक्रियाओं का क्रमशः परित्याग करते जाते हैं तथा सही प्रतिक्रियाओं को अपनाते जाते हैं। अब प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों होता है? इसके उत्तर में थौर्नडाइक ने 'प्रभाव-नियम' को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि गलत प्रतिक्रियाओं से प्राणी की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती तथा उसे असन्तोष प्राप्त होता हैं अतः वह उन्हें छोड़ देता है। इसके विपरीत, सही प्रतिक्रियाओं से उसकी आवश्यकताओं की प्रर्ति होती है तथा सन्तोष प्राप्त होता है। अतएवं वह उन्हें अपना लेता है। प्रभाव का नियम सीखने का एक महत्वपूर्ण नियम साबित हुआ जिसका आधार थौर्नडाइक का यही प्रयोग था।

इन प्रयोगों से यह भी स्पष्ट झलकता है कि एक बार सही प्रतिक्रिया मिल जाने से ही किसी कार्य-विशेष में निपुणता नहीं प्राप्त हो जाती, बल्कि उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता होती है। बार-बार दुहराने से ही कार्य कुशलता प्राप्त होती है। इसे ही थौर्नडाइक ने 'अभ्यास-नियम' की संज्ञा दी जिसे सीखने का दूसरा महत्वपूर्ण नियम कहते हैं।

उपर्युक्त प्रयोगों को दृष्टि में रखते हुए प्रयास और भूल द्वारा सीखने में निहित प्रमुख तत्वों को एक अनुक्रम के रूप में इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है-

(क) अभिप्रेरणा- सीखने वाले प्राणी में लक्ष्य-प्राप्ति के लिए अभिप्रेरणा अनिवार्य है। बिना अभिप्रेरणा के सीखने की क्रिया नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए , यदि पूर्ण रूप से सन्तुष्ट

बिल्ली को, जो बन्धन में रहने की आदि हो, उलझन-बॉक्स में रखा जाय, तो उसमें सीखने की क्रिया नहीं हो सकती क्योंकि अभिप्रेरणा के अभाव में वह क्रियाशील होगी ही नहीं। इसीलिए, थौर्नडाइक के प्रयोग में बिल्ली भूखी रखी गयी थी। फलस्वरूप, उसने भूख से अभिप्रेरित होकर उलझन-बॉक्स से बाहर निकल आने का प्रयास शुरू कर दिया।

(ख) प्रेरक वृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए नये ढंग के अभियोजन अर्जित करने की समस्या- जब नयी परिस्थिति में सीखने वाला प्राणी अपनी प्राचीन सामान्य रीतियों से प्रेरक वृत्ति को सन्तुष्ट नहीं कर पाता, तब उसके समक्ष नये ढंग के अभियोजन अर्जित करने की समस्या उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिए, जब बिल्ली सामान्य रीतियों से अपनी भूख नहीं मिटा पाती, तब उसे नयी रीति की खोज करनी पड़ती है और इस प्रकार वह अपने को उस नयी परिस्थिति में अभियोजित करने की चेष्टा करती है।

(ग) विविध प्रकार की प्रतिक्रियाएँ- सीखने के क्रम में सीखने वाला प्राणी विविध प्रकार की प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करता है। उनमें से कुछ प्रतिक्रियाएँ सही होती हैं। और कुछ गलत। सही प्रतिक्रिया की कसौटी यह है कि वह प्राणी को लक्ष्य की ओर ले जाने वाली है या नहीं। यदि वह प्राणी को लक्ष्य की ओर ले जाने वाली है, तब तो सही प्रतिक्रिया कही जायेगी। यहाँ यह स्मरणीय है कि अन्य प्रतिक्रियाएँ भी बिल्कुल लक्ष्यहीन अथवा निरर्थक नहीं होतीं। वे निरर्थक केवल इसी अर्थ में कही जा सकती हैं कि उस अवस्था तक सही प्रतिक्रिया की खोज नहीं हुई रहती है। उदाहरण के लिए, थौर्नडाइक के प्रयोग में बिल्ली की सारी प्रतिक्रियाएँ भोजन लक्ष्य की ओर निर्देशित कही जा सकती हैं।

(घ) अचानक सफलता- विविध प्रकार की प्रतिक्रियाओं के क्रम में अचानक सही प्रतिक्रिया हो जाती हैं उदाहरण के लिए, उलझन-बॉक्स से बाहर निकलने के लिए विविध प्रकार की प्रतिक्रियाएँ करते-करते बिल्ली से एकाएक बटन का दब जाना अचानक सफलता कही जायेगी।

(च) सही प्रतिक्रिया का चुनाव तथा गलत प्रतिक्रियाओं का परित्याग- एक बार सही प्रतिक्रिया हो जाने पर प्राणी उसे ही करने की चेष्टा करता है तथा गलत प्रतिक्रियाओं का परित्याग करता है। फलतः आगे के प्रत्येक प्रयत्न में गलत प्रतिक्रियाओं की संख्या कम होती जाती है तथा सही प्रतिक्रिया की सम्भावना बढ़ती जाती है। अन्ततोगत्वा गलत प्रतिक्रियाएँ बिल्कुल समाप्त हो जाती हैं तथा सही प्रतिक्रिया होने लगती हैं प्रतिक्रियाओं का सीखा जाना अथवा उनका परित्याग इस बात पर निर्भर है कि वे कैसा प्रभाव उत्पन्न करती हैं। थौर्नडाइक ने इसकी व्याख्या प्रभाव-नियम के आधार पर की है।

(छ) सही प्रतिक्रिया का स्थिरीकरण- जब एक बार सही प्रतिक्रिया चुन ली जाती है तब प्राणी उसे बार-बार सम्पन्न करने की चेष्टा करता है। इस अभ्यास के फलस्वरूप वह प्रतिक्रिया उसमें

भलीभाँति स्थापित हो जाती है। तब बिना गलती के और कम समय में ही प्राणी उसे सम्पन्न करना सीख जाता है। थौर्नडाइक के प्रयोगों से यह बिल्कुल स्पष्ट है।

'प्रयास और भूल' विधि सिर्फ पशुओं के सीखने में ही नहीं पायी जाती, वरन मनुष्य भी प्रयत्न और भूल द्वारा ही अनेक समस्याओं का समाधान करना सीखते हैं। अनेक प्रयोगों में यह पाया गया है कि भूलभुलैया एवं उलझन-बॉक्स की समस्याओं का समाधान करने में मनुष्य भी पशु की ही भाँति प्रयास और भूल का सहारा लेते हैं।

3) **मनुष्य का भूलभुलैया सीखना-** मनुष्य कैसे सीखता है, यह जानने के लिए कई प्रकार की भूलभुलैयों का निर्माण किया गया है। इन भूलभुलैयों के सहारे मनुष्य के सीखने की परीक्षा की गयी हे। भूलभुलैया-सम्बन्धी प्रयोगों में प्रायः प्रयोज्य की आँखें बन्द रखी जाती हैं इन प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य का सीखना भी बहुत-कुछ चूहे के भूलभुलैया सीखने के समान ही होता है। दूसरे शब्दों में, पशु एवं मनुष्य दोनों ही प्रयत्न और भूल के द्वारा सीखते हैं।

चूहे के समान ही भूलभुलैया का प्रयोग मनुष्य के सीखने में भी किया गया है। जब कुछ विद्यार्थियों ने भूलभुलैया में चूहे को सूझरहित व्यर्थ प्रयास करते हुए देखा, तब उन्हें आश्चर्य हुआ। किन्तु, जब उनके सामने ठीक वैसी ही भूलभुलैया की समस्या प्रस्तुत की गयी, तब उन्होंने भी चूहे की तरह ही स्पष्टतः प्रयत्न और भूल से काम लिया। प्रारम्भ में उनसे भी अनेक गलतियाँ हुई, परन्तु अभ्यास के साथ-साथ क्रमशः गलतियों की संख्या कम होने लगी और समय भी कम लगने लगा। कुछ प्रयत्नों के बाद उन्होंने भूलभुलैया की समस्या को सुलझाना सीख लिया। चूहे और उन विद्यार्थियों के भूलभुलैया सीखने की तुलना करने पर यह कहा जा सकता है कि दोनों के सीखने में प्रयत्नों की संख्या तथा समय में कोई विशेष अन्तर नहीं पाया जाता। इस तरह के सीखने में कभी-कभी चूहे आगे बढ़ जाते हैं, तो कभी-कभी विद्यार्थी।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि पशु एवं मनुष्य (चूहे और विद्यार्थी), दोनों के सीखने में कोइ मौलिक अन्तर नहीं है और जो कुछ अन्तर की गुंजाइश जान पड़ती है, वह भी इसलिए कि किसी भी सीधी जाने वाली परिस्थिति के कुछ पहलू तो मानव के अनुकूल होते हैं, और कुछ पशु के। उनमें से प्रधान ये हैं-

मनुष्य पशु की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान एवं तर्कशील होता है। उसमें भाषा की अपूर्व क्षमता पायी जाती है, जिसका पशु में नितान्त अभाव रहता है। अपनी बुद्धि, तर्कशीलता एवं भाषा की योग्यता का प्रयोग कर मनुष्य पशु की अपेक्षा किसी परिस्थिति को समझने में अधिक सफल होता है। भूलभुलैया के प्रयोगों से स्पष्ट है कि भूलभुलैया सीखने की अनुप्रेरणा पशु में मनुष्य की अपेक्षा अधिक होती है। भूलभुलैया में दौड़नेवाला भूखा पशु भूलभुलैया के मध्य में पहुँचकर भोजन पा लेना जीवन-रक्षा के लिए अति आवश्यक समझता है। मनुष्य को भूलभुलैया सीखते समय ऐसी

प्रबल प्रेरणा नहीं होती। पशु के पक्ष में दूसरी प्रधान बात यह है कि मनुष्य की अपेक्षा उसका ध्यान प्रस्तुत समस्या पर अधिक केन्द्रीभूत रहता है। उसका ध्यान वातावरण की बाधक उत्तेजनाओं पर अधिक नहीं जाता। मनुष्य सीखते समय प्रायः प्रस्तुत समस्या से ऊबकर दिवा-स्वप्नों में विचरण करने लगता है। तीसरी बात यह है कि पशु विराम विधि से सीखता है और मनुष्य अविराम विधि द्वारा सीखता है। पशु प्रायः भूलभुलैया सीखने में एक दिन एक ही प्रयत्न करता है और इस प्रकार के कई दिनों के प्रयत्नों के बाद उसे सीखता है। किन्तु मनुष्य प्रायः एक ही दिन में बार-बार प्रयत्न कर उसे सीख लेता है। आगे यह बताया जायेगा कि सीखने की विराम-विधि अविराम-विधि से क्यों श्रेष्ठतर होती है।

4) **उलझन-बॉक्सकी समस्याएँ तथा अन्य कठिन कार्य-** भूलभुलैया की तरह उलझन-बॉक्सकी समस्याओं को सीखने में भी मनुष्य प्रयत्न और भूल का सहारा लेता है। इतना ही नहीं, अन्य कठिन एवं जटिल कार्यों में निपुणता प्राप्त करने के लिए भी उसे इसी विधि का सहारा लेना पड़ता है। उदाहरण के रूप में टाइप करना सीखना, साइकिल चलाना सीखना तथा हारमोनियम या सितार बजाना सीखना आदि कार्य लिये जा सकते हैं। इन कार्यों में कुशलता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न और भूल का अनुसरण करना अति आवश्यक है। यदि किसी को साइकिल पर सवार व्यक्ति का चित्र दिखला दिया जाय अथवा वह वास्तव में साइकिल पर चढ़कर जाते हुए किसी व्यक्ति को देख ले, तो भी उसे एकाएक साइकिल चलाना नहीं आ सकता। उसे स्वयं कई बार प्रयत्न करना पड़ेगा, अनेक भूलें होंगी, बार-बार साइकिल से जमीन पर गिरेगा और तब कई प्रयत्नों के बाद ही उसे निपुणता प्राप्त हो सकेगी। यही बात टाइप करना तथा हारमोनियम या सितार बजाना आदि सीखने में भी लागू होगी। संक्षेप में मनुष्य अपने प्रतिदिन के जीवन में अधिकांश कार्यों को प्रयत्न और भूल के द्वारा सीखता है।
5) **प्रयत्न और भूल सिद्धान्त की समीक्षा-** प्रयत्न और भूल के सम्बन्ध में कई प्रकार की गलतफहमियाँ हैं। सबसे प्रधान गलतफहमी यह है कि प्रयत्न और भूल का सिद्धान्त यह बतलाता है कि पशु अथवा मनुष्य किसी नयी समस्या के सीखने में परिस्थिति को समझने का प्रयास किये बिना ही व्यर्थ प्रयत्न करना प्रारम्भ कर देता है। वस्तुतः यह धारणा मान्य नहीं हो सकती। कई मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से ऐसा ज्ञात होता है कि पशु अथवा मानव नवीन परिस्थिति की वस्तुस्थिति को समझते हुए ही उस परिस्थिति में अपना व्यवहार प्रकट करता है। एडम्स ने थौर्नडाइक के प्रयोग को दुहराने पर पाया कि पशु किसी नयी परिस्थिति में उस परिस्थिति की कुछ निश्चित वस्तुओं को ध्यान में रखकर ही अपना व्यवहार प्रकट करता है। तात्पर्य यह है कि उसके व्यवहार निरर्थक नहीं होते, वरन् सार्थक एवं निश्चित वस्तुओं से सम्बन्धित होते हैं। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि लक्ष्य प्राप्त होने के पहले कई प्रकार के व्यवहार करने पड़ते हैं। जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता है, वैसे-वैसे विभिन्न प्रकार के परिवर्तनशील व्यवहारों की संख्या कम होती

जाती है। और अन्त में, इस प्रकार के व्यवहार बिल्कुल कम हो जाते हैं तथा पशु अथवा मानव सही प्रतिक्रिया सीख जाता है।

प्रयत्न और भूल सिद्धान्त के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यह सिद्धान्त इस बात का वर्णन करता है कि पशु अथवा मानव किस प्रकार सीखता है, यह नहीं बतलाता कि वह क्यों सीखता है, अर्थात् उसके सीखने के लिए कौन-कौन से तत्व आवश्यक हैं। संक्षेप में यह सिद्धान्त सीखने के ढंग का वर्णन मात्र करता है, सीखने की पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता। इसलिए इसे वर्णनात्मक कहा गया है न कि व्याख्यात्मक।

7.4.2 अन्तर्दृष्टि अथवा सूझ का सिद्धान्त-

अन्तर्दृष्टि अथवा सूझ के सिद्धान्त का प्रतिपादन जर्मनी के प्रसिद्ध गेस्टॉल्टवादी मनोवैज्ञानिक कोहलर ने किया था। कोहलर ने अपने प्रयोग के आधार पर यह प्रतिपादित किया कि पशु अथवा मनुष्य 'सूझ' के द्वारा सीखता है, न कि प्रयास और भूल के द्वारा। उन्होंने 'सूझ' के द्वारा सीखने को 'प्रयास और भूल' के द्वारा सीखने से भिन्न बतलाया है। सूझ की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्वयं कहा है कि सूझ एक ऐसी प्रतिक्रिया है जो समस्त परिस्थिति के निरीक्षण के फलस्वरूप एकाएक उत्पन्न होती है तथा लक्ष्य की प्राप्ति तक अविराम गति से चलती रहती है। सूझ की इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर स्पष्टतः इसमें तीन बातें दृष्टिगत होती हैं-

i. सीखने वाले के समक्ष परिस्थिति स्पष्ट रूप से वर्तमान रहे, जिससे वह उस परिस्थिति के सभी पहलुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को भलीभाँति समझ सके। परिस्थिति के इस विशेष प्रकार के निरीक्षण के फलस्वरूप ही सीखने वाले में सूझ उत्पन्न होती है।
ii. सूझ एक ऐसी प्रतिक्रिया है जो एकाएक उत्पन्न होती है।
iii. एक बार उत्पन्न होने के बाद सूझ की प्रतिक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो जाती।

सूझ की उपर्युक्त परिभाषा में यदि पहली बात को आवश्यक मान लिया जाये, जैसा कि कोहलर ने कहा है, तो फिर सूझ के द्वारा सीखना दृष्टि-संवेदनाओं तक ही सीमित रह जायेगा। यह सिर्फ सीखने के उन्हीं व्यवहारों की व्याख्या में समर्थ हो सकेगा, जो दृष्टि-संवेदनाओं से उत्पन्न होते हैं। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या सूझ, जिसके आधार पर कोहलर ने पशु अथवा मनुष्य में सभी प्रकार के सीखने की व्याख्या की है, इतनी संकुचित एवं सीमित हो सकती है? उत्तर होगा नहीं। वास्तव में,सूझ की यह विशेषता मान्य नहीं हो सकती। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूझ एक ऐसी प्रतिक्रिया है, जो एकाएक उत्पन्न होती है और तब तक चलती रहती है जब तक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो जाती।

सूझपूर्ण सीखने की व्याख्या करते हुए यर्क्स ने उसमें निम्नांकित विशेषताओं का उल्लेख किया है-

(ख) **समस्यापूर्ण परिस्थिति की छानबीन-** सीखने वाला सर्वप्रथम परिस्थिति के सारे पहलुओं पर गौर करता है तथा उसके पारस्परिक सम्बन्ध को समझने की चेष्टा करता है।

(ग) **हिचकिचाहट, विश्राम तथा एकाग्रचित्त होकर ध्यान देने की मनोवृत्ति-** इस अवस्था में सीखने वाला हिचकिचाहट प्रकट करता है, उसे विश्राम अच्छा लगता है तथा वह एकाग्रचित्त होकर समस्यापूर्ण परिस्थिति पर ध्यान देता है।

(घ) **उपयुक्त प्रतिक्रिया प्रकट करने की चेष्टा-** इस अवस्था में सीखने वाला उपयुक्त प्रतिक्रिया प्रकट करने का प्रयास करता है।

(ङ) **पहली प्रतिक्रिया के अनुपयुक्त सिद्ध होने पर अन्य प्रतिक्रियाएँ-** यदि पहली प्रतिक्रिया अनुपयुक्त सिद्ध होती है, तो सीखने वाला दूसरी तरह की प्रतिक्रियाएँ प्रकट करता है।

(च) **लक्ष्य पर निरन्तर ध्यान तथा उससे उत्पन्न अनुप्रेरणा-** सीखने वाला इस बात के लिए सदैव सतर्क रहता है कि उसका अन्तिम अभिप्राय अथवा लक्ष्य क्या है? लक्ष्य की ओर निरन्तर ध्यान रहने से उपयुक्त प्रतिक्रिया प्रकट करने की अनुप्रेरणा होती है।

(छ) **एकाएक उपयुक्त प्रतिक्रिया का प्रकट होना-** लक्ष्य को दृष्टिकोण में रखकर प्रयत्न करते-करते एकाएक सीखने वाले को सही प्रतिक्रिया सूझ जाती है और वह निश्चित रूप से सही प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करता हैं।

(ज) **उपयुक्त प्रतिक्रिया की पुनरावृत्ति-** एक बार उपयुक्त प्रतिक्रिया हो जाने पर सीखने वाला उसे बार-बार दुहराता है।

(झ) **समस्यापूर्ण परिस्थिति के आवश्यक पहलुओं पर ध्यान देने तथा आवश्यक पहलुओं को त्याग देने की योग्यता-** सूझपूर्ण सीखने की इस अन्तिम विशेषता का तात्पर्य यह है कि सीखने वाले में ऐसी क्षमता आ जाती है कि वह परिस्थिति के आवश्यक पहलुओं को अनावश्यक पहलुओं से अलग कर देता है।

1) **कोहलर के प्रयोग-** सूझ के स्वरूप पर प्रकाश डालने के उपरान्त कोहलर के द्वारा किये गये प्रयोग का उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है। कोहलर ने अपने प्रयोगों के आधार पर ही 'सूझ' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उन्होंने अपने प्रयोग वनमानुषों पर किये। प्रयोग करते समय उन्होंने परिस्थिति को यथासम्भव स्वाभाविक रखा। उन्होंने वनमानुषों के सामने कुछ समस्याएँ प्रस्तुत कीं। वनमानुषों ने जिस प्रकार समस्याओं का समाधान किया, उनकी व्याख्या करते हुए कोहलर ने बतलाया है कि वनमानुषों ने बुद्धि अथवा सूझ का सहारा लिया और तभी समस्याओं का समाधान सम्भव हो सका।

एक भूखे वनमानुष को पिंजड़े में बन्द कर दिया गया। पिंजड़े के बाहर एक केला इतनी दूरी पर रखा गया कि वनमानुष उसे हाथों अथवा पैरों से खींचकर न पा सके। पिंजड़ा इस प्रकार का बना हुआ था कि वनमानुष पिंजड़े के भीतर से बाहर रखे हुए केले को आसानी से देख सकता था। पिंजड़े के एक कोने में एक डण्डा रख दिया गया। उस वनमानुष के सामने समस्या यह थी कि वह केले को किस प्रकार खींचकर खा ले। वनमानुष ने शुरू में कई बार पिंजड़े की छड़ों से बाहर अपने हाथ-पैर फैलाकर केला खींचने की चेष्टा की, किन्तु हर बार वह असफल हुआ। तब वह कुछ क्षणों तक चुपचाप बैठा रहा। फिर एकाएक उसने डण्डा उठाकर केले को खींच लिया तथा उसे खा गया।

दूसरे प्रयोग में कोहलर ने परिस्थिति में थोड़ा परिवर्तन कर दिया। अब एक डण्डे के बादले पिंजड़े में दो डण्डे रख दिये गये। प्रयोग उसी वनमानुष पर किया गया, जिसने बाहर रखे हुए केले को एक डण्डे से खींचकर खाना सीख लिया था। केला पिंजड़े के बाहर इतनी दूरी पर रखा गया था कि वह अकेले एक डण्डे से नहीं खींचा जा सकता था, लेकिन दोनों डण्डों को आपस में मिला देने से वह आसानी से खींचा जा सकता था। वे डण्डे इस प्रकार के बने हुए थे कि एक-दूसरे में जुटाकर आसानी से एक बड़ा डण्डा बनाया जा सकता था। वनमानुष के सामने इस बार समस्या यह थी कि किस प्रकार वह दोनों डण्डों को आपस में जोड़कर पिंजड़े के बाहर रखे हुए केले को खींचकर खा ले। यह प्रयोग सुल्तान नामक एक तीव्रबुद्धि वनमानुष पर किया गया था।

सुल्तान ने सर्वप्रथम एक डण्डे से केला खींचने की चेष्टा की, किन्तु अपने इस प्रयास में वह बिल्कुल विफल रहा। फिर दूसरे डण्डे से केला खींचना चाहा, किन्तु इसमें भी उसे सफलता न मिली। इस प्रकार कुछ देर तक विफल प्रयास करने के बाद सुल्तान ने निराश होकर प्रयास छोड़ दिया। अब वह दोनों डण्डों के साथ खेलने लगा। खेलते-खेलते उसने एक डण्डे को दाहिने हाथ में ले लिया और दूसरे को बायें हाथ में, तथा दोनों छोरों को वह पास-पास ले आया। एकाएक दोनों डण्डे आपस में जुड़ गये। उस नये जुड़े हुए बड़े डण्डे से वह पिंजड़े के बाहर रखे हुए केले को अपनी ओर खींचने लगा। ये डण्डे कुछ ढिलायी से जुटे हुए थे। अतएवं अलग-अलग होकर जमीन पर गिर पड़े। सुल्तान ने उन्हें फिर झट आपस में जोड़ दिया तथा पिंजड़े के बाहर रखे हुए केले को अपने पास खींच लिया। दूसरे दिन प्रयोग किये जाने पर सुल्तान ने कुछ ही व्यर्थ प्रयासों के बाद दोनों डण्डों को आपस में मिलाकर केले को अपने पास खींच लिया।

इस प्रयोग के आधार पर कोहलर ने सूझ के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहा है कि दोनों डण्डों को आपस में जोड़कर वनमानुष का केला खींचना, उसकी सूझ का परिचायक हैं जब वनमानुष ने दोनों डण्डों को जोड़कर उन्हें एक बड़ा डण्डा बना लिया, तभी वह पिंजड़े के बाहर रखे हुए केले को पा सका। दूसरे शब्दों में, दो छोटे-छोटे डण्डों को एक इकाई के रूप में ग्रहण करना, वनमानुष की सूझ का द्योतक है।

कोहलर ने अपने अन्य प्रयोगों में डण्डों के बादले बक्सों की समस्या का उपयोग किया। एक प्रयोग में वनमानुष भूखा रखा गया। उसके पिंजड़े के ऊपर के कुछ केले लटका दिये गये। जहाँ केले लटक रहे थे, वहाँ से थोड़ी दूर पर पिंजड़े में एक बॉक्स रख दिया गया। वनमानुष के सामने समस्या यह थी कि वह किस प्रकार छत से लटकते हुए केले को तोड़कर खा ले। केले को तोड़ने का प्रयास उसने शुरू कर दिया। पिंजड़े में पड़े हुए बॉक्स की ओर उसने बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। केले को पाने के लिए वह बार-बार ऊपर की ओर उछलता था तथा दीवार पर चढ़कर केले को तोड़ने की चेष्टा करता था। इस प्रकार वनमानुष घण्टों विफल प्रयास करता रहा। अन्ततोगत्वा प्रयोगकर्ता ने बॉक्स को छत के लटकते हुए केले के ठीक नीचे खींच लिया, उस पर चढ़ गया तथा केले को छू लिया। फिर वह बॉक्स से नीचे उत्तर गया तथा पहले की भाँति ही उसे कुछ दूरी पर रख दिया। अब वनमानुष यह समझ गया कि केले को किस भाँति तोड़ा जा सकता है। फलतः उसने बॉक्स को केले के नीचे खींच लिया तथा उस पर चढ़कर केले को तोड़ लिया। इस प्रयोग के सम्बन्ध में कोहलर का कहना है कि जैसे ही वनमानुष ने सम्पूर्ण परिस्थिति को समझ लिया। समस्या का समाधान उसके लिए आसान हो गया यही सूझ है। इस प्रयोग के बाद कोलहर ने वनमानुषों के सामने कई बक्सों को इधर-उधर बिखेर दिया तथा केले को इतनी ऊँचाई पर लटका दिया कि उस तक पहुंचने के लिए कई बक्सों को एक-पर-एक रखकर मंच बनाना आवश्यक था। इस प्रयोग में भी वनमानुष न पहले इधर-उधर छंलाग लगाई, फिर एक बॉक्स खींचकर उसे लटकते हुए केले के समीप लाया और उस पर चढ़कर केला पाने का प्रयास किया, पर असफल रहा फिर उसने दूसरा बॉक्स उठाकर पहले पर रखा, फिर भी केला नहीं पा सका। परन्तु तब तक उसे यह सूझ प्राप्त हो गया कि बॉक्स-पर-बॉक्स रखने से केले तक पहुंचा जा सकता है और अन्ततः तीन बाक्सों को एक-पर-एक रखकर उस पर चढ़ गया और केले प्राप्त कर लिये।

इन प्रयोगों के आधार पर कोलहर का कहना है कि पशु भी 'सूझ' या 'अन्तर्दृष्टि' के द्वारा ही सीखता है, न कि 'प्रयास और भूल' के द्वारा। वनमानुष भी केले को तोड़ने में तभी सफल हो सका, जब उसने सम्पूर्ण परिस्थिति को अच्छी तरह समझ लिया सम्पूर्ण परिस्थिति से कोलहर का तात्पर्य यह है कि जब वनमानुष ने जमीन की सतह, बक्से और लटकते हुए केले-इन तीनों के परस्पर साथ को समझ लिया, तभी वह केले को तोड़ने में सफल हो सका। यदि उसे लटकते हुए केले और जमीन की सतह के बीच की दूरी का ज्ञान न होता, तो वह अपने प्रयास मं कभी सफल नहीं होता। अतः, गेस्टाल्टवादियों के अनुसार, 'सूझ' या 'अन्तदृष्टि' किसी परिस्थिति के सभी पहलुओं के परस्पर-सम्बन्धों को जानने में निहित रहती है।

2) **सूझ सिद्धान्त की समीक्षा -** सूझ सिद्धान्त के सम्बन्ध में कहा जाता है कि 'सूझ' शब्द वर्णनात्मक है, न कि व्याख्यात्मक। यानी 'सूझ' सीखने की प्रणाली का वर्णन-मात्र करती है, उसकी व्याख्या प्रस्तुत नहीं करती। इस आधार पर सूझ द्वि-अर्थक है। पहले अर्थ में सूझ विशेष प्रकार के व्यवहार का वर्णन-मात्र प्रस्तुत करता है जबकि दूसरे अर्थ में, इससे सीखने वाले को

व्यवहार प्रभावित और नियंत्रित होता है। दूसरे शब्दों में यूझ सीखने के तरीके के का वर्णन करती है, अथवा यह एक सिद्धान्त है जिसके आधार पर सीखने की व्याख्या की जा सकती है। 'सूझ' के पहले अर्थ को स्वीकार करने में शायद किसी को आपत्ति नहीं। किन्तु दूसरा अर्थ बहुतों को मान्य नहीं। वस्तुतः गेस्टॉल्टवादी मनोवैज्ञानिकों के अतिरिक्त दूसरे मनोवैज्ञानिक 'सूझ' को व्याख्यात्मक सिद्धान्त के रूप में ग्रहण नहीं करते। गेस्टॉल्टवादी मनोवैज्ञानिकों ने 'सूझ' का प्रयोग दोनों अर्थों में किया है। कभी तो उन्होंने इसे एक वर्णनात्मक शब्द-मात्र ही माना है और कभी इसका प्रयोग व्याख्यात्मक सिद्धान्त के रूप में किया है। दोनों अर्थो का यह मिश्रण ही इस शब्द को स्पष्ट नहीं रहने देता तथा इसे आपत्तिजनक बना देता है।

बर्दाइमर एवं कोहलर की परम्परा का अनुसरण करते हुए डंकर ने यह पाया कि सूझ को 'सर्वस्व-या-कुछ नहीं' के सिद्धान्त में नहीं बाँधा जा सकता। इसे 'हाँ' या 'नहीं' के द्वारा द्योतित नहीं किया जा सकता। कारण, यह क्रमिक होती है तथा इसकी अनेक श्रेणियाँ सम्भव हैं। यह क्रमिक इसलिए मानी गयी है कि किसी भी कठिन समस्या का समाधान, जिसे 'सूझ' के द्वारा द्योतित किया जाता है, कई प्रयत्नों के बाद आता है। इन सभी प्रयत्नों में कुछ-न-कुछ 'सूझ' वर्तमान रहती है। जब प्रयोजन के सामने कोई समस्या उपस्थित की जाती है, तब वह समस्त परिस्थिति एवं लक्ष्य का विश्लेषण करता है। तत्पश्चात् वह प्रयास शुरू करता है। जैसे-जैसे वह अपने प्रयास में आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे 'सूझ' की सम्भावना भी बढ़ती जाती है। तात्पर्य यह कि 'सूझ' आकस्मिक नहीं होती, वरन् क्रमिक होती है। डंकर 'सूझ' की कई श्रेणियाँ इसलिए मानता है कि सम्भवतः कोई भी व्यक्ति परिस्थिति को या तो भलीभाँति समझता है, अथवा अपेक्षाकृत कम। यदि व्यक्ति परिस्थिति को अच्छी तरह समझते हुए कुछ प्रयास करता है, तो हम कह सकते हैं कि उसकी 'सूझ' बड़ी है। इसके विपरीत, यदि वह परिस्थिति के कुछ पहलुओं को समझकर ही प्रयास शुरू कर देता है, तो हम कह सकते हैं कि 'सूझ' बहुत थोड़ी है। यहाँ भी सिर्फ इतना ही कहना अभीष्ट है कि 'सूझ' की कई श्रेणियाँ हो सकती हैं।

जब हम 'सूझ' की कई श्रेणियाँ स्वीकार कर लेते हैं, तब फिर 'सूझ' एवं 'प्रयत्न और भूल' में कोई मौलिक अन्तर नहीं रह जाता है। वस्तुतः यदि हम पशु, बच्चे एवं प्रौढ़ व्यक्तियों पर किये गये समस्या-समाधान-सम्बन्धी प्रयोगों पर दृष्टि डालें तो स्पष्टतः ऐसा जान पड़ेगा कि किसी भी समस्या के समाधान में 'सूझ' एवं 'प्रयत्न और भूल' ये दोनों ही बातें वर्तमान रहती हैं। केवल 'सूझ'अथवा केवल 'प्रयत्न और भूल' के द्वारा किसी भी समस्या का समाधान सम्भव नहीं है। किसी समस्या के समाधान को सिद्धान्त-रूप में समझ लेने पर भी उसे वस्तुतः प्राप्त करने के लिए कितने ही प्रयास करने पड़ते हैं, 'प्रयत्न और भूल' का सहारा लेना पड़ता है। अतएव 'सूझ' के सम्बन्ध में यह मानना समुचित जान पड़ता है कि यह सापेक्ष होती है, न कि निरपेक्ष।

7.5 सारांश

- सीखना व्यक्ति के पूर्वानुभव एवं व्यवहार में होने वाला परिवर्तन एवं परिमार्जन है जो अपेक्षाकृत स्थायी स्वरूप का होता है।
- सीखना परिपक्वता से भिन्न है क्योंकि परिपक्वता से तात्पर्य अंग-प्रत्यंग के स्वाभाविक विकास से है जो कि केन्द्रीय स्नायु-तंत्र की समर्थता पर निर्भर करता है।
- सीखने में अभिप्रेरणा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। पुरस्कार एवं दण्ड, प्रशंसा एवं निन्दा, फल का ज्ञान आदि कुछ महत्वपूर्ण अभिप्रेरक हैं जिनका प्रभाव सीखने की क्रिया पर पड़ता है।
- सीखने का प्रयास और भूल सिद्धान्त प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक थौर्नडाइक द्वारा 1898 में प्रतिपादित सिद्धान्त है जिसमें 'अभ्यास नियम' एवं 'प्रभाव नियम' के महत्व पर बल दिया गया है।
- सीखने का सूझ सिद्धान्त गेस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिक कोहलर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त है जो 'सुल्तान' नामक वनमानुष पर किए गये प्रयोग पर आधारित है।

7.6 शब्दावली

- **सीखना:** वैसी प्रक्रिया, जिसमें व्यक्ति के पूर्वानुभव एवं व्यवहार में अभ्यास के कारण अपेक्षाकृत स्थायी स्वरूप का परिवर्तन एवं परिमार्जन होता है, सीखना कहलाती है।
- **परिपक्वता:** उम्र वृद्धि के कारण व्यक्ति के अंग-प्रत्यंग में होने वाला स्वाभाविक विकास, जो मूलतः उसके केन्द्रीय स्नायु-तंत्र की समर्थता पर निर्भर करता है, परिपक्वता कहलाता है।
- **प्रभाव नियम:** गलत प्रतिक्रियाओं से असंतोष मिलने के कारण उसे प्राणी द्वारा छोड़ दिया जाना तथा सही प्रतिक्रियाओं से संतोष मिलने के कारण उसे अपना लिया जाना ही 'प्रभाव-नियम' कहलाता है।
- **अभ्यास नियम:** किसी कार्य-विशेष में एक बार सही प्रतिक्रिया मिल जाने पर निपुणता या कार्य-कुशलता प्राप्त करने हेतु उस सही प्रतिक्रिया को बार-बार दुहराना ही 'अभ्यास-नियम' कहलाता है।
- **सूझ:** यह एक ''आहा-अनुभव'' है, जो व्यक्ति को किसी समस्या का अचानक समाधान मिल जाने से उत्पन्न होता है।

7.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

I. निम्नलिखित कथनों में कौन सत्य है कौन असत्य-

1) सीखने की परिस्थिति में नवीनता होती है।
2) सीखने की क्रिया में पूर्वानुभूति एवं व्यवहार में परिवर्तन अथवा परिमार्जन होता है।
3) सीखने की क्रिया में व्यवहार में होने वाला परिवर्तन एवं परिमार्जन अस्थायी स्वरूप का होता है।
4) अभिप्रेरणा सीखने की गति को घटा देता है।

II. एक शब्द में उत्तर दीजिए-

5) सीखने सम्बन्धी प्रयास और भूल सिद्धान्त के प्रतिपादक कौन थे?
6) सीखने का गेस्टाल्टवादी दृष्टिकोण किसने प्रस्तुत किया?
7) 'प्रभाव का नियम' सीखने के किस सिद्धान्त से सम्बद्ध है?

उत्तर: **I.** 1) सत्य 2) सत्य 3) गलत 4) गलत

II. 5) थौर्नडाइक 6) कोहलर 7) प्रयास और मूल

7.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान-अरूण कुमार सिंह- मोतीलाल - बनारसी दास
- शारीरिक मनोविज्ञान- ओझा एवं भार्गव - हर प्रसाद भार्गव, आगरा
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान- सुलैमान एवं खान-शुक्ला बुक डिपो, पटना
- सामान्य मनोविज्ञान- सिन्हा एवं मिश्रा - भारती भवन

7.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सीखना से आप क्या समझते हैं? यह परिपक्वता से किस प्रकार भिन्न है?
2. सीखने में अभिप्रेरणा की भूमिका पर प्रकाश डालें।
3. सीखने के सम्बन्ध में थौर्नडाइक के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करें।
4. सीखने के सूझ सिद्धान्त का विवेचन करें। अभ्यास और मूल सिद्धान्त से इसकी तुलना करें।

इकाई-8 क्लासिकी एवं प्रवर्तन अनुकूलन, अधिगम का स्थानान्तरण

8.1 प्रस्तावना
8.2 उद्देश्य
8.3 क्लासिकी अनुकूलन
 8.3.1 क्लासिकी अनुकूलन पर पैवलव के प्रयोग
 8.3.2 क्लासिकी अनुकूलन की विशेषताएँ
8.4 प्रवर्तन अनुकूलन
8.5 क्लासिकी अनुकूलन तथा प्रवर्तन अनुकूलन में समानता
8.6 क्लासिकी अनुकूलन तथा प्रवर्तन अनुकूलन में भिन्नता
8.7 सीखने का स्थानान्तरण
 8.7.1 धनात्मक शिक्षण स्थानान्तरण
 8.7.2 ऋणात्मक शिक्षण स्थानान्तरण
 8.7.3 शून्य प्रभाव
 8.7.4 पार्श्विक स्थानान्तरण
8.8 सारांश
8.9 शब्दावली
8.10 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
8.11 संदर्भ-ग्रन्थ सूची
8.12 निबन्धात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

पूर्व की इकाई में आपने सीखने की परिभाषा, सीखने में प्रेरणा का महत्व तथा सीखने के प्रयास और भूल सिद्धान्त तथा सूझ सिद्धान्त का अध्ययन किया।

प्रस्तुत इकाई में सीखने में क्लासिकी अनुकूलन की भूमिका पर प्रकाश डाला गया है तथा क्लासिकी एवं प्रवर्तन अनुकूलन में समानता एवं भिन्नता को स्पष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त, सीखने के स्थानान्तरण तथा स्थानान्तरण प्रकार पर भी प्रकाश डाला गया है।

इस इकाई के अध्ययन से आपको यह लाभ होगा कि आप सीखने में अनुकूलन के विभिन्न रूपों से परिचय स्थापित कर सकेंगे तथा शिक्षण-स्थानान्तरण जैसे महत्वपूर्ण विषय की गहन जानकारी हासिल कर सकेंगे।

8.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप इस योग्य हो सकेंगे कि आप -

- शोध सीखने में क्लासिकी अनुकूलन के महत्व पर चर्चा कर सकें।
- क्लासिकी एवं प्रवर्तन अनुकूलन की तुलना कर सकें।
- सीखने के स्थानान्तरण की व्याख्या कर सकें।
- शिक्षण-स्थानान्तरण के विभिन्न प्रकारों को रेखांकित कर सकें तथा
- प्रवर्तन अनुकूलन के प्रकारों का विवेचन कर सकें।

8.3 क्लासिकी अनुकूलन

क्लासिकी अनुकूलन एकल-अनुक्रिया सीखना का एक प्रकार है जो मूलतः पेवलक नामक रूसी शरीर क्रियाशास्त्री के क्लासिकी प्रयोगों पर आधारित है। पैवलव ने कुत्ते पर प्रयोग करके अनुकूलन के सम्प्रत्यय का प्रतिपादन किया और इसके कई मौलिक नियमों सिद्धान्तों की चर्चा की। क्लासिकी अनुकूलन को पैवलोवियन अनुकूलन के नाम से भी जाना जाता है जिसका तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा स्वाभाविक उत्तेजना के साथ किसी तटस्थ उत्तेजना को बार-बार दुहराने से स्वाभाविक उत्तेजना के प्रति होने वाली स्वाभाविक अनुक्रिया का सम्बन्ध उस तटस्थ उत्तेजना के साथ हो जाता है। स्वाभाविक उत्तेजना को अनानुकूलित उत्तेजना तथा तटस्थ उत्तेजना को अनुकूलित उत्तेजना भी कहते हैं। अतः कहा जा सकता है कि प्राणी बिना सक्रिय प्रयास के अनुकूलित उत्तेजना के प्रति वही स्वाभाविक अनुक्रिया करना सीख लेता है जो वह पहले अनानुकूलित उत्तेजना के प्रति किया करता था। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। भोजन एक स्वाभाविक उत्तेजना है और भोजन देखकर लार टपकना एक स्वाभाविक अनुक्रिया। लार टपकाने के लिए घंटी की आवाज एक तटस्थ उत्तेना है और घंटी की आवाज सुनकर लार टपकाना एक तटस्थ या अस्वाभाविक अनुक्रिया है। अब यदि कोई पशु या मनुष्य घंटी की आवाज पर लार टपकाना सीख जाये तो सीखने की इस विधि को अनुकुलन कहा जायेगा। चूँकि अनुकूलन की यह अवधारणा सर्वप्रथम पैवलव ने दी, इसीलिए इसे पैवलोवियन अनुकूलन या क्लासिकी अनुकूलन के नाम से भी जाना जाता है।

8.3.1 क्लासिकी अनुकूलन पर पैवलव के प्रयोग-

पैवलव ने एक भूखे कुत्ते पर अपना प्रसिद्ध प्रयोग किया। भूखे कुत्ते को प्रयोगशाला में लाया गया और आवश्यक यन्त्रों की व्यवस्था कर दी गयी। पहले घंटी बजाई गयी। कुत्ते ने आवाज सुनी, कान खड़े कर लिए, परन्तु लार नहीं टपकाई। कुछ सेकण्ड बाद भोजन सामने आया। भोजन देखकर कुत्ते के मुँह से लार नहीं टपकी। जब कुछ सेकण्ड बाद भोजन आया तो उसे देखते ही कुत्ते के मुँह से लार टपकरने लगी। इसी कार्यविधि को कई बार दुहराया गया तो देखा गया कि घंटी बजते ही भोजन के अभाव में भी कुत्ते के मुँह से लार गिरने लगी। अब केवल घंटी की आवाज पर कुत्ते ने लार गिराना सीख लिया। भोजन अनानुकूलित प्रतिक्रिया उत्तेजना है, भोजन देख कर लार टपकना अनानुकूलित प्रतिक्रिया है और घंटी की आवाज अनुकूलित उत्तेजना है। अतः कुत्ते ने अनुकूलित उत्तेजना के प्रति अननुकूलित प्रतिक्रिया करना सीख लिया। दूसरे शब्दों में अनुकूलित उत्तेजना तथा अनानुकूलित प्रतिक्रिया के बीच एक सम्बन्ध स्थापित हो गया। इसी सम्बन्ध को स्थापित करने वाली प्रक्रिया को अनुकूलन कहा गया। अतः जिस प्रक्रिया द्वारा स्वाभाविक अनुक्रिया या अनानुकूलित अनुक्रिया का सम्बन्ध तटस्थ उत्तेजना या अनुकूलित उत्तेजना के साथ स्थापित हुआ उसे ही क्लासिकी अनुकूलन की संज्ञा दी गई। यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि क्लासिकी अनुकूलन के स्थापित होने में प्राणी का कोई सक्रिय योगदान नहीं रहता है। क्लासिकी अनुकूलन में अनुकूलन स्थापित होने के पहले हर प्रयत्न में अनानुकूलित उत्तेजना उपस्थित रहती है। पैवलव के प्रयोग में भोजन प्रत्येक प्रयत्न में उपस्थित रहता है। यहाँ भोजन प्रबलक है। अनानुकूलित उत्तेजना जब अनुकूलित उत्तेजना के बाद दी जाती है तो अनुकूलन जल्दी स्थापित होता है। इसे अग्रगामी अनुकूलन कहते हैं। जब अनानुकूलित तथा अनुकूलित उत्तेजनाएँ एक ही साथ घटित होती हैं हो इस आधार पर अनुकूलन अपेक्षाकृत देर से स्थापित होता है। इसे समकालिक अनुकूलन कहते हैं। इसी तरह आननुकूलित उत्तेजना पहले तथा अनुकूलित उत्तेजना बाद में घटित होने पर अनुकूलन स्थापित हो तो इसे पूर्वगामी अनुकूलन कहेंगे। यह अनुकूलन बिरले देखा जाता है।

8.3.2 क्लासिकी अनुकूलन की विशेषताएँ-

क्लासिकी अनुकूलन की अनेक विशेषताएँ हैं, जिसका आधार पैवलव द्वारा किया गया अनुकूलन प्रमाण है।

(क) इस तरह के अनुकूलन में अननुकूलित तथा अनुकूलित उत्तेजनाओं के बीच पुनरावृत्ति आवश्यक है। पैवलव के प्रयोग में घंटी तथा भोजन के बीच पुनरावृत्ति एक आवश्यक शर्त थी।

(ख) प्रबलन का होना भी क्लासिकी अनुकूलन के लिए आवश्यक है। पैवलव के प्रयोग में भोजन तथा बेख्ट्रेव के प्रयोग में आघात को प्रबलन के रूप में व्यवहार किया गया।

(ग) क्लासिकी अनुकूलन में उत्तेजना-सामान्यीकरण की विशेषता पाई जाती है। जब प्राणी एक अनुकूलित उत्तेजना के प्रति कोई अननुकूलित प्रतिक्रिया सीख लेता है तो उस उत्तेजना से

मिलती-जुलती दूसरी तटस्थ उत्तेना या उत्तेनाओं के प्रति वह वही प्रतिक्रिया करने लगता है। पैवलव के प्रयोग में जब कुत्ते ने घंटी की आवाज पर लार गिराना सीख लिया तो उस आवाज से मिलती-जुलती दूसरी आवाज के उत्पन्न होने पर भी उसने लार टपकाई।

(घ) इस तरह के अनुकूलन में विलोप की विशेषता भी पाई जाती है। जब प्राणी को अधिक समय तक प्रबलन नहीं दिया जाता है तो वह अनुकूलित उत्तेजनाके प्रति अननुकूलित प्रतिक्रिया करना छोड़ देता हैं पैवलव के कुत्ते को जब अधिक समय तक भोजन नहीं दिया गया तो उसने घंटी की आवाज पर लार गिराना छोड़ दिया।

(ङ) स्वतः पुनराप्ति भी क्लासिकी अनुकूलन की एक विशेषता है। जब प्राणी अनुकूलित उत्तेजना के प्रति सीखी गई प्रतिक्रिया का करना छोड़ देता है और उस उत्तेजना को जारी रखा जाता है तो प्राणी फिर खुद ही उस प्रतिक्रिया को कर बैठता है। पैवलव के कुत्ते ने भोजन के अभाव में घंटी के प्रति लार गिराना छोड़ दिया। लेकिन, जब घंटी बजाना जारी रखा गया तो देखा गया कि कुछ समय बाद कुत्ते के मुँह से स्वतः लार टपकने लगी।

8.4 प्रवर्तन अनुकूलन

प्रवर्तन अनुकूलन का तात्पर्य सीखने की उस प्रक्रिया से है, जिसमें प्राणी ऐसी प्रतिक्रिया का चयन करना सीखता हे, जो प्रबलन को उत्पन्न करने में साधन का काम करती है। इस प्रकार के अनुकूलन को साधनात्मक अनुकूलन या स्किनेरियन अनुकूलन भी कहा जाता है। यहाँ किसी प्रतिक्रिया के परिणाम को परिचालित करके इसके घटित होने की सम्भावना में परिवर्तन लाया जा सकता है। अतः यहाँ प्राणी कोई ऐसी प्रतिक्रिया करना सीखता है, जो उसे धनात्मक प्रबलन तक पहुँचने या नकारात्मक प्रबलन से बचने में सहायक होती है।

प्रवर्तन अनुकूलन के चार प्रकार है, जो निम्नलिखित हैं-

1) **प्राथमिक पुरस्कार अनुकूलन-** साधनात्मक अनुकूलन का यह सबसे सरल प्रकार है। इसमें प्राणी उस प्रतिक्रिया को सीखता है जो पुरस्कार (जैसे-भोजन) को प्राप्त करने में साधनात्मक होती है। शैक्षणिक परिस्थिति में वह अनेक प्रतिक्रियाएँ करता है। परन्तु, उनमें से केवल उस प्रतिक्रिया को चुनकर सीख लेता है, जो उसे पुरस्कार पाने में मदत करती है। इस तरह का पहला प्रयोग थौर्नडाइक ने किया। एक भूखी बिल्ली को एक पिंजड़े में बन्द कर दिया गया और बाहर भोजन रख दिया गया। पिंजड़े में एक बटन लगी हुई थी, जिसके दबाने पर पिंजड़े का दरवाजा खुल जाता था। बिल्ली ने उछलना-कूदना शुरू किया। संयोग से उसका पंजा बटन पर पड़ा। दरवाजा खुला और भोजन मिला। इसी तरह कई प्रयत्नों के बाद बिल्ली ने बटन दबाकर भोजन पाना सीख लिया। स्किनर (1938) के प्रयोग में देखा गया कि चूहे ने कई प्रयत्नों के बाद केवल

सही लीवर दबा कर भोजन पाना सीखा। सही लीवर को दबाने की प्रतिक्रिया भोजन पाने के लिए साधनात्मक थी।

2) **परिहार अनुकूलन-** इस प्रकार के अनुकूलन में प्राणी उस प्रतिक्रिया को सीखता है जो उसे कष्टकर उत्तेजना से बचने में मदत करती है। यहाँ प्रतिक्रिया प्राणी को नकारात्मक प्रबलन से बचने में साधन का काम करती है। परिहार अनुकूलन के दो प्रकार हैं, जिन्हें सक्रिय परिहार अनुकूलन तथा निष्क्रिय परिहार अनुकूलन कहते हैं। पहले प्रकार के अनुकूलन में प्राणी आघात से बचने के लिए सक्रिय रूप से कोई विशेष प्रतिक्रिया करता है। दूसरे प्रकार के अनुकूलन में प्राणी निष्क्रिय रूप से आघात से बचने की प्रतिक्रिया करता है। सक्रिय परिहार अनुकूलन में प्राणी बिना किसी संघर्ष के आघात से बचने वाली प्रतिक्रिया करता है। जैसे- सॉलॉमॉन तथा वायन के प्रयोग में पहले एक ध्वनि उत्पन्न की गयी और दस सेकण्ड के भीतर आघात पहुँचाया गया। आघात से बचने के लिए आवश्यक था कि कुत्ता एक घेरे पर चढ़ जाए। अतः घेरे पर चढ़ जाना आघात से बचने के लिए एक साघनात्मक प्रतिक्रिया थी। देखा गया कि कई प्रयत्नों के बाद कुत्ते ने ध्वनि उत्पन्न होने के तुरन्त बाद (दस सेकण्ड के पहले ही) घेरे पर चढ़ना सीख लिया।

निष्क्रिय परिहार अनुकूलन में एक तो प्राणी निष्क्रिय होकर आघात से बचने का प्रयास करता है और दूसरे वह संघर्ष का अनुभव भी करता है। मान लें कि एक भूखे चूहे को अंधे-पथ से बचकर भोजन तक जाने का प्रशिक्षण दिया गया। जब चूहे ने इस प्रतिक्रिया को सीख लिया तो प्रवेश-मार्ग तथा भोजन के बीच आघात की व्यवस्था की गयी। जब चूहा अंधे-पथ से बचकर भोजन की ओर जाने लगा तो उसे आघात पहुँचाया गया। कई प्रयत्नों के बाद उसने आघात से बचने वाली प्रतिक्रिया अर्थात् प्रवेश-मार्ग को नहीं छोड़ना सीख लिया। यहाँ चूहे ने इस परिहार प्रतिक्रिया को निष्क्रिय रूप से भोजन प्राप्त करने की तीव्र प्रेरणा तथा आघात से बचने की प्रेरणा से उत्पन्न संघर्ष के बीच सीखा।

3) **पलायन अनुकूलन-** इस प्रकार के साघनात्मक अनुकूलन में प्राणी उस प्रतिक्रिया को सीखता है जो कष्टकर उत्तेजना से मुक्ति दिलाने में साघनात्मक होती है। यह अनुकूलन परिहार अनुकूलन से थोड़ा भिन्न है। परिहार अनुकूलन में प्राणी आघात के पहले ही चेतावनी संकेत के प्रति प्रतिक्रिया करके अपना बचाव कर लेता है। परन्तु, पलायन अनुकूलन में आघात के उपस्थित होने पर वह एक विशेष प्रतिक्रिया द्वारा अपना बचाव करता है। यहाँ दोनों कक्षों में आघात की व्यवस्था की जाती है। चूहा चाहे जिस कक्ष में जाए उसे समय-समय पर आघात दिया जाता है। ज्योंही आघात दिया जाता है वह इधर-उधर कूदने लगता है और संयोग से एक ऐसे कक्ष में पहुँच जाता है जहाँ किसी तरह का आघात नहीं होता। कई प्रयत्नों के बाद आघात उपस्थित होने पर वह बड़ी तेजी के साथ इस कक्ष में जाकर अपना बचाव करना सीख जाता है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि परिहार अनुकूलन से पलायन अनुकूलन को हमेंशा अलग नहीं

किया जा सकता है। वास्तव में सक्रिय परिहार-अनुकूलन की पहली अवस्था पलायन प्रतिक्रिया है। सॉलॉमॉन तथा वायन (1953) ने अपने अध्ययन में पाया कि कुत्ते ने सक्रिय परिहार-प्रतिक्रिया सीखने से पहले पलायन प्रतिक्रिया सीखी।

4) **अनुषंगी पुरस्कार अनुकूलन-** इस प्रकार के अनुकूलन में प्राणी का व्यवहार उस उत्तेजना को प्राप्त करने में साघनात्मक होता है, जिसका अपना कोई जैविक महत्व नहीं होता है, परन्तु अतीत में उसका सम्बन्ध किसी जैविक महत्व वाली उत्तेजना से रह चुका होता है। उल्फ (1936) ने बनमानुष पर प्रयोग किया। बनमानुषों को प्रशिक्षण दिया गया जिससे वेचकती को एक खास तरह की मशीन में डालकर अंगूर प्राप्त कर लेते थे। देखा गया कि उन्होंने चकतियों के प्रति भी प्रतिक्रिया करना सीख लिया। वे चकती को पाने के लिए उतना ही कठिन श्रम करने लगे, जितना कि अंगूर पाने के लिए। स्पष्ट हुआ कि वनमानुष ने ऐसी प्रतिक्रिया सीखी जो चकती पान के लिए साघनात्मक थी। चकती अनुषंगी पुरस्कार था और अंगूर प्राथमिक पुरस्कार। इसी तरह, साजमैन (1949) के अनुसार जब चूहे को उजले बर्तन में भोजन दिया जाता है और काले बर्तन में भोजन नहीं दिया जाता है तो अन्त में चूहे उजले बर्तन को तरजीह देना सीख जाते हैं।

8.5 क्लासिकी अनुकूलन तथा प्रवर्तन अनुकूलन में समानता

क्लासिकी तथा प्रवर्तन अनुकूलनों के सम्बन्ध में ऊपर जो चर्चा की गई है उसके आधार पर हमें इन दोनों अनुकूलनों के बीच कई समानतायें दिखाई पड़ती हैं- (क) ये दोनों अनुकूलन द्वारा सीखने के ही दो मुख्य प्रकार हैं। (ख) इन दोनों प्रकार के अनुकूलन में उत्तेजना- प्रतिक्रिया सम्बन्ध को सीखने का आधार माना गया है। (ग) इन दोनों में प्रबलन के महत्व को स्वीकार किया गया है। दोनों अनुकूलनों में उत्तेना तथा प्रतिक्रिया के बीच सम्बन्ध स्थापित होने के लिए प्रबलन को आवश्यक माना गया है। पैवलव के कुत्ते ने घंटी के प्रति लार गिराना तथा स्किनर के चूहे ने सही लीवर दबाना प्रबलन के कारण सीखा। (घ) दोनों अनुकूलनों में उत्तेजना- सामान्यीकरण, विभेदीकरण, विलोन, स्वतः पुनराप्ति आदि विशेषतायें पाई जाती है।

8.6 क्लासिकी एवं प्रवर्तन अनुकूलन में भिन्नता

उपयुक्त समानताओं के बावजूद प्रवर्तन तथा क्लासिकी अनुकूलनों के बीच निम्नलिखित अन्तर हैं-

1) क्लासिकी अनुकूलन सीखने का एक साधारण प्रकार है। इसमें अनुकूलन स्थापित करने या होने की कार्यविधि निश्चित रहती है। एक ही कार्य-विधि बार-बार दुहराई जाती है। पैवलव के प्रयोग में पहले घंटी बजाई गयी। फिर भोजन दिया गया और कुत्ते ने भोजन देखकर लार टपकाई। इसी प्रक्रिया को तब तक दुहराया गया जब तक कि कुत्ते ने घंटी की आवाज पर लार टपकाना नहीं

सीख लिया। उसकी प्रतिक्रिया में केवल तीव्रता का अन्तर संभावित होता है। यहाँ प्रतिक्रिया का आधार उत्तेजना है। दूसरी ओर प्रवर्तन अनुकूलन या साधनात्मक अनुकूलन में कार्य-विधि निश्चित नहीं होती है, बल्कि बदलती रहती है। स्किनर के प्रयोग में चूहे का व्यवहार निश्चित नहीं था। प्रत्येक प्रयत्न में उसका व्यवहार बदल जाता था। चूहा कभी अधिक भूल करता था और कभी कम। इसी तरह, प्रबलन प्राप्त होने की कार्य-विधि में परिवर्तन की पूरी संभावना थी। यहाँ प्रतिक्रिया का आधार प्राणी है।

2) क्लासिकी अनुकूलन में दो उत्तेजनाओं के बीच सम्बन्ध या साहचर्य स्थापित करने की आवश्यकता पड़ती है। एक उत्तेजना तटस्थ होती है और दूसरी उत्तेजना में किसी स्वाभाविक प्रतिक्रिया उत्पन्न करने की क्षमता रहती है। दोनों उत्तेजनाओं को एक साथ कई बार दुहराने पर उनके बीच एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। और तटस्थ उत्तेजना में स्वाभाविक उत्तेजना की क्षमता अर्जित हो जाती है। फलतः तटस्थ उत्तेजना से भी वही प्रतिक्रिया उत्पन्न होने लगती है। पैवलव के प्रयोग में भोजन के प्रति लार टपकना एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। घंटी की आवाज तटस्थ उत्तेजना है। जब इन दोनों उत्तेजनाओं (भोजन तथा आवाज) को बार-बार दुहराया गया तो दोनों में एक सम्बन्ध स्थापित हो गया। घंटी की आवाज में भोजन का गुण अर्जित हो गया और कुत्ते ने घंटी की आवाज पर लार गिराना सीख लिया।

दूसरी ओर साधनात्मक अनुकूलन में बहुत-सी प्रतिक्रियाओं में से एक ऐसी प्रतिक्रिया होती है जो प्रबलन को प्राप्त करने में सहायक हो। सीखने की परिस्थिति में प्राणी अनेक प्रतिक्रिया करता है, परन्तु वह केवल एक प्रतिक्रिया का चयन करता है, जो उसके लक्ष्य को प्राप्त करने में मदतगार होती है। स्किनर-बॉक्स में चूहा बहुत सारी प्रतिक्रियायें करता है। परन्तु, उनमें से केवल एक प्रतिक्रिया (सही लीवर दबाना) चुन लेता हे, क्योंकि यह प्रतिक्रिया भोजन प्राप्त करने में साधनात्मक प्रमाणित होती है।

3) क्लासिकी अनुकूलन में प्राणी का व्यवहार पुरस्कार प्राप्त करने के लिए साधनात्मक नहीं है। सीखने की परिस्थिति में प्राणी का व्यवहार चाहे जो भी हो या नहीं हो, उसे पुरस्कार मिल जाता है। इस प्रकार पुरस्कार के मिलने तथा प्राणी के व्यवहार के बीच कोई सम्बन्ध नहीं होता है। पैवलव के प्रयोग में कुत्ते का व्यवहार भोजन प्राप्त करने के लिए साधनात्मक नहीं है। भोजन का मिलना या नहीं मिलना कुत्ते के व्यवहार पर आधारित नहीं है।

प्रवर्तन अनुकूलन में प्राणी का व्यवहार पुरस्कार को प्राप्त करने में साधनात्मक होता है। पुरस्कार का मिलना या नहीं मिलना प्राणी के अपने व्यवहार पर निर्भर करता है। जब वह सही प्रतिक्रिया करता है तो उसे पुरस्कार मिलता है और जब गलत प्रतिक्रिया करता है तो पुरस्कार नहीं मिलता है। स्किनर-बॉक्स में जब चूहा गलत प्रतिक्रिया करता है तो उसे भोजन नहीं मिलता है। और सही प्रतिक्रिया (सही लीवर दबाना) करता है तो भोजन मिलता है। अतः भोजन (पुरस्कार) का

मिलना या नहीं मिलना चूहे के व्यवहार पर आधारित है। इस प्रकार चूहे का व्यवहार भोजन प्राप्त करने के लिए साधनात्मक है।

4) क्लासिकी अनुकूलन में प्राणी निष्क्रिय रहता है। सीखने की परिस्थिति में उसे प्रबलक या पुरस्कार प्राप्त करने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता है। यहाँ सीखने की कार्यविधि कुछ ऐसी होती है कि निष्क्रिय रहने पर भी प्राणी को पुरस्कार मिल जाता है। पैवलव के कुत्ते को भोजन पाने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता है। घंटी की आवाज पर लार गिराना सीखने में कुत्ते को सक्रिय होकर प्रयास नहीं करना पड़ा। एक समय ऐसा आया कि घंटी के प्रति स्वतः लार टपकरने लगी।

प्रवर्तन या साघनात्मक अनुकूलन में प्राणी सक्रिय रहता है। सीखने की परिस्थति में उछल-कूद, दौड़-धूप आदि व्यवहार प्राणी में देखे जाते हैं। ये सभी व्यवहार अनुकूलन स्थापित होने के पहले अननुकूलित उत्तेजना से असम्बद्ध होते हैं। चूँकि प्राणी में सीखते समय ये सभी व्यवहार वातावरण में परिचालित होते हैं, इसलिए, इन्हें परिचालित व्यवहार कहा जाता है। यहाँ सीखने की कार्य-विधि कुछ ऐसी होती है कि पुरस्कार को प्राप्त करने अथवा आघात से बचने के लिए प्राणी को सक्रिय रूप से प्रयास करना आवश्यक होता है। स्किनर-बॉक्स में चूहे का व्यवहार परिचालित है। वह बॉक्स के अन्दर उछलना, दौड़ना, आदि परिचालित व्यवहार करता हैं वह सक्रिय रूप से भोजन प्राप्त करने का प्रयास करता है और सही लीवर दबाकर भोजन प्राप्त करता है।

5) क्लासिकी अनुकूलन में पशु को प्रत्येक प्रयत्न में प्रबल दिया जाता हैं पशु चाहे जैसा भी व्यवहार करे या न करे, हर बार उसे प्रबलक (जैसे-भोजन) प्राप्त होता है। पैवलव के प्रयोग में कुत्ते को प्रत्येक प्रयत्न में भोजन मिलता है। अनुकूलन स्थापित होने के पहले हर बार घंटी बजने के कुछ सेकण्ड बाद उसे भोजन प्राप्त हो जाता है। असल में यहाँ व्यवस्था ही ऐसी होती है कि हर प्रयत्न में प्रबलन स्वतः घटित हो जाता है। दूसरी ओर साघनात्मक अनुकूलन में ऐसा नहीं होता है। यहाँ पशु को पुरस्कार या प्रबलन तभी मिलता है, जब वह सही प्रतिक्रिया करता है। थौर्नडाइक की बिल्ली या स्किनर के चूहे को सही प्रतिक्रिया करने पर भोजन मिलता है और गलत प्रतिक्रिया करने पर नहीं मिलता हैं वास्तव में यहाँ व्यवस्था ही कुछ ऐसी होती है कि प्राणी का व्यवहार पुरस्कार प्राप्त करने या आघात से बचने के लिए साघनात्मक बन जाता है।

6) क्लासिकी अनुकूलन में अननुकूलित उत्तेजना तथा अननुकूलित प्रतिक्रिया के साथ-साथ अनुकूलित उत्तेजना भी विशिष्ट तथा स्पष्ट होती है। यहाँ एक विशेष उत्तेजना जेसे, घंटी की आवाज को अनुकूलित उत्तेजना निर्धारित कर लिया जाता है। लेकिन, साघनात्मक या प्रवर्तन अनुकूलन में अनुकूलित उत्तेजना विशिष्ट रूप से परिभाषित या निर्धारित नहीं होती है। यहाँ सीखने की परिस्थिति को ही अनुकूलित उत्तेजना माना जाता है। स्किनर के प्रयोग में लीवर लगा हुआ बॉक्स (शैक्षणिक परिस्थिति) अनुकूलित उत्तेजना हैं भोजन की गोली अननुकूलित

उत्तेजना, खाना अननुकूलित प्रतिक्रिया तथा लीवर दबाना अनुकूलित प्रतिक्रिया है। ध्यान रहे कि क्लासिकी अनुकूलन में घंटी की आवाज पर लार टपकाना अनुकूलित प्रतिक्रिया है और वही प्रतिक्रिया भोजन देखकर करना अननुकूलित प्रतिक्रिया है। ये बात भी उल्लेखनीय है कि क्लासिकी अनुकूलन में अनुकूलित उत्तेजना सदा उपस्थित नहीं रहती है, जबकि साघनात्मक अनुकूलन में वह हमेंशा उपस्थित रहती है।

7) क्लासिकी अनुकूलन तथा साघनात्मक अनुकूलन दोनों में प्रबलन के महत्व को माना गया हैं परन्तु, दोनों की स्थिति में अन्तर है। क्लासिकी अनुकूलन में अनुकूलित उत्तेजना तथा अननुकूलित उत्तेजना का युग्मन ही प्रबलन है। पैवलव के प्रयोग में घंटी की आवाज तथा भोजन के बीच युग्मन प्रक्रिया को ही प्रबलन माना गया। दूसरी ओर प्रवर्तन या साधनात्मक अनुकूलन में प्रायः भोजन या पानी को ही प्रबलन माना जाता है, जिससे प्राणी के किसी प्रणोदन की संतुष्टि होती है। इसी तरह, यहाँ कोई भी चीज प्रबलन हो सकती है, जिसको पाने अथवा जिससे बचने के लिए प्राणी प्रयास कर रहा हो।

8) प्रत्यर्थी-व्यवहार वास्तव में प्रत्यक्ष रूप से उत्तेजना के अधीन होता है। उत्तेजना के उपस्थित होने पर व्यवहार या प्रतिक्रिया का होना निश्चित है। भोजन देखकर लार टपकना, तेज प्रकाश से पुतली का सिकुड़ना आदि इसके उदाहरण है। इसीलिए ऐसे व्यवहार को उत्पन्न किया गया व्यवहार कहते हैं दूसरी ओर प्रवर्तन व्यवहार किसी विशिष्ट उत्तेजना के अधीन नहीं होता है। यह उत्तेजना द्वारा उत्पन्न नहीं होता है, बल्कि प्राणी द्वारा किया जाता है। यह प्राणी के अधीन होता है। इसीलिए, इसे उत्सर्जित व्यवहार कहा जाता है। टेलीफोन की घंटी बजाती है और हमें उसका उत्तर देना चाहिए, परन्तु हम उत्तर नहीं भी दे सकते हैं। स्किनर का चूहा लीवर दबाकर भोजन प्राप्त करता है, परन्तु वह लीवर नहीं भी दबा सकता है।

9) क्लासिकी अनुकूलन तथा साघनात्मक अनुकूलन में एक अन्तर यह भी है कि क्लासिकी अनुकूलन में उत्तेजना पहले आती है और प्रतिक्रिया बाद में। भोजन पहले घटित होता है और तब कुत्ता लार टपकाता है। इसी तरह सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर पहले घंटी बजाती है और तब वह लार गिराता है। प्रकाश पहले कौंघता है और पुतली बाद में सिकुड़ती है। दूसरी ओर साधनात्मक अनुकूलन में पहले प्रतिक्रिया होती है और तब उत्तेजना। स्किनर का चूहा पहले अनुकूलित प्रतिक्रिया करता है और तब उसे अननुकूलित उत्तेजना मिलती है। पहले वह लीवर दबाता है और तब उसे भोजन की गोली मिलती है। इसी तरह, परिहार अनुकूलन तथा पलायन अनुकूलन में आघात से बचने के लिए प्राणी को पहले प्रतिक्रिया करनी पड़ती है।

10) दैनिक जीवन में क्लासिकी अनुकूलन की अपेक्षा साधनात्मक अनुकूलन का महत्व अधिक देखा जाता है। बच्चों के समाजीकरण के लिए साधनात्मक कार्य-विधि अधिक उपयुक्त एवं लाभदायक है। कारण यह है कि यहाँ व्यक्ति के व्यवहार के परिणामों में परिमार्जन लाना संभव है। अच्छा व्यवहार करने पर पुरस्कार तथा बुरा व्यवहार करने पर दण्ड देकर उनके घटित होने की सम्भावना क्रमशः बढ़ाई तथा घटाई जा सकती है। इस प्रकार, अच्छे व्यवहारों के निर्माण

तथा बुरे व्यवहारों के निदान में इस अनुकूलन का महत्व अपेक्षाकृत अधिक हैं व्यवहार चिकित्सा अथवा व्यवहार-परिमार्जन में क्लासिकी अनुकूलन की तुलना में साधनात्मक अनुकूलन की भूमिका अधिक सराहनीय है।

स्पष्ट हुआ कि क्लासिकी तथा साधनात्मक अनुकूलन में कार्य-विधि सम्बन्धी, प्रबलन सम्बन्धी तथा उपयोगिता सम्बन्धी अनेक अन्तर हैं।

8.7 सीखने का स्थानान्तरण

व्यक्ति प्रायः अपने पूर्व की सीखी योग्यता या कौशल का उपयोग बाद की परिस्थितियों में करता है। अपने दैनिक जीवन में जब कभी हम कोई दक्षता या प्रशिक्षण अर्जित करते हैं तो हम देखते है कि इसका प्रभाव बाद में किसी अन्य कार्य के संपादन पर पड़ता है। पूर्व के कार्यसंपादन में बनी आदत का बाद के कार्यसंपादन पर पड़ने वाले इस प्रभाव को ही स्थानांतरण प्रभाव कहते हैं। उदाहरण के लिए, साइकिल चलाना सीख लेने के बाद स्कूटर चलाना सीखना आसान हो जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि साइकिल चलाना सीख लेने के फलस्वरूप जिस दक्षता का विकास होता है, उसका उपयोग दूसरी दो पहियोंवाली गाड़ियों को चलाना सीखने में किया जाता है। फलस्वरूप, पूर्व-आदत का उपयोग एक नए स्वरूप के कार्यों के शिक्षण में किया जाता है।

अतः शिक्षण-स्थानांतरण से हमारा अभिप्राय किसी एक कार्य के सीखने का किसी दूसरे कार्य पर पड़ने वाले प्रभाव से है। यह स्थानान्तरण तीन तरह का होता है - धनात्मक, ऋणात्मक तथा शन्य।

8.7.1 धनात्मक शिक्षण स्थानांतरण-

जब किसी पूर्व अर्जित योग्यता का बाद में सीखी जाने वाली अथवा अर्जित की जाने वाली क्रिया पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है, अर्थात सहूलियत होती है, तब इस प्रकार के प्रभाव को धनात्मक स्थानांतरण कहते हैं। इस तरह के प्रभाव के फलस्वरूप बाद में सीखी जाने वाली क्रिया को सीखने में आसानी होती है। इसीलिए, इस प्रभाव को सहूलियत प्रदान करने वाला प्रभाव कहते हैं। उदाहरण के लिए, रेखागणित अच्छी तरह सीख लेने के फलस्वरूप त्रिकोणमिति की समस्याओं में सहूलियत का होना धनात्मक स्थानांतरण है। इसी तरह जब हम किसी एक दुपहिए गाड़ी, जैसे साइकिल चलाना सीखने में सहूलियत का होना भी धनात्मक स्थानांतरण का ही उदाहरण है। धनात्मक स्थानांतरण की घटना को सीधा स्थानांतरण या अभ्यस्तता से उत्पन्न सुविधा भी कहा जाता है।

8.7.2 ऋणात्मक शिक्षण स्थानांतरण-

किसी पूर्व अर्जित योग्यता का बाद में अर्जित की जाने वाली योग्यता पर दूसरे तरीके से भी प्रभाव पड़ता है। इसे निषेधात्मक स्थानांतरण कहते हैं। इस दूसरे प्रकार के प्रभाव के फलस्वरूप पूर्व प्राप्त योग्यता के बाद का कार्य संपादन अवरूद्ध होता है, अर्थात दूसरे कार्य पर योग्यता प्राप्त करने की प्रक्रिया में बाधा होती है। चूँकि, इस प्रकार का अवरोध पूर्व कार्य को सीखने के फलस्वरूप आदत के कारण होता है, इसलिए इसे आदतजन्य अवरोध भी कहते हैं। उदाहरणस्वरूप, **BUT** का सही उच्चारण सीख लेने के फलस्वरूप बच्चों में **PUT** का सही उच्चारण सीखने में कठिनाई होती है। इसी तरह, पहले **PALE** शब्द को शुद्ध-शुद्ध लिखना सीख लेने के बाद **JALE** शब्द को शुद्ध-शुद्ध लिखना सीखने में कठिनाई होती है। हम अपने दैनिक जीवन में प्रायः अनुभव करते हैं कि कोई ड्राइवर बाई ओर की स्टेयरिंग वाली गाड़ी चलाने का आदी हो जाने पर दाई ओर की स्टेयरिंग वाली गाड़ी को चलाने में असुविधा अनुभव करता है।

8.7.3 शून्य प्रभाव-

जब पूर्व अर्जित योग्यता बाद में अर्जित की जाने वाली योग्यता पर किसी प्रकार का प्रभाव (न तो धनात्मक और न निषेधात्मक) नहीं डालता, तब इसे ही शून्य प्रभाव कहते हैं। अर्थात् यहाँ पूर्वशिक्षण न तो बाद के शिक्षण में कोई सहयोग देता है और न कोई अवरोध ही उत्पन्न करता है।

स्थानांतरण प्रभाव-संबंधी उपर्युक्त प्रकारों को निम्नांकित रूपावली से और भी अच्छी तरह समझा जा सकता है-

स्थानांतरण प्रभाव का स्वरूप	मौलिक शिक्षण	बाद का शिक्षण	मौलिक शिक्षण का बाद के शिक्षण पर पड़ने वाला प्रभाव
(A) धनात्मक स्नानांतरण	कार्य-'ई'	कार्य-'बी'	सहूलियत
(B) निषेधात्मक स्थानांतरण	कार्य-'ए'	कार्य 'डी'	अवरोधात्मक
(C) शून्य प्रभाव	कार्य-'सी'	कार्य-'एफ'	कोई प्रभाव नहीं

8.7.4 पार्श्विक स्थानांतरण-

'धनात्मक स्थानांतरण' का एक सरल रूप शारीरिक अवयवों की कार्यक्षमता पर देखा जाता है। पार्श्विक स्थानांतरण शारीरिक क्रिया-प्रणाली से संबंद्ध है। स्थानांतरण की यह घटना शरीर के दुतरफा कार्य-प्रणाली के नियमों द्वारा अपने-आप यानी स्वतः संचालित होती है। इस प्रकार के स्थानांतरण में शरीर के किसी एक भाग के अवयवों द्वारा अर्जित कौशल अथवा योग्यता शरीर के

दूसरे तरफ के पूरक अवयवों में स्वतः स्थानांतरित हो जाती है। इस तरह के स्थानांतरण के फलस्वरूप शरीर का अनभ्यस्त भाग भी उस कार्य को करने में समर्थ होता है, जिस कार्य पर शरीर का कोई एक भाग अभ्यस्त रहता है। उदाहरण के लिए, दाँए हाथ से लिखने की आदत को लें। प्रायः यह देखा जाता है कि दाएँ हाथ से अर्जित योग्यता (लिखने की योग्यता) का कुछ-न-कुछ अंश बाएँ हाथ में भी हस्तांतरित हो जाता है। फलतः, व्यक्ति बाएँ हाथ से भी लिखने की क्रिया करने में समर्थ हो सकता है और केवल थोड़े-से ही प्रयासों में बाएँ हाथ की निपुणता को दाएँ हाथ के बराबर बढ़ाया जा सकता है।

पार्श्विक स्थानांतरण की घटना की जाँच भी हम प्रयोगशाला में आसानी से कर सकते हैं। इसके लिए प्रयोगशालाओं में प्रायः दर्पण ओरखण कार्य का उपयोग किया जाता है। यह प्रयोग निम्नलिखित तरीके से किया जाएगा-

शिक्षण कार्य		व्यवहृत हाथ	प्रयास की संख्या
पूर्व जाँच की अवस्था	दर्पण ओरखण	बायाँ	दो (2)
प्रयास की अवस्था	वही	दाहिना	शिक्षण के लिए निर्धारित मानदंड तक
पश्चात जाँच की अवस्था	वही	बायाँ	दो (2)

इसे पूर्व-टेस्ट पश्चात्-टेस्ट द्वारा किया जाता है जिसमें पहले बायें हाथ की कार्य-क्षमता दो प्रयास लेकर जाँच ली जाती है। फिर दायें हाथ से अभ्यास कराया जाता है और फिर बायें हाथ की क्षमता जाँची जाती है।

8.8 सारांश

- जब क्लासिकी अनुकूलन रूसी शरीरक्रियाशास्त्री पैवलव द्वारा कुत्ते के लार-मापन प्रयोग पर आधारित एकल-अनुक्रिया सीखने का एक प्रकार है जिसे पैवलोवियन अनुकूलन भी कहते हैं। इसमें किसी स्वाभाविक उत्तेजना के साथ किसी तटस्थ उत्तेजना को बार-बार प्रस्तुत करने पर उस तटस्थ उत्तेजना के साथ भी वही अनुक्रिया होने लगती है जो स्वाभाविक उत्तेजना से उत्पन्न होती थी।

- प्रवर्तन अनुकूलन का तात्पर्य सीखने की उस प्रक्रिया से है जिसमें प्राणी ऐसी अनुक्रिया का चयन करना सीखता है, जो प्रबलन को उत्पन्न करने में साधन का काम करती है। यह अनुकूलन चार प्रकार का होता है-प्राथमिक पुरस्कार अनुकूलन, परिहार अनुकूलन, पलायन अनुकूलन तथा अनुसंगी पुरस्कार अनुकूलन।
- पूर्व में सीखे गये किसी कौशल का बाद में सीखे जाने वाले कौशल पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे सीखने का स्थानान्तरण कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है धनात्मक, ऋणात्मक तथा शून्य।

8.9 शब्दावली

- **क्लासिकी अनुकूलनः** वह प्रक्रिया जिसके द्वारा स्वाभाविक उत्तेजना के साथ किसी तटस्थ उत्तेजना को बार-बार दुहराने से स्वाभाविक उत्तेजना के प्रति होने वाली स्वाभाविक अनुक्रिया का सम्बन्ध उस तटस्थ उत्तेजना के साथ हो जाता है, क्लासिकी अनुकूलन कहलाता है।
- **प्रवर्तन अनुकूलन:** वह प्रक्रिया जिसमें प्राणी वैसी अनुक्रिया का चयन करना सीखता है जो प्रबलन उत्पन्न करने में साधन का काम करती है, प्रवर्तन अनुकूलन कहलाता है।
- **प्राथमिक पुरस्कार अनुकूलन:** वह अनुकूलन जिसमें प्राणी उस अनुक्रिया को सीखता है जो पुरस्कार को प्राप्त करने में साधानात्मक होती है।
- **परिहार अनुकूलन:** वह अनुकूलन जिसमें प्राणी उस अनुक्रिया को सीखता है जो उसे कष्टकर उत्तेजना से बचने में मदत करती है।
- **पलायन अनुकूलन:** वह अनुकूलन जिसमें प्राणी उस अनुक्रिया को सीखता है जो उसके लिए कष्टकर उत्तेजना से मुक्ति दिलाने में साधनात्मक होती है।
- **अनुषंगी पुरस्कार अनुकूलन:** वह अनुकूलन जिसमें प्राणी का व्यवहार उस उत्तेजना को प्राप्त करने में साधनात्मक होता है जिसका अपना कोई जैविक महत्व नहीं होता है, परन्तु अतीत में उसका सम्बन्ध किसी जैविक महत्व वाली उत्तेजना से रह चुका होता है।
- **पार्श्विक स्थानान्तरण:** शरीर के किसी एक भाग के अवयवों द्वारा अर्जित कौशल अथवा योग्यता का शरीर के दूसरे भाग के पूरक अवयवों में स्वतः स्थानान्तरित हो जाना जिससे कि शरीर का वह अनाभ्यस्त भाग भी उस कौशल का सम्पादन करने लगे, पार्श्विक स्थानान्तरण कहलाता है।

8.10 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) क्लासिकी अनुकूलन की स्थापना हुई-

(क) बिल्ली पर प्रयोग करने (ख) कुत्ते पर प्रयोग करके

(ग) चूहे पर प्रयोग करके (घ) कबूतर पर प्रयोग करके

2) किस अनुकूलन में तटस्थ उत्तेजना के बाद स्वाभाविक उत्तेजना प्रस्तुत की जाती है?
3) वह अनुकूलन, जिसमें प्राणी उस अनुक्रिया को सीखता है जो पुरस्कार को प्राप्त करने में साधनात्मक होती है, कहलाता है-
   (क) प्राथमिक पुरस्कार अनुकूलन (ख) अनुषंगी पुरस्कार अनुकूलन
   (ग) परिहार अनुकूलन (घ) पलायन अनुकूलन
4) जब किसी एक अंग से सीखी योग्यता का अन्तरण दूसरे अंग पर होता है तो इसे.............अन्तरण कहते हैं।

उत्तर: 1) ख 2) क्लासिकी अनुकूलन 3) क 4) पार्श्विक

8.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान-अरूण कुमार सिंह- मोतीलाल - बनारसी दास
- शारीरिक मनोविज्ञान- ओझा एवं भार्गव - हर प्रसाद भार्गव, आगरा
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान- सुलैमान एवं खान-शुक्ला बुक डिपो, पटना
- सामान्य मनोविज्ञान- सिन्हा एवं मिश्रा - भारती भवन

8.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. क्लासिकी अनुकूलन से आप क्या समझते हैं? इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालें।
2. प्रवर्तन अनुकूलन को परिभाषित करें। इसके विभिन्न प्रकारों को सोदाहरण समझाएँ।
3. क्लासिकी एवं प्रवर्तन अनुकूलन में अन्तर स्पष्ट करें।
4. सीखने का स्थानान्तरण क्या है? विभिन्न प्रकार के शिक्षण स्थानान्तरण को उदाहरण के साथ प्रस्तुत करें।

इकाई–9 स्मरण और विस्मरण: स्वरूप, प्रक्रिया, भूलने के कारण, स्मृति का त्रिकोणीय तंत्र–संवेदी, एस.टी.एम., एल.टी.एम.

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 स्मृति का अर्थ

9.4 स्मरण का स्वरूप

9.5 स्मरण में सन्निहित प्रक्रियाएँ

9.6 भूलने के कारण

- 9.6.1 सीखने की क्रिया से सम्बद्ध कारक
- 9.6.2 धारण क्रिया से सम्बद्ध तत्व
- 9.6.3 प्रत्याह्वान की क्रिया से सम्बद्ध कारक
- 9.6.4 भूलने के अचेतन कारण

9.7 स्मृति-कोष या स्मृति-भंडार

- 9.7.1 संवेदी स्मृति-कोष
- 9.7.2 लघु-अवधि स्मृति या एस.टी.एम.
- 9.7.3 दीर्घ-अवधि स्मृति या एस.टी.एम.

9.8 सारांश

9.9 शब्दावली

9.10 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

9.11 संदर्भ-ग्रन्थ सूची

9.12 निबन्धात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने अधिगम के स्वरूप एवं सिद्धान्त की जानकारी हासिल की। आपने यह देखा कि सीखना नये अनुभवों को ग्रहण करना है। अब प्रश्न उठता है कि सीखने के द्वारा

व्यवहारों का जो परिवर्तन और परिमार्जन होकर नई अनुभूतियां बनती हैं वह कितने समय तक व्यक्ति के तंत्रिका-तंत्र में सुरक्षित रहती है?

प्रस्तुत इकाई में आप सीखने के पश्चात घटित होने वाली मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं, मूलतः स्मरण और विस्मरण, के बारे में अध्ययन करेंगे और देंखगे कि किस प्रकार सीखने के पश्चात धारण क्रिया सम्पन्न होती है, सूचनाएँ कितनी देर तक मस्तिष्क में ठहरती हैं, स्मृति के कितने भंडार हैं, स्मरण में सन्निहित प्रक्रियाएँ कौन-कौन सी हैं तथा विस्मरण के कारण क्या होते हैं?

इस इकाई के अध्ययन से आपको यह लाभ होगा कि आप स्मरण के स्वरूप को समझ सकेंगे तथा स्मरण की पूरी प्रक्रिया, स्मरण से सम्बन्धी आधुनिक विचार, भूलने के विभिन्न कारण आदि पर गहन विचार करने योग्य हो जायेगे।

9.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप इस योग्य हो सकेंगे कि आप -

- स्मरण के स्वरूप एवं उसमें निहित प्रक्रियाओं का विवेचन कर सकें।
- स्मृति के तत्वों या अवस्थाओं को बता सकें।
- विस्मरण के विभिन्न कारणों का उल्लेख कर सकें तथा
- स्मृति-भंण्डार पर टिप्पणी लिख सकें।

9.3 स्मृति का अर्थ

पूर्व की इकाइयों में आपने सीखने के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की। सीखने को परिभाषित करना, सीखने की विशेषताएँ, सीखने के सिद्धान्त आदि का अध्ययन कर आप निश्चित ही समझ गये होंगे कि अनुभूतियों के निर्माण में शिक्षण या सीखने की अहं भूमिका होती है। प्रस्तुत अध्याय में हम लोग किसी विषय और घटना के सीखने के पश्चात् घटित होने वाली मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं पर चर्चा करेंगे। ये प्रक्रियाएँ स्मरण और विस्मरण से सम्बन्धित हैं। दरअसल, जब भी हम किसी विषय को सीखते हैं तो सीखे हुए विषय का स्मृति-चिन्ह हमारे मस्तिष्क में बनता है और हम उन स्मृति-चिन्हों को धारण करते हैं। यह धारणा जितनी लम्बा एवं मजबूत होगी, स्मरण उतना ही तीक्ष्ण होगा। इसी आधार पर स्मृति को पूर्व-अनुभूतियों को मस्तिष्क में इकट्ठा कर रखने (यानी, धारण करने) की क्षमता के रूप में जाना जाता है। स्मृति के दो पक्ष बनाए गये हैं- धनात्मक पक्ष तथा ॠणात्मक पक्ष। स्मृति के धनात्मक पक्ष से तात्पर्य पूर्व अनुभूतियों को याद करके रखने से होता है तथा ॠणात्मक

पक्ष से तात्पर्य उन अनुभूतियों को याद करने की असमर्थता से होता है। अतः स्मृति के धनात्मक पक्ष को स्मरण तथा ऋणात्मक पक्ष को विस्मरण कहते हैं।

स्मृति के तत्व या अवस्थाएँ-

स्मृति का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि इसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं जिन्हें स्मृति के तत्व के रूप में भी जानते हैं। ये तीनों अवस्थाएँ हैं- संकेतन, संचयन तथा पुनः प्राप्ति।

1) **संकेतन-** निश्चित रूप या संकेत के रूप में तंत्रिका-तंत्र में ग्रहण करता है। सामान्यतः मस्तिष्क में स्मृति-चिन्हों का निर्माण होना ही संकेतन कहलाता है। इसे पंजीकरण भी कहते हैं। पंजीकरण में ध्यान, रिहर्सल, विस्तरण तथा संगठन की अहं भूमिका होती है।
2) **संचयन-** संचयन स्मृति का दूसरा तत्व है। संचयन से तात्पर्य सांकेतिक सूचनाओं एवं उत्तेजनाओं को कुछ समय के संचित कर रखने से है। कितने समय के लिए कोई सूचना संचित हो पाती है इसी के आधार पर स्मृति के प्रकार निर्धारित किए जाते हैं।
3) **पुनः प्राप्ति-** पुनः प्राप्ति को स्मृति का तीसरा तत्व बतलाया गया है। पुनः प्राप्ति से तात्पर्य संचित कर रखे गए सांकेतिक सूचनाओं का प्रत्याह्वान कर उसका उपयोग करने से है।

स्मृति के इन तत्वों को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। मान लीजिए कि आप मनोविज्ञान के विभिन्न स्कूलों या विचार-तंत्रों को याद करना चाहते हैं, तो आप पहले उनकी लिस्ट बनाकर अपने सामने रखेंगे और उसे बार-बार देखेंगे या पढ़ेंगे। इससे आपके मस्तिष्क में कुछ परिवर्तन होगा और उस लिस्ट में दर्ज सूचनाओं का स्मृति-चिन्ह आपके मस्तिष्क में बन जायेगा। यही संकेतन की प्रक्रिया हुई। अब आप कोशिश करेंगे कि उस लिस्ट में दर्ज मनोविज्ञान के सभी स्कूल या विचार-तंत्र आपके मस्तिष्क में सुरक्षित रहें, यदि तीन दिनों बाद किसी परीक्षा में आपको उसका इस्तेमाल करना है तो कम-से-कम तीन दिनों तक उन सूचनाओं को आप संचित करके रखना चाहेंगे। यही संचयन कहलायेगा। तीन दिनों बाद जब आप परीक्षा भवन में उस लिस्ट में दर्ज कामों को अपनी वर्तमान चेतना में लाना चाहेंगे, यानी, उसका प्रत्याह्वान करना चाहेंगे तो यही पुनः प्राप्ति कहलायेगा। सभी संचित की गई सूचनाओं की पुनः प्राप्ति हो ही, यह आवश्यक नहीं है। इसीलिए, स्मृति के इन तीनों तत्वों का सम्बन्ध स्मरण से कम और विस्मरण से अधिक बताया गया है।

9.4 स्मरण का स्वरूप

स्मरण को अच्छी तरह समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसके स्वरूप पर विचार किया जाए। स्मरण की परिभाषाओं से स्पष्ट हुआ कि स्मरण में व्यक्ति सीखी हुई विषय-सामग्री को धारण करता है। इस धारण में सूचनाएँ संचित की जाती हैं। सूचना संचित करने से सम्बद्ध तीन मूल प्रश्न उठ खड़े होते हैं-

(क) कितनी शीघ्रता से सूचनाएँ निबद्ध की जाती हैं?

(ख) कितनी अधिक सूचनाएँ संचित की जा सकती हैं?

(ग) इन संचित सूचनाओं में से कितनी नष्ट हो जाती हैं? आदि ऐसे प्रश्न हैं जिनके उत्तर से स्मरण का स्वरूप स्पष्ट हो जाता हैं।

वस्तुतः स्मरण के स्वरूप का अध्ययन प्राचीन काल से ही होता चला आ रहा है। जिसमें प्राचीन दर्शनशास्त्री अरस्तू का अध्ययन उल्लेखनीय है। अरस्तू ने स्मरण के सम्बन्ध में अपने निबन्ध ''ऑन मेंमरी'' में बताया कि किसी विषय को सीखने या अनुभव से व्यक्ति के मस्तिष्क में कुछ नये चिन्ह बन जाते हैं। उस सीखे हुए विषय या अनुभव को किसी समय पुनः उत्तेजित करने पर उसका स्मरण हो जाता है। उनका विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में मोम की टिकिया के समान कोई पदार्थ होता है जिस पर अनुभवों से चिन्ह बनते हैं। जब तक ये चिन्ह मस्तिष्क में सुरक्षित रहते हैं व्यक्ति को उसका स्मरण होता रहता है एवं उन चिन्हों के कमजोर होने या नष्ट होने से विस्मरण होता है। दूसरे शब्दों में, उन चिन्हों के उपयोग से स्मरण तथा अनुपयोग से विस्मरण होता है। अरस्तू का यह विचार शक्तिवादी मनोवैज्ञानिकों का आधार बन गया।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक अरस्तू के इस विचार को स्वीकार नहीं करते हैं, फिर भी इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि स्मरण की क्रिया मस्तिष्क के अग्र खंड पर निर्भर करती है। अतः शरीर-क्रिया मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि स्मरण एक शारीरिक प्रक्रिया है। इन विद्वानों ने पशुओं के मस्तिष्क के विभिन्न भागों को क्षतिग्रस्त कर यह निष्कर्ष दिया कि स्मरण क्रिया और मस्तिष्क में गहरा सम्बन्ध है। मस्तिष्क का अग्र खंड स्मरण क्रिया का संचालन करता है। इनके अनुसार किसी विषय को सीखने से मस्तिष्क के इसी अग्र खंड में कुछ नये चिन्ह बनते हैं, जिन्हें स्मृति चिन्ह कहा जाता है। इन स्मृति-चिन्हों के मस्तिष्क में सुरक्षित रहने से स्मरण एवं इसके नष्ट होने या कमजोर होने से विस्मरण होता है। इसके अतिरिक्त स्मरण-प्रक्रिया से सम्बन्धित अनेक प्रयोगात्मक अध्ययन हुए हैं। इन अध्ययनों से मालूम हुआ है कि स्मरण का सम्बन्ध कुछ स्नायुओं से न होकर इसका सम्बन्ध स्नायुपुंजों से होता है।

1) **पुनरूत्पादक स्वरूप-** स्मरण के स्वरूप पर सर्वप्रथम एबिंगहॉस ने अपनी पुस्तक ''ऑन मेंमोरी''(1885) में एक नवीन वैज्ञानिक विचार प्रस्तुत किया जिसे स्मृति चिन्ह के 'परिमाणात्मक क्षीणता' सिद्धांत कहा जाता है। इसने स्मरण के प्रयोगात्मक अध्ययनके लिए मौखिक विषय के रूप में निरर्थक पदों का निर्माण किया। इसने स्वयं कुछ निरर्थक पदों को सम्पूर्ण रूप से याद किया तथा कुछ निरर्थक पदों को प्रयोज्यों से याद कराया। इसने बचत विधि द्वारा अपनी धारणा तथा प्रयोज्यों के धारणा की जाँच की। इस प्रयोगात्मक अध्ययन के आधार पर एबिंगहॉस ने निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत किया-

1. किसी भी अधिगम की स्थापना प्रयासों की पुनरावृत्ति से होती है।

2. प्रयासों की संख्या जितनी अधिक होगी,, अधिगम उतना ही प्रबल होगा।
3. अधिगम के कारण स्मृति-चिन्ह बनते हैं।
4. अधिगम की शक्ति में वृद्धि होने से स्मृति-चिन्ह भी प्रबल होते हैं और उस सीखे गए विषय का स्मरण अधिक समय तक रहता है।
5. अधिगम के कारण बने स्मृति-चिन्हों का उपयोग न हो तो वे मिटने लगते हैं।
6. धारणा में सीखे हुए विषय उसी रूप में सुरक्षित रहते हैं जिस तरह वे सीखे गए हैं।
7. धारण अन्तराल का समय जितना बढ़ता जाता है, स्मृति-चिन्हों की स्पष्टता उतनी घटती जाती है एवं सीखे हुए विषय के कुछ भाग पुनः स्मरण के बिन्दु से धीरे-धीरे मिटने लगते हैं।
8. धारण अन्तराल के अधिक बढ़ जाने से विस्मरण की मात्रा भी बढ़ती है।
9. लेकिन सीखे गए विषय का जितना भी भाग स्मृति में बचा रहता है वह उसी रूप में सुरक्षित रहता है, जिस रूप में सीखा गया था।

उपर्युक्त निष्कर्षो के आधार पर एबिंगहॉस ने यह दावा किया कि स्मरण पूर्णतः पुनरूत्पादक स्वरूप का होता है। इस प्रकार एबिंगहॉस के अनुसार स्मरण एक पुनरूत्पादक प्रक्रिया है।

19 वीं शताब्दी के अंतिम वर्षो के पूर्व ही एबिंगहॉस के विचारों का विरोध होने लगा। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोगात्मक अध्ययनों के आधार पर प्रमाणित किया कि स्मरण शारीरिक प्रक्रिया नहीं है अपितु एक मानसिक प्रक्रिया है। इस सम्बन्ध में कई प्रयोगात्मक अध्ययन किए गए हैं। फिलिप 1897 ने एक अध्ययन में पाया कि उसके प्रयोज्य ने अपने स्मरण से जिस विषय को प्रस्तुत किया, उसमें कुछ अपनी ओर से मिला दिया। इसने अपने प्रयोज्य को किसी वस्तु का अनुभव करने को कहा, उसके बाद उसके आकार का चित्र खींचने को कहा। इसने पाया कि प्रयोज्य ने अपने पुनरूत्पादन में कुछ नयी-नयी बातें जोड़कर उसे अधिक साधारण, सुडौल तथा सार्थक बना दिया।

2) **रचनात्मक स्वरूप -** एबिंगहॉस द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत का विरोध करते हुए गेस्टाल्टवादियों ने यह कहा कि समय बीतने के साथ-साथ केवल स्मृति-चिन्हों में परिमाणात्मक क्षीणता ही नहीं होती अपितु इसमें परिमाणात्मक काट-छाँट भी प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार सीखे गए मूल विषय का पुनः स्मरण करते समय स्वतः कई प्रकार के परिमाणात्मक परिवर्तन हो जाते हैं एवं कुछ सूक्ष्म अंशों का विस्तार हो जाता है। अतः पुनरूत्पादित विषय आंशिक रूप से पुनः स्मरण का फलएवं आंशिक रूप से ये रचनात्मक प्रक्रिया एवं कल्पना का फल होता है।

स्मरण के रचनात्मक स्वरूप के सम्बन्ध में सबसे अधिक व्यापक एवं क्रमबद्ध प्रमाण बार्टलेट ने 1932 में अपनी पुस्तक ''रिमेंम्बरिंग'' में प्रस्तुत किया। इसने कहा कि सार्थक विषयों का अध्ययन प्रयोगशाला के अन्तर्गत किया जा सकता है। उसने कहानी, गद्यांश, चित्र आदि विषयों के माध्यम से अपना प्रयोगात्मक अध्ययन किया। उसने कई विधियों से प्रयोज्य के पुनुरूत्पादनों को प्राप्त करके उनमें पाए गए परिवर्तनों का विश्लेषण किया। उसने प्रदत्त प्राप्त करने के लिए प्रयोज्य को

''प्रेतों की लड़ाई'' नामक कहानी सुनायी और उनके स्मरण की जाँच के लिए प्रमुख तीन विधियों का प्रयोग किया-

(क) आनुक्रमिक पुनरावर्तन विधि- इसमें एक ही प्रयोज्य से भिन्न-भिन्न अवधियों के उपरान्त पुनरूत्पादनों को प्राप्त किया जाता था। जैसे- उस प्रयोज्य की कहानी सुनाने के बाद उसके पुनः स्मरण की जाँच 15 मिनट तथा चार महीने के बाद की गयी।

(ख) क्रमिक पुनरावर्तन विधि- इस विधि में कई प्रयोज्यों को शामिल किया गया। इसमें कुछ समय के अन्तराल पर एक प्रयोज्य दूसरे को, दूसरा तीसरे को और इस तरह प्रयोज्यों की श्रृंखला के द्वारा उनके पुनरूत्पादनों की जाँच की गयी।

(ग) एक पुनरावृत्ति- इसमें कई प्रयोज्यों को एक साथ मूल विषय बता दिया जाता था। परन्तु निश्चित अवधियों के उपरान्त उनमें से एक-एक प्रयोज्य से बारी-बारी से पुनरूत्पादनों को प्राप्त किया जाता था।

बार्टलेट ने इन पुनरूत्पादनों के विश्लेषण एवं तुलना करने से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त किया-

1. कहानी का साधारण रूप प्रयोज्य के सभी पुनरूत्पादनों में सुरक्षित रहता है।
2. कहानी के असम्बद्ध तथा बाधा उत्पन्न करने वाले तत्वों की बुद्धि-संगत व्याख्या करने की प्रबल प्रवृत्ति रहती है।
3. कहानी का कोई मुख्य भाग पुनरूत्पादन में प्रमुख केन्द्र बन जाता है और उसी के चारों तरफ दूसरी बातें रखी जाती हैं।
4. प्रयोज्य सन्दर्भ देने के क्रम में नयी-नयी बातों का आविष्कार करता है और पुरानी बातों को छोड़ देता है जिससे उसके सभी भाग आपस में मिल जाये।
5. प्रयोज्य केवल एक रूपरेखा अथवा संवेगात्मक रूप से उत्पन्न सार्थक स्थलों का स्मरण रखता है, जिससे पता चलता है कि स्मरण क्रिया में उसका पूरा व्यक्तित्व, संवेग, अभिरूचि एवं मनोवृत्ति आदि का समावेश रहता है।

बार्टलेट ने एबिंगहॉस की विधि को कृत्रिम बताते हुए कहा कि उसने अपने जीवन में कभी भी निरर्थक पदों का प्रयोग नहीं किया। बार्टलेट के अनुसार व्यक्ति किसी भी सार्थक वस्तु को रूपरेखा एवं पशोधन के रूप में देखता है। दूसरे शब्दों में, समय बीतने के साथ-साथ रूपरेखा प्रधान रहती है और संशोधन का महत्व घटता जाता है। यहाँ तक कि सिर्फ रूपरेखा की याद रह जाती है और प्रयोज्य किसी भी अक्रमबद्ध कहानी को सार्थक बना देता है। उसने कहा कि प्रयोज्य पुनरूत्पादन के क्रम में समतलन, तीक्ष्णता तथा समीकरण का सहारा लेता है। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर बार्टलेट ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि समय बीतने के साथ-साथ स्मृति-चिह्न में गुणात्मक तोड़-मरोड़ उत्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त सभी अध्ययनों से ज्ञात होता है कि स्मरण एक रचनात्मक प्रक्रिया है न कि पुनरूत्थान प्रक्रिया इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि एबिंगहॉस ने इसे पुनरूत्पादन प्रक्रिया क्यों माना? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि एबिंगहॉस एक प्रयोगात्मक साहचर्यवादी थे। इसने अपने प्रयोग में निरर्थक पदों का व्यवहार किया। इसलिए उसे स्मरण का स्वरूप पुनरूत्पादित दिखाई पड़ा। दूसरी ओर बार्टलेट तथा अन्य मनावैज्ञानिकों ने स्मृति-प्रयोगों को जीवन के समीप रखा, इसलिए इन्होंने इसे रचनात्मक प्रक्रिया माना। अतः निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि किसी निरर्थक पदों को सीखने में पुनरूत्पादन प्रक्रिया तथा सार्थक विषय को सीखने में रचनात्मक प्रक्रिया कार्य करती है।

9.5 स्मरण में सन्निहित प्रक्रियाएँ

स्मरण एक जटिल मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम धारण की गई पूर्व अनुभूतियों को वर्तमान चेतना में लाने का प्रयास करते हैं। इसमें विकास तथा ह्रास की क्रियाएँ चलती रहती हैं। स्मरण कोई स्थायी रूप से रहने वाली मानसिक क्रिया नहीं है अपितु इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। स्मरण में हम उन विषयों या घटनाओं को चेतना में लाते हैं जिन्हें हमने पूर्व में देखा, सुना या अनुभव किया है। यदि सम्पूर्ण स्मरण-प्रक्रिया का विश्लेषण करें तो उसमें मुख्य चार मानसिक प्रक्रियाएँ सन्निहित पाते हैं।

1. सीखना अथवा अधिगम
2. धारण करना
3. प्रत्याह्वान करना
4. पहचान करना

1) **सीखना अथवा अधिगम-** सीखना प्राणी की अनिवार्य क्रिया है। यह प्राणी के अभियोजन में सहायक होता है। मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा सृष्टि का सबसे विकसित प्राणी है। सीखने के द्वारा मनुष्य अपनी श्रेष्ठता और समायोजन स्थापित कर पाता है। सीखना और स्मरण दोनों मानसिक उच्च प्रक्रियाएँ हैं। इन दोनों में अभिन्न सम्बन्ध है, क्योंकि स्मरण की क्रियाएँ सीखने के द्वारा ही स्पष्ट होती हैं और स्मरण के अभाव में हम किसी क्रिया को नहीं सीख सकते। इसलिए सीखने की क्रिया की व्यापकता बहुत अधिक है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से इन दोनों क्रियाओं में अन्तर किया जा सकता है। जब हम किसी नवीन अनुभव को ग्रहण कर अपने व्यवहारों में परिवर्तन या परिमार्जन लाते हैं तो वह सीखना है। दूसरी ओर सीखी गयी क्रिया के अभ्यास, धारण और पुनःस्मरण को स्मरण कहा जाता है। अतः स्पष्ट हुआ कि स्मरण-क्रिया का प्रथम और आवश्यक अंग सीखना ही है। जिस विषय-वस्तु पर जितना अधिक अभ्यास किया जाता है, उसकी याद उतने ही अधिक दिनों तक बनी रहती है। उदाहरण के लिए, किसी कविता, विषय या अन्य क्रियाओं का जितना अधिक अभ्यास किया जायेगा, उसकी स्मृति उतनी

अच्छी होगी। अतः कह सकते हैं कि स्मरण क्रिया के लिए सीखना अनिवार्य है एवं सीखने के लिए स्मरण आवश्यक अंग है।

सीखने की परिभाषा में लिखा जा चुका है कि ''सीखना व्यवहार का अपेक्षाकृत स्थायी परिवर्तन एवं परिमार्जन है जो निरीक्षण अथवा प्रशिक्षण के फलस्वरूप क्रिया विशेष में होता है।'' इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि सीखने के फलस्वरूप व्यवहारों का अपेक्षाकृत स्थायी परिवर्तन होता है। जो परिवर्तन स्थायी स्वरूप के होते हैं, उनका स्मरण अधिक समय तक बना रहता हैं स्मरण सीखने की विधि, सीखने वाले की इच्छा, आवश्यकता, अभिरूचि, सीखने की मात्रा आदि पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त सीखने के अन्य कारक जैसे- विषय का स्वरूप, विषय की सार्थकता-निरर्थकता, विषय की पुनरावृत्ति या अभ्यास आदि भी स्मरण क्रिया को प्रभावित करते हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि स्मरण और सीखना दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

2) **धारण करना-** यह स्मरण की दूसरी अवस्था है। हमारा स्मरण धारण शक्ति पर निर्भर करता है। जिस विषय-वस्तु या क्रियाओं को हम सीखते हैं उन्हें धारण अवश्य करते हैं। धारण का सामान्य अर्थ है स्मृति में सुरक्षित रखना। ''सीखी हुई क्रिया के संचय में कोई भी परिवर्तन समयान्तर के कारण प्रभावित होता है तो उसे धारण कहते हैं।'' इस प्रकार सीखने के फलस्वरूप मस्तिष्क में जो स्मृति-चिन्ह उत्पन्न होते हैं उन्हें धारण की क्रिया कहा जाता है। इसीलिए धारण को एक दैहिक प्रक्रिया कहा गया है। जब तक स्मृति-चिन्ह मस्तिष्क में सुरक्षित रहते हैं, तब तक उस विषय की धारणा बनी रहती है और सीखा हुआ विषय याद रहता है। जिस विषय को जितनी ही अधिक निपुणता के साथ सीखते हैं, स्मृति-चिन्ह उतने ही मजबूत और पुष्ट होते जाते हैं और हम उतनी ही आसानी से उस विषय को याद कर पाते हैं। दूसरी ओर जब स्मृति-चिन्ह मस्तिष्क में क्षीण होकर मिटने लगते हैं तो उसी रूप में धारण भी कमजोर होकर समाप्त होने लगते हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि स्मरण का धनात्मक पहलू धारण है और इसका निषेधात्मक पहलू विस्मरण कहलाता है।

3) **प्रत्याह्वान करना-** प्रत्याह्वान स्मरण की तीसरी प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति धारण किये गये विषय या अनुभव को अपनी वर्तमान चेतना में लाने का प्रयास करता है। जब पूर्व में सीखे गए विषय या पाठ को व्यक्ति अपने सामने से हटा देता है तथा उसकी अनुपस्थिति में ही उसे बोलकर या लिखकर उसे पुनरूत्पादित करता है, यानी, धारणा की जाँच करता है तो इसे प्रत्याह्वान करना कहते हैं।

4) **पहचान करना-** पहचानना या पहचान करना धारणा की जाँच की विधि है एवं स्मरण की चौथी प्रक्रिया है जो मौलिक पाठ की अनुपस्थिति में धारणा की जाँच करता है। प्रत्याह्वान में जहाँ व्यक्ति मूल पाठ या विषय को उसकी अनुपस्थिति में ही बोलकर या लिखकर प्रत्याह्वान करता

है, वहीं पहचान या प्रत्यभिज्ञा में मूल पाठ या विषय को उससे मिलते-जुलते पाठ या विषय के साथ मिलाकर व्यक्ति के सामने उपस्थित किया जाता है और वह उस मूल पाठ को पहचानता है।

9.6 भूलने के कारण

स्मरण और विस्मरण साथ-साथ घटित होने वाली एक-दूसरे के विपरीत स्वभाव की प्रक्रिया है। स्मरण जहाँ सीखने की कुशलता, धारण क्रिया की प्रबलता एवं प्रत्याहा्न करने की क्रिया को प्रभावित करने वाले तत्वों पर निर्भर करता है वहीं भूलने की क्रिया स्मरण के उपर्युक्त अंगों या कारकों के कमजोर पड़ने के कारण होती है। अतएवं, भूलने के कारणों को उपर्युक्त तीनों अंगों के अनुसार तीन अलग-अलग वर्गों में रखा जा सकता है-

9.6.1 सीखने की क्रिया से संबद्ध कारक-

साधारणतः ऐसा विश्वास किया जाता है कि सीखने की क्रिया जितनी ही सबल होगी, स्मृति भी उतनी ही अच्छी होगी। इसके विपरीत, सीखने की क्रिया जितनी दुर्बल होगी, स्मृति भी उतनी ही खराब होगी, अर्थात भूलने की क्रिया अधिक मात्रा में और तेजी से होगी।

1) **शिक्षण-विषय की सार्थकता-** सामान्य जीवन के अनुभवों से हम जानते हैं कि सार्थक विषय को निरर्थक विषय की अपेक्षा आसानी से सीखा जाता है तथा उन्हें अपेक्षाकृत अधिक दिनों तक याद भी रखा जाता है। अध्ययनों में पाया गया है कि सार्थक विषयों की तुलना में निरर्थक विषयों का विस्मरण शीघ्र होता है तथा उनके भूलने की गति और मात्रा भी अधिक होती है। मनोवैज्ञानिकों ने इसके कई कारण बताए हैं, जैसे- (1) निरर्थक विषय की छाप मस्तिष्क में गहरी नहीं पड़ पाती, (2) निरर्थक होने के कारण उसका हमारी वर्तमान, पूर्व या भविष्य के अनुभवों के साथ ठीक से साहचर्य नहीं स्थापित हो पाता, (3) निरर्थक होने के कारण, वे हमारे जीवन के लिए उपयोगी नहीं होते, अतः वैसे विषयों की पुनरावृत्ति की संभावना नहीं रहती, (4) निरर्थक विषय को समझकर नहीं सीखा जाता, बल्कि रटकर सीखा जाता है और रटकर सीखे गए विषयों की स्मृति कमजोर रहती है तथा (5) निरर्थक विषय के शिक्षण में अभिरूचि का अभाव रहता है। उपर्युक्त कारणों के फलस्वरूप निरर्थक विषय की स्मृति क्षीण होती है।
2) **सीखने का स्तर-** मनोवैज्ञानिकों द्वारा किए गए प्रयोगों से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिला है कि जिस विषय को जितनी अच्छी तरह सीखा जाता है, उसकी धारण क्रिया उतनी ही अच्छी तरह होती है। अच्छी तरह सीखने का तात्पर्य सीखने की मात्रा या शिक्षणस्तर से है। अध्ययनों में देखा गया है कि मौलिक शिक्षण की धारण-क्रिया अति-अधिगम की मात्रा पर निर्भर करती है। किसी विषय को जितना अधिक सीखा जायेगा, यानी, उसका शिक्षण स्तर जितना भी ज्यादा होगा, उसका धारणा या स्मृति उतनी ही अधिक होगी, विस्मरण उतना ही कम होगा।

3) **शिक्षण विधि-** किसी शिक्षण सामग्री को किस विधि से सीखा गया यह भी स्मृति या विस्मरण का एक महत्वपूर्ण निरर्थक है। प्रयोगों से यह प्रमाणित हो चुका है कि अन्य अवस्थाओं के समान रहने पर अविराम रीति से सीखे गए विषय की स्मृति विराम रीति से सीखे गए विषय की अपेक्षा खराब होती है, अतः उन्हें हम शीघ्रता से भूल जाते हैं। इसका कारण यह है कि विराम रीति से सीखने पर सीखे गए विषय का मानसिक रूप से रिहर्सल करने का अवसर मिलता है, जिससे उस विषय के स्मृति चिन्ह अपेक्षाकृत आसानी से दृढ़ हो पाते हैं। यही कारण है कि विराम रीति से सीखे गए विषय को हम अपेक्षाकृत देर से भूलते हैं। इस संबंध में एबिंगहॉस द्वारा किए गए प्रयोग से भी स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।
4) **पुनः दुहराने की विधि का अभाव-** मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि किसी विषय के सीखने के फलस्वरूप प्राप्त निपुणता को बाद में बरकरार रखने हेतु मौलिक शिक्षण-विषय के प्रमुख हिस्सों या भागों को सीखने के तत्काल बाद समय-समय पर दुहराते रहना आवश्यक है। इस पुनरावृत्ति के अभाव में मौलिक विषय के स्मृति चिन्ह ठीक से दृढ़ नहीं हो पाते, फलतः हम उन्हें शीघ्र ही भूल जाते हैं।
5) **सीखने-संबंधी कुछ अन्य तत्व-** सीखने की क्रिया-संबंधी भूलने के उपर्युक्त कारणों के अलावा सीखने से संबंधित कुछ अन्य तत्व, जैसे-शिक्षण विषय का कठिनाई स्तर, आकार, शिक्षण विषय के विभिन्न अंशों या खंडों के बीच के संबंध आदि भी महत्वपूर्ण हैं।

9.6.2 धारण क्रिया से संबद्ध तत्व-

सीखने और प्रत्याह्रान के बीच धारण क्रिया होती है। इस अवधि के कारकों के प्रभाव से भी सीखी गई क्रियाएँ विस्मृत हो जाती हैं। ऐसे कारकों में निम्नलिखित कुछ प्रमुख कारक हैं-

1) **संस्मरण-** संस्मरण से उस क्रिया का बोध होता है, जिसके फलस्वरूप मौलिक शिक्षण-अभ्यास समाप्त होने के बाद धारण-मध्यांतर काल में मौलिक कौशल की स्मृति में कुछ समय तक वृद्धि होती रहती है। ऐसा खासकर उस समय होता है जब हम किसी विषय को शत-प्रतिशत स्तर (100 प्रतिशत स्तर) तक नहीं सीखकर अल्प शिक्षण ही करते हैं। संस्मरण की मात्रा भी कई बातों पर निर्भर करती है, जैसे-विषय की सार्थकता, प्रत्याह्रान करने की इच्छा, शक्ति, निपुणता-स्तर, मध्यांतर काल की अवधि इत्यादि।
2) **निद्रा का प्रभाव-** प्रयोगों से यह प्रमाणित हो चुका है कि मौलिक शिक्षण के बाद जागे रहने की अपेक्षा सो जाने पर बने स्मृति चिन्ह कम नष्ट होते हैं, अर्थात विस्मरण कम होता है। इसका कारण यह है कि सो जाने पर व्यक्ति की चेतना भी सुप्त हो जाती है। इससे मौलिक शिक्षण के स्मृति चिन्ह अच्छी तरह स्थापित हो पाते हैं। लेकिन, जागृत अवस्था में व्यक्ति की चेतना सक्रिय रहती है। अतः, चेतना की सक्रियता से मौलिक विषय के स्मृति चिन्ह के स्थापित होने में बाधा उत्पन्न होती है। फलतः जागृत अवस्था में भूलने की मात्रा अधिक होती है।

3) **स्थानांतरण-** स्थानांतरण प्रभाव के कारण भी स्मरण एवं विस्मरण प्रभावित होता है। जब हम किसी एक विषय को सीखते हैं और उससे मिलते-जुलते किसी दूसरे विषय को सीखते हैं तब पूर्व शिक्षण के स्मृति चिन्ह बाद के विषय को सीखने में सहायक होते हैं जिसके फलस्वरूप उसकी स्मृति अच्छी होती है। उदाहरण के लिए, जब भी हम किसी नए स्थान में जाते हैं और उस स्थान के किसी प्रसिद्ध मंदिर या ऐतिहासिक स्थल को देखते हैं तब उस समय उन मंदिरों या स्थलों की पुरानी स्मृतियाँ उभरकर आने लगती हैं, जिनके बारे में हमने पहले कभी पढ़ा या सुना है। इसी तरह, कभी-कभी पुराना शिक्षण बाद में सीखी जाने वाली क्रिया एवं उसकी स्मृति पर निषेधात्मक प्रभाव भी डालता है।
4) **पृष्ठोन्मुख एवं पूर्वोन्मुख अवरोध-** विभिन्न प्रयोगों में यह देखा गया है कि किसी एक विषय के सीखने के बाद यदि दूसरा कोई कार्य किया जाता है तो भूलने की मात्रा अधिक होती है और जब किसी विषय के सीखने के बाद विश्राम किया जाता है, तब अपेक्षाकृत कम। इस तथ्य की व्याख्या पृष्ठोन्मुख अवरोध के आधार पर की गई है।

विस्मरण कि क्रिया में मौलिक शिक्षण और उन्हें वर्तमान चेतना में लाने के बीच व्यतीत होने वाले समय का बहुत अधिक महत्व है। किसी विषय को सीखने के बाद जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, भूलने की मात्रा भी वैसे-वैसे बढ़ती जाती है। भूलने की क्रिया केवल समय व्यवधान के कारण निष्क्रिय रूप से नहीं होती, अपितु किसी मौलिक विषय को सीखने और उसका प्रत्याह्वान करने के बीच की अवधि, जिसे धारण अवधि कहते हैं, में किसी अन्य विषय से बने स्मृतिचिन्हों के प्रवेश करने के फलस्वरूप मौलिक विषय के स्मृति चिन्ह कमजोर पड़ जाते हैं, जिससे उनकी स्मृति खराब हो जाती है। ऐसा बाद वाले विषय से बने स्मृतिचिन्ह से उत्पन्न बाधा या अवरोध के कारण होता है। इसे ही पृष्ठोन्मुख अवरोध कहते हैं।

पृष्ठोन्मुख अवरोध की तरह पूर्वोन्मुख अवरोध भी भूलने का प्रधान कारण है।

पृष्ठोन्मुख अवरोध या पूर्वोन्मुख अवरोध की घटनाएँ मौलिक शिक्षण के बाद अथवा पहले सीखे जाने वाले कार्य (अंतर्वेशित कार्य) के स्वरूप, मौलिक शिक्षण का स्तर, अंतर्वेशित कार्य की सामयिक स्थिति, अंतर्वेशित कार्य का परिमाण आदि बातों पर निर्भर करता है। इस संबंध में रोबिंसन, हायने, स्कैग्स, हार्डेन, केनली, मैगू, मैकडोनाल्ड, मेंल्टन, इर्विन आदि मनोवैज्ञानिकों के प्रयोगों से स्पष्ट प्रमाण मिले हैं।

5) **संवेगात्मक परिस्थितियाँ-** किसी विषय को सीखने और उसका प्रत्याह्वान करने के बीच की अवधि में यदि किसी प्रकार की संवेगात्मक परिस्थिति का सामना करना पड़ता है तो व्यक्ति सीखे हुए विषय के अधिकांश अंशों को भूल जाता है। इस बात की पुष्टि हार्डेन ने अपने प्रयोग द्वारा की है। उन्होंने यह प्रयोग दो अवस्थाओं में किया। प्रयोग की पहली अवस्था में प्रयोज्यों को कुछ शब्द सीखने को दिए गए। शब्दों को एक निश्चित मानदंड के अनुरूप सीख लेने के पश्चात

प्रयोज्यों को सामान्य (साधारण) रूप की एक रोचक एवं हास्यपूर्ण कहानी पढ़ने को दी गई। कहानी ऐसी थी जिसमें प्रयोज्य की सामान्य संवेगात्मक अवस्था में कोई खास परिवर्तन न हो सके। अर्थात् संवेग का भाव नियंत्रित रह सके।

प्रयोग की दूसरी अवस्था में पहली अवस्था के अनुरूप कुछ शब्द सीखने को दिए गए। शब्दों को सीख लेने के बाद धारण-मध्यांतर काल की अवधि में प्रयोज्यों के समक्ष अचानक कोई ऐसी उत्तेजक परिस्थिति उत्पन्न की गई, जिससे भय या आघात का संवेग उत्पन्न हो; जैसे-बिजली से आघात पहुँचाना, आघातपूर्ण एवं भयंकर आवाज उत्पन्न करना आदि। इसके बाद पूर्व में सीखे गए विषय की स्मृति की जाँच की गई। दोनों अवस्थाओं की धारण-क्रिया जाँच में देखा गया कि दूसरी अवस्था में पूर्व में सीखे गए विषय का अधिकांश अंश भूल गए थे, जबकि पहली अवस्था में भूलने की मात्रा अपेक्षाकृत कम थी। इस प्रयोग से स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि संवेगात्मक धक्का पहुँचाने पर भूलने की मात्रा अधिक होती है तथा साथ-ही-साथ भूलने की गति भी तेज रहती है। किंतु, यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भूलने की मात्रा संवेगात्मक धक्के की मात्रा पर निर्भर है। संवेगात्मक तनाव या धक्का जितना तीव्र होगा, भूलने की मात्रा और गति भी उतनी अधिक होगी।

6) **शॉक एमनेशिया-** किसी विषय को सीखने के बाद जोरों की मानसिक चोट पहुँचने के फलस्वरूप मनुष्य अपने पूर्व सीखे हुए विषय को भूल जाता है। कुछ अवसरों पर तो यह भी पाया गया है कि व्यक्ति अपना परिचय -अर्थात्, वह कौन है, कहाँ रहता है, माता-पिता कौन है आदि-भी भूल जाता है।

लेकिन, यहाँ स्मरणीय होना चाहिए कि इस प्रकार के भूलने की क्रिया बहुत कुछ मानसिक आधार की मात्रा पर निर्भर करती है।

7) **मानसिक या शारीरिक बीमारियाँ-** किसी विषय को सीखने के बाद यदि मनुष्य को किसी प्रकार की मानसिक या शारीरिक बीमारी होती है तो वह पूर्व में सीखे गए विषय को भूल जाता है। बीमारी की अवस्था में मनुष्य दुर्बल हो जाता है। उसके मस्तिष्क में भी कमजोरी आ जाती है। इससे मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। फलतः, सीखे गए विषय के स्मृति चिन्हों को स्मृति भंडार से खोज निकालने की क्रिया त्रुटिपूर्ण हो जाती है। इसलिए, उनका प्रत्याह्वान करने की संभावना क्षीण हो जाती है। अर्थात् हम उन्हें भूल जाते हैं। उदाहरणार्थ, इनसेफेलाइटिस, तपेदिक, पीलिया आदि शारीरिक रोगों में विस्मरण का लक्षण देखने को मिलता है। इसी तरह की बात फोबिया, मनोविदालिता, हिस्टीरिया आदि मानसिक रोगों में भी पाई जाती है।
8) **थकावट-** कुछ ऐसे भी अध्ययन हुए हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि किसी विषय के सीखने के बाद किसी दूसरे कार्य में लगे रहने के फलस्वरूप शारीरिक या मानसिक थकान का अनुभव होता है, जिससे पूर्व में सीखे हुए विषय दृढ़ नहीं हो पाते। अतः, हम उन्हें शीर्घ ही भूल जाते हैं।

9) **मस्तिष्क में चोट-** चिकित्साशास्त्रियों के अनुसार, मस्तिष्क में चोट लगने के कारण भी भूलने की क्रिया होती है। किसी दुर्घटना में मस्तिष्क को जब चोट पहुँचती है तब मस्तिष्क का वह भाग (जिस भाग को चोट पहुँचती है) क्षतिग्रस्त हो जाता है। साथ ही, चोट का आघात भी लगता है। इन दोनों कारणों से पूर्व में सीखे गए विषय के स्मृतिचिन्ह भी क्षतिग्रस्त हो जाते हैं, अर्थात् वे नष्ट हो जाते हैं। ऐसे चोटों के कारण कभी-कभी व्यक्ति अपनी पहचान भी भूल जाता है, अर्थात वह अपना नाम, घर आदि सब कुछ भूल जाता है। प्रायः किसी दुर्घटना में मस्तिष्क की चोट से घायल व्यक्तियों अथवा युद्ध में मस्तिष्क में गोली लगने से घायल सैनिकों में भूलने के लक्षण देखे जाते हैं। इन उदाहरणों से मस्तिष्क में चोट के कारण भूलने की क्रिया का स्पष्ट प्रमाण मिलता है।

9.6.3 प्रत्याह्रान की क्रिया से संबद्ध कारक-

प्रत्याह्रान की क्रिया को प्रभावित करने वाले कुछ प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं-

1) **समान विषयों की स्मृति से बाधा-** बहुधा ऐसा होता है कि जब हम किसी पूर्व में सीखे गए विषय या प्राप्त अनुभव को वर्तमान चेतना में लाकर प्रत्याह्रान करना चाहते हैं तब उस समय उससे मिलती-जुलती दूसरी अनुभूतियाँ बाधा उपस्थित करती हैं। इससे प्रत्याह्रान में रूकावट आती है। उदाहरणार्थ, मान लें आप किसी प्रसिद्ध पुस्तक के लेखक का नाम याद करना चाहते हैं जिसका नाम रामेंश्वर है, लेकिन यह नाम आपकी याद में नहीं आ पा रहा है। ऐसी स्थिति में संभव है, आपको रामेंश्वर से मिलते-जुलते दूसरे नाम, जैसे-कामेंश्वर, दिनेश्वर, रीतेश्वर, कमलेश्वर आदि-याद पड़ें। इन नामों की स्मृति से रामेंश्वर के प्रत्याह्रान में बाधा पहुँचती है। अतः, स्मृति खराब होती है।
2) **प्रत्याह्रान करने की इच्छा का अभाव-** किसी विषय का प्रत्याह्रान करते समय चेतन या अचेतन रूप से प्रत्याह्रान करने की इच्छा नहीं रहने पर उस विषय का प्रत्याह्रान बिलकुल ही संभव नहीं है। इस इच्छा के अभाव में पुनः प्राप्ति की केंद्रीय प्रक्रिया, यानी मस्तिष्क की क्रिया नहीं हो पाती। फलतः, प्रत्याह्रान की क्रिया में व्यक्ति विफल हो जाता है।
3) **गलत मानसिक वृत्ति-** हम अपने दैनिक जीवन में अक्सर अनुभव करते हैं कि किसी समय हम अपने पूर्व परिचित मित्र, स्थान या रिश्तेदार का नाम याद करना चाहते हैं जिसका नाम ‘प’ अक्षर से शुरू होता है (जैसे- परमेंश्वर’, ‘पूणे’) लेकिन हमारे मन में पहले से ही यह बैठा हो कि उसका नाम ‘स’ अक्षर से शुरू होता है तो हमें जितने भी नाम याद आएँगे वे सभी ‘स’ अक्षरवाले होंगे। इस प्रकार, गलत मानसिक वृत्ति के कारण सही नाम का प्रत्याह्रान संभव नहीं होगा।

9.6.4 भूलने के अचेतन कारण-

विस्मरण की प्रक्रिया में अचेतन का भी महत्वपूर्ण स्थान हैं हम अपनी अनेक घटनाओं या पूर्व अनुभवों का अज्ञात, अर्थात अचेतन रूप से भूल जाते हैं। मनोविश्लेषकों ने इसके अनेक प्रामाणिक दृष्टांत परिणामस्वरूप दिए हैं। इसका सबसे सुंदर उदाहरण हमारी दैनिक जीवन की सामान्य भूलें हैं। फ्रायड सामान्य जीवन की छोटी-मोटी साधारण भूलें (जैसे-किसी परिचित व्यक्ति, स्थान, महत्वपूर्ण दिन या अवसर आदि का भूलना) अचेतन कारणों से मानता है। फ्रायड ने भूलने के अचेतन कारणों में दमन की मनोरचना का भी महत्वपूर्ण स्थान माना है। उनके अनुसार दुःखद या निराशाजनक अनुभवों का भूलना दमन के कारण ही होता है।

9.7 स्मृति-कोष या स्मृति भंडार

कोई भी सूचना जो हमारे तंत्रिका-तंत्र द्वारा ग्रहण की जाती है वह हमारे मस्तिष्क में कितनी देर ठहरती है और सूचनाओं के विशिष्ट होने की दर क्या होती है। इसी समय परिप्रेक्ष्य में, यानी, समय की कसौटी के आधार पर मनोवैज्ञानिकों ने तीन प्रकार के स्मृति-कोषों को प्रकाश में लाया है-

(क) संवेदी स्मृति कोष
(ख) लघु अवधि स्मृति कोष
(ग) दीर्घ अवधि स्मृति-कोष

9.7.1 संवेदी स्मृति-कोष -

संवेदी स्मृति-कोष वैसा स्मृति संचयन को कहा जाता है जिसमें सूचनाओं को सामान्यतः एक सेकेन्ड या उससे भी कम अवधि के लिए व्यक्ति रख पाता है। इस स्मृति भंडार में प्राप्त सूचनाओं को उनके मौलिक रूप में, यानी, उसमें बिना किसी तरह के हेर-फेर किए ही रखा जाता है। इसीलिए इस स्मृति भंडार को संवेदी स्मृति या संवेदी रजिस्टर भी कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है- प्रतिमा सम्बन्धी स्मृति तथा प्रतिध्वनिक स्मृति। देखी गई वस्तु या व्यक्ति के बारे में एक सेकेण्ड तक एक दृष्टि चिन्ह रख पाता है जबकि प्रतिध्वनिक स्मृति में व्यक्ति किसी सुनी हुई आवाज उद्दीपक का श्रवण चिन्ह अपने में एक सेकंड से थोड़े समय अधिक तक रख पाता है।

9.7.2 लघु-अवधि स्मृति कोष -

इसे प्राथमिक स्मृति या एस.टी.एम. भी कहा जाता है। इस तरह की स्मृति की दो विशेषताएँ बताई गई हैं। (1) इसमें किसी विषय या घटना को अधिक-से-अधिक 20-30 सेकंड तक धारित करके रखा जाता है तथा (2) इसके विषय को व्यक्ति एक-दो प्रयासों में ही सीखे हुए होता है, यानी इसमें सीखने की मात्रा कम होती है। जैसे मान लिया जाए कि कोई आदमी किसी अपरिचित से टेलीफोन पर बातचीत करने के लिए उसके टेलीफोन का नंबर टेलीफोन डाइरेक्टरी से लेकर डायल

करता है और व्यस्त संकेत पाकर 10 सेकंड रुककर पुनः डायल करना चाहता है। परंतु इस बार वह नम्बर के सही क्रम को थोड़ी देर के लिए मान लिया जाए कि भूल जाता है। इस उदाहरण में लघु-अवधि स्मृति 10 सेकंड का दिखाया गया है तथा उस अपरिचित के नम्बर को भी मात्र एक बार ही अभ्यास में लाया गया।

9.7.3 दीर्घ-अवधि स्मृति कोष -

इसे गौण स्मृति या एल.टी.एम. भी कहा जाता है। इस तरह की स्मृति में व्यक्ति किसी पाठ, घटना आदि को कम-से-कम 30 सेकण्ड तक याद किए रहता है तथा अधिक-से-अधिक कितने दिनों तक याद रखता है, इसकी कोई सीमा नहीं होती। जैसे कोई छात्र जब यह कहता है कि अमुक अध्याय से पिछले वर्ष की परीक्षा में अमुक प्रश्न पूछा गया था, तो यह दीर्घ अवधि स्मृति का उदाहरण होगा। इस स्मृति में व्यक्ति उन्हीं घटनाओं एवं तथ्यों को संचित रखता है जिनका अभ्यास वह कई बार कर चुका होता है। जैसे, व्यक्ति अपना टेलीफोन नम्बर तथा अपने निकट रिश्तेदारों का टेलीफोन नम्बर को एल.टी.एम. में धारित किए रहता है।

मनोवैज्ञानिकों का मत है कि दीर्घकालीन स्मृति को उसके अंतर्विषय के आधार पर दो सामान्य वर्गों में बाँटा जा सकता है-घोषणात्मक स्मृति तथा अघोषणात्मक स्मृति। घोषणात्मक स्मृति में वैसी सूचनाएँ संचित होती है जिसके बारे में व्यक्ति आसानी से दूसरों को बतला सकता है। जैसे, गणित के नियम के बारे में बतलाना एवं किसी देखी गई घटना का वर्णन आदि घोषणात्मक स्मृति के उदाहरण हैं। घोषणात्मक स्मृति को स्पष्ट स्मृति भी कहा जाता है। अघोषणात्मक स्मृति में कुछ कौशल तथा विशेष तरह के संज्ञानात्मक संचालनों से संबद्ध ज्ञान होते हैं। जैसे, साइकिल चलाना, टाइप सीखना आदि से संबद्ध कौशल अघोषणात्मक स्मृति के उदाहरण हैं। अघोषणात्मक स्मृति को अस्पष्ट स्मृति या संक्रियात्मक स्मृति भी कहा जाता है।

9.8 सारांश

- जब भी हम किसी विषय को सीखते हैं तो सीखे हुए विषय का स्मृति-चिन्ह हमारे मस्तिष्क में बनता है और हम उन स्मृति-चिन्हों को धारण करते हैं। यह धारण जितनी लम्बी और मजबूत होती हैं, समरण उतना ही तीक्ष्ण होता है।
- स्मृति के धनात्मक पक्ष को स्मरण तथा ऋणात्मक पक्ष को विस्मरण कहते हैं।
- स्मृति के तीन तत्व होते हैं - संकेतन, संचयन तथा पुनःप्राप्ति। स्मृति-भण्डार तीन हैं - संवेदी, एस.टी.एम. तथा एल.टी.एम.
- स्मरण का स्वरूप पुनरूत्पादक तथा रचनात्मक दोनों होता है। पुनरूत्पादक स्वरूप पर अग्रणी विचार एँविंगहॉस के थे तथा रचनात्मक स्वरूप पर बार्टलेट के स्मरण में चार प्रक्रियाएँ सन्निहित होती हैं- सीखना, धारण करना, प्रत्याह्वान करना तथा पहचान करना।

- भूलने के निम्नलिखित कारण हैं- (क) सीखने की क्रिया से सम्बद्ध कारण- इसके अन्तर्गत शिक्षण- विषय की सार्थकता, सीखने का स्तर, शिक्षण विधि, पुनः दुहराने की विधि का अभाव तथा सीखने सम्बन्धी अन्य तत्व आते हैं; (ख) धारण क्रिया से सम्बद्ध तत्व- इसके अन्तर्गत संस्मरण, निद्रा का प्रभाव, स्थानान्तरण, पृष्ठोन्मुख एवं पूर्वान्मुख अवरोध, संवेगात्मक परिस्थितियाँ, शॉक एमनेशिया, मानसिक या शारीरिक बीमारियां, थकावट, मस्तिष्क में चोट आदि आते हैं; (ग) प्रत्याह्वान की क्रिया से सम्बद्ध कारक-इसके अन्तर्गत समान विषयों की स्मृति से बाधा, प्रत्याह्वान करने की इच्छा का अभाव, गलत मानसिक वृति आदि आते हैं। भूलने के अचेतन कारण भी बताए गए हैं।

9.9 शब्दावली

- **स्मरण:** वह प्रक्रिया जिसके द्वारा पूर्व में सीखे गए विषय को वर्तमान चेतना में लाया जाता है।
- **विस्मरण:** सीखे गये विषय का वह भाग जो धारण की जांच की किसी भी विधि द्वारा वर्तमान चेतना में नहीं आ पाता, विस्मरण है।
- **स्मृति-चिन्ह:** सीखे गये विषय की तंत्रिका-तंत्र या मस्तिष्क पर पड़ी छाप स्मृति-चिन्ह कहलाता है।
- **प्रत्याह्वान:** पूर्व में सीखे गए विषय या पाठ को उसकी अनुपस्थिति में ही उसे बोलकर या लिखकर पुनरूत्पादित करना प्रत्याह्वान कहलाता है।
- **पहचान:** पूर्व में सीखे गए विषय या पाठ को उससे मिलते-जुलते विषय या पाठ के साथ मिलाने पर मूल विषय या पाठ को चेतना में लाना या उसे छांट लेना या बता देना ही पहचान है।

9.10 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) स्मरण को पुनरूत्पादक स्वरूप का बताने वाले मनोवैज्ञानिक थे?

   (क) एविंगहॉस (ख) बार्टलेट (ग) थौर्नडाइक (घ) शिफरिन

2) स्मरण को रचनात्मक स्वरूप का बताने वाले मनोवैज्ञानिक थे?

   (क) एविंगहॉस (ख) बार्टलेट (ग) क्रॉसलैंड (घ) स्कीनर

3) संवेदी स्मृति में सूचनाएँ ठहरती हैं -

   (क) 1 सेकेंड तक (ख) 25 सेकेंड तक

   (ग) 1 घंटा तक (घ) कई दिनों तक

4) इनमें कौन स्मरण की प्रक्रिया नहीं है -

(क) सीखना (ख) धारण करना

(ग) सोना (घ) पहचान करना

उत्तर: 1) क 2) ख 3) क 4) ग

9.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान-अरूण कुमार सिंह- मोतीलाल - बनारसी दास
- शारीरिक मनोविज्ञान- ओझा एवं भार्गव - हर प्रसाद भार्गव, आगरा
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान- सुलैमान एवं खान-शुक्ला बुक डिपो, पटना
- सामान्य मनोविज्ञान- सिन्हा एवं मिश्रा - भारती भवन

9.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. स्मरण के स्वरूप पर प्रकाश डालें। स्मृति के तत्वों का उल्लेख करें।
2. सीखने की क्रिया से सम्बद्ध कौन-कौन से कारक विस्मरण के लिए जिम्मेदार हैं? विवेचना करें।
3. स्मरण में सन्निहित प्रक्रियाओं का वर्णन करें।
4. स्मृति भंडार से आप क्या समझते हैं? इसके विभिन्न प्रकारों का विवेचन करें।

इकाई-10 चिन्तन: स्वरुप एवं प्रक्रिया

10.1 प्रस्तावना
10.2 उद्देश्य
10.3 चिन्तन का स्वरुप
 10.3.1 चिन्तन की परिभाषा
 10.3.2 चिन्तन में भाषा का महत्व
 10.3.3 चिन्तन में मानसिक तत्परता की भूमिका
10.4 चिन्तन की प्रक्रिया
10.5 सारांश
10.6 शब्दावली
10.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
10.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
10.9 निबन्धात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

चिन्तन एक ऐसी मध्यस्थ प्रक्रिया है जो किसी समस्या या उद्दीपक तथा उसके समाधान या सही अनुक्रिया के मध्य होती है, दूसरे शब्दों में, इसे वातावरण से मिलने वाली सूचनाओं का मानसिक जोड़-तोड़ कहा जा सकता है। मनुष्य की प्रगति मुख्यतः चिन्तन पर आधारित है। चिन्तन की सहायता से व्यक्ति अनेक समस्याओं का समाधान करता है। चिन्तन समस्या समाधान में ही नहीं अपितु प्रत्येक प्रकार के अधिगम में महत्वपूर्ण है। लोग प्रायः कहते सुने जाते हैं, "रुको कुछ सोच रहा हूँ", "जरा सोचने दो तो बोलूँ", "मैं ऐसा नहीं सोचता", "तुम्हारी सोच तथा हमारी सोच में अन्तर है"। ऐसे प्रश्न हमारे दैनिक जीवन में होते रहते है, इन प्रश्नो का सम्बन्ध चिन्तन से होता है। इस इकाई में हम चिन्तन का स्वरुप, उसकी प्रक्रिया, चिन्तन में भाषा की भूमिका, मानसिक तत्परता की भूमिका आदि पर चर्चा करेंगें।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित बिन्दुओं को समझने में सक्षम हो सकेगें।

- चिन्तन के स्वरूप को समझाने में सक्षम हो सकेंगे।

- चिन्तन की परिभाषाओं की व्याख्या कर सकेंगे।
- चिन्तन में भाषा के महत्व पर प्रकाश डाल सकेंगे तथा उसकी आलोचनात्मक व्याख्या कर सकेंगे।
- चिन्तन में मानसिक तत्परता की भूमिका की विवेचना कर सकेंगे।
- चिन्तन की प्रक्रिया को जान सकेंगे।

10.3 चिन्तन का स्वरुप

चिन्तन का शुभारम्भ किसी समस्या से होता है, इसमें प्रतीकों का भी उपयोग होता है। इसमें प्रतीकों, प्रतिमाओं आदि का मानसिक जोड़-तोड़ होता है। चिन्तन अव्यक्त या आन्तरिक संज्ञात्मक प्रक्रम है। इसके द्वारा व्यवहार उत्पन्न या नियंत्रित होता है। ऊपर दिये गये तथ्यों से चिन्तन के स्वरुप की एक झलक तो अवष्य मिलती है परन्तु इसके स्वरुप के बारे में विस्तृत रुप से जानने के लिए हमें उन निष्कर्षों पर भी ध्यान देना होगा जिसे हम्फ्रे (1963) ने चिन्तन पर व्यक्त किये गये अनेकों मनोवैज्ञानिकों के विचारों का विश्लेषण करके बतलाया है। हम्फ्रे ने चिन्तन के स्वरुप के बारे में निम्नांकित तथ्यों को हम लोगों के सामने रखा है।

(1) चिन्तन प्रक्रिया की शुरुआत उस समय होती है जब प्राणी के सामने कोई ऐसी समस्या आती है जिसका वह समाधान करना चाहता है। समस्या से तात्पर्य एक ऐसे परिस्थिति या घटना से होता है जिसमें प्राणी को लक्ष्य पर पहुँचने का रास्ता नहीं दिखलाई पड़ता है।

(2) चिन्तन में समस्या के भिन्न-भिन्न पहलूओं को जो समाधान के पहले अलग-अलग होते हैं, एक साथ संयोजित किया जाता है।

(3) चिन्तन में गत अनुभूति सम्मिलित होती है लेकिन व्यक्ति वास्तव में गत अनुभूति का उपयोग चिन्तन में किस प्रकार करता है, इसे मनोवैज्ञानिक सही-सही ढंग से पता नहीं लगा पाए है।

(4) चिन्तन में अभिप्रेरणा का भी विशेष महत्व होता है, सच्चाई यह है कि चिन्तन में व्यक्ति का व्यवहार एक निश्चित उद्देश्य की ओर होता है। यही कारण है कि विटेकर (1970) ने कहा है कि “सभी चिन्तन लक्ष्य निर्देशित होते हैं।”

(5) चिन्तन में भाषा के अलावा प्रतीक का भी काफी उपयोग होता है। अनेक प्रयोगों से यह स्पष्ट हो गया है कि चिन्तन में द्रष्टि प्रतिमा तथा श्रवण प्रतिमा अन्य दूसरे तरह की प्रतिमाओं की अपेक्षा अधिक होते है। हम्फ्रे (1963) द्वारा प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त तथ्यो से चिन्तन के स्वरुप का प्रत्येक पहलू स्पष्ट हो जाता है। इसके आधार पर मनोवैज्ञानिको ने यह स्पष्ट रुप से बतलाया है कि चिन्तन एक जटिल मानसिक प्रक्रिया है जिसके सहारे प्राणी किसी समस्या का समाधान करता है।

10.3.1 चिन्तन की परिभाषा-

चिन्तन को परिभाषा में आबद्ध करना कठिन है वैसे विषय के स्वरुप को रेखांकित करने के उद्देश्य से कुछ परिभाषाएँ प्रस्तुत की जा सकती है। कागन तथा हेभमैन (1976) ने चिन्तन की एक सर्वश्रेष्ठ तथा व्यापक परिभाषा दी है। इनके अनुसार " प्रतिमाओं, प्रतीको, सम्प्रत्ययों, नियमों एवं अन्य मध्यस्थ इकाइयों के मानसिक जोड़-तोड़ को चिन्तन कहा जाता है।"

सिलभरमैन (1978) ने भी चिन्तन की एक संक्षिप्त परन्तु सटीक परिभाषा दी है। इनके अनुसार "चिन्तन एक ऐसी मानसिक प्रक्रिया है जो हम लोगो को उद्दीपक तथा घटनाओं के प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व द्वारा किसी समस्या का समाधान करने में मदत करती है।

बेरान (1992) के अनुसार "चिन्तन में संप्रव्ययों, प्रतिज्ञाप्ति तथा प्रतिमाओं का मानसिक जोड़-तोड़ होता है।

इंगलिश और इंगलिश (1980) के अनुसार चिन्तन के तीन मुख्य अर्थ हैं:-

(1) कोई भी प्रक्रिया या कार्य जो मुख्यतः प्रत्याक्षात्मक नहीं है चिन्तन हो सकता है, इसके माध्यम से व्यक्ति किसी परिस्थिती या पदार्थ के पहलू को समझता है।
(2) दूसरे अर्थ में समस्या का समाधान ही चिन्तन है, जिसमें प्रकट पहस्तन और प्रत्यक्षीकरण न होकर मुख्यतः विचार होते है।
(3) तीसरे अर्थ में चिन्तन का अर्थ किसी समस्या में निहित सम्बन्धों का समझना अथवा उस पर विचार करना है।
(4) चिन्तन का अर्थ आन्तरिक और मूक वाणी व्यवहार से भी लगाया जाता है।

आइसनेक तथा उसके साथियों (1972) के अनुसार "कार्यत्मक परिभाषा के रुप में चिन्तन का काल्पनिक जगत में व्यवस्था स्थापित करना है। यह व्यवस्था स्थापित करना वस्तुओं से सम्बन्धित होता है तथा साथ ही साथ वस्तुओं के जगत की प्रतीकात्मकता से भी सम्बन्धित होता है। वस्तुओं में सम्बन्धों की व्यवस्था तथा वस्तुओं में प्रतीकात्मक सम्बन्धो की व्यवस्था का चिन्तन है।

बुडवर्थ एवं श्लासवर्ग (1954) के अनुसार " चिन्तन को संतोषजनक रुप में परिभाषित करना बहुत ही कठिन कार्य है, परन्तु हम यह कह सकते है कि जब प्राणी का अन्वेषणात्मक व्यवहार प्रस्तुत परिस्थिति से दूर हो जाता है तथा स्मृति एवं पूर्व स्थापित संप्रत्ययो का उपयोग किया जाने लगता है तो चिन्तन प्रक्रम घटित हो रहा है।

सिक्करेली (2008) के अनुसार " चिन्तन मस्तिष्क में चलने वाली एक मानसिक प्रक्रिया है, यह किसी सूचना के संगठित करने तथा समझने एवं अन्य किसी को संप्रेषित करने में घटित होती है।

सैन्ट्राक (2005) के अनुसार " चिन्तन वह मानसिक प्रक्रिया है जिसमें सम्प्रत्ययों के निर्माण, समस्याओ के समाधान, क्रान्तिक चिन्तन, तर्कना एवं निर्णयन में सूचनाओं का प्रहस्तन किया जाता है।" चिन्तन में केवल वाचिक चेतना प्रवाह ही सन्निहित नहीं होता है, अपितु जब हम सोचते हैं तो हमारे मस्तिष्क में प्रतिमाओं एवं शब्दों का भी उपयोग होता है।

10.3.2 चिन्तन में भाषा का महत्व-

चिन्तन में भाषा का क्या महत्व है यह एक विवादास्पद विषय है, इस संबंध में भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकों के विचार भिन्न-भिन्न हैं। मनोवैज्ञानिकों ने इन सभी विचारों को निम्नांकित तीन भागों में बांटा है।

(1) कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि चिन्तन के लिए भाषा आवश्यक है। भाषा के अभाव में चिन्तन की प्रक्रिया नहीं हो सकती है। अतः चिन्तन की प्रक्रिया भाषा द्वारा ही निर्धारित तथा प्रभावित होती है। इस तरह के विचार व्यक्त करने वाले मनोवैज्ञानिकों में सापिर तथा उनके शिष्य ओर्फ (1956), ब्रुनर (1964), बर्नस्टीन (1958) आदि का नाम अधिक प्रसिद्ध है। सापिर की उपकल्पना थी कि भाषा द्वारा चिन्तन की प्रक्रिया काफी प्रभावित होती है इसका समर्थन ब्रुनर (1964) के प्रयोजगों द्वारा होता हैं। इन्होंने शिशुओं तथा प्राक स्कूली छात्रों पर प्रयोग किया इन बच्चों के चिन्तन की प्रक्रिया तथा संज्ञात्मक विकास अधिक सीमित इसलिए होता है क्योंकि इनमें भाषा पूर्ण रुप से विकसित नहीं होती है, इनके अनुसार 6-7 उम्र से बच्चे सोचने के लिए अच्छी तरह से भाषा का उपयोग प्रारम्भ कर देते हैं। चूंकि प्राक स्कूली बच्चो की उम्र 6 साल से कम होती है और उनमें भाषा का पूर्ण विकास नहीं होता है अतः उनका संज्ञानात्मक विकास विशेषकर चिन्तन की प्रक्रिया ठीक ढंग से नहीं हो पाती है। इस प्रयोग से स्पष्ट है कि चिन्तन में भाषा की आवश्यकता होती है।

बर्नस्टीन (1958) ने गरीब तथा धनी परिवार के बच्चों के चिन्तन का एक तुलनात्मक अध्ययन किया। इनके अनुसार गरीब बच्चों की भाषा सीमित तथा अविकसित होती है तथा धनी परिवार के बच्चों का संज्ञानात्मक विकास भी अधूरा एवं अपूर्ण होते पाया। ऐसे बच्चों के चिन्तन एवं तर्क करने की क्षमता धनी परिवार के बच्चो की ऐसी क्षमता की अपेक्षा हमेशा कम होती पायी गयी। पशुओं पर भी कुछ इस तरह के अध्ययन हुए जिससे यह पता चलता है कि भाषा द्वारा चिन्तन प्रभावित होता है।

प्रीमेंक (1983) ने एक इस तरह का अध्ययन "साराह" नामक वनमानुष पर किया। इस वनमानुष को प्लास्टिक के बने भिन्न-भिन्न आकारों तथा रंगों के वस्तुओं के सहारे कई शब्दों को सिखलाया गया। प्लास्टिक की बनी प्रत्येक वस्तु का अर्थ एक खास "शब्द" होता था। 2.5 साल के इस तरह के प्रशिक्षण के बाद "साराह" ने 100 शब्दों को सीख लिया और इन शब्दों के सहारे वह

अपनी आवश्यकताओं की भी अभिव्यक्ति करना सीख गया। बाद में प्रीमेंक ने "साराह" को अन्य वनमानुषों जिन्हें ऐसा प्रशिक्षण नहीं दिया गया था, के साथ प्रयोगशाला में कई कठिन एवं जटिल समस्याओं का समाधान ढूढने के लिये दिया। इन समस्याओं के समाधान में उच्च चिन्तन की आवश्यकता थी, परिणाम में देखा गया कि "साराह" ने अन्य वनमानुषों की अपेक्षा इन समस्याओं का समाधान जल्दी कर लिया। प्रीमेंक के अनुसार ऐसा इसलिए हुआ क्योकि "साराह" को भाषा का प्रशिक्षण दिया गया था। इस अध्ययन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा द्वारा चिन्तन की प्रक्रिया प्रभावित होती है।

ओर्फ (1956) ने अपने गुरु सापिर के इस कथन को कि भाषा द्वारा चिन्तन प्रभावित होता है को और अधिक तीक्ष्ण करते हुए कहा कि भाषा द्वारा चिन्तन प्रभावित ही नहीं बल्कि निर्धारित भी होती है। ओर्फ के योगदान को मनोवैज्ञानिकों द्वारा अधिक मान्यता मिली है। ओर्फ की उपकल्पना यह थी कि भाषा का विकास चिन्तन से पहले होता है तथा चिन्तन की प्रक्रिया का निर्धारण पूर्णरुपेण भाषा द्वारा ही होता है। इसे "भाषाई नियतिवाद" कहा गया तथा साधारण रुप से "आर्फ परिकल्पना" के नाम से मशहूर हुआ। इस उपकल्पना के अनुसार सभी उच्च स्तरीय चिन्तन भाषा द्वारा ही निर्धारित होते हैं। ओर्फ उपकल्पना के समर्थन में उन अध्ययनो का उल्लेख किया जाता है जो भिन्न-भिन्न तरह के भाषा प्रयोग करने वाले व्यक्तियों के प्रत्यक्षणात्मक एवं संज्ञानात्मक अन्तर से सम्बन्धित हैं। ओर्फ (1956) ने अपने एक ऐसे ही अध्ययन में ग्रीनलैंड के जाति एस्किमों तथा अंग्रेजी भाषा बोलने वाले व्यक्तियों के प्रत्यक्षण एवं चिन्तन की प्रक्रियाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया। एस्किमों की भाषा में बर्फ के लिए कम से कम 12 शब्द और है जिनका अर्थ बर्फ ही होता है परन्तु उसका प्रयोग भिन्न-भिन्न प्रकार की बर्फ को समझने तथा प्रत्यक्षण करने में करता है। अंग्रेजी भाषा में बर्फ के लिए सिर्फ एक या दो शब्द है। ओर्फ ने अपने अध्ययन में पाया कि जितने स्पष्ट रुप से भिन्न-भिन्न प्रकार के बर्फ का प्रत्यक्षण एवं उसके बारे में चिन्तन एस्किमो द्वारा किया जाता है उतना स्पष्ट प्रत्यक्षण एवं चिन्तन अंग्रेजी बोलने वाले व्यक्तियों द्वारा नहीं किया जाता है। इस अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भाषा विकसित होने पर प्रत्यक्षण एवं चिन्तन भी स्पष्ट होते है। ओर्फ प्राकल्पना का समर्थन उन अध्ययनो से भी होता है जिसे कुछ ऐसी जनजातियों पर किया गया है जिनमें भिन्न-भिन्न रंगो के लिए अलग से कोई नाम नहीं होता है। दानी, न्यू-मिनिया की एक ऐसी जाति है जिसमें भिन्न-भिन्न रंगों को ज्ञात करने के लिए मात्र दो शब्द हैं "मिली" जिसका अर्थ काले से होता है तथा "मोला" जिसका अर्थ उजला से होता है। के (1975) एवं बर्लिन तथा के (1969) ने जब "दानी" जनजाति एवं अंग्रेजी भाषा बोलने वाले कुछ व्यक्तियों जिन्हें भिन्न-भिन्न रंगों के लिए अलग-अलग शब्द प्रयोग करने की आदत है को भिन्न-भिन्न प्रकार के रंगों के अन्तर का प्रत्यक्षण तथा उसके बारे में कुछ सोचकर बताने के लिए कहा तो "दानी" जाति के व्यक्तियों में ऐसा करने की असमर्थता पायी गयी जबकि अंग्रेजी भाषा बालने वाले व्यक्ति इसमें समर्थ रहे। इसका कारण बतलाते हुए प्रयोगकर्ताओं ने कहा कि ऐसा इसलिए हुआ क्योकि दानी के भाषा में भिन्न-भिन्न रंगो

के लिए मात्र दो ही शब्द थे जबकि अंग्रेजी भाषा में भिन्न-भिन्न रंगों के लिए ग्यारह अलग-अलग शब्द है। यद्यपि ओर्फ प्राक्कल्पना एक काफी महत्तवपूर्ण प्राक्कल्पना है फिर भी मनोवैज्ञानिकों ने इसकी आलोचना निम्नांकित ढंग से की है। ओर्फ परिकल्पना के अनुसार भाषा में विभिन्नता से चिन्तन क्षमता में भी विभिन्नता आती है, डेल (1976) ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि भाषा में विभिन्नता से यह स्पष्ट रुप से पता चलता है कि भाषाएँ एक-दूसरे से भिन्न होती है, परन्तु इसके आधार पर बिना किसी स्वतंत्र माप के यह कह देना कि इसके कारण चिन्तन क्षमता में भी अन्तर होता है, उचित नहीं हैं, ओर्फ प्रक्कल्पना में ऐसा ही किया गया है जिसका कोई वैज्ञानिक औचित्य नहीं दिखाई पड़ता है। ओर्फ परिकल्पना की दूसरी आलोचना इस आधार पर की गयी है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं में विभिन्नता के बावजूद काफी अधिक समानता होती है। जैसे, प्रत्येक भाषा में संज्ञा तथा क्रिया होती है और प्रत्येक भाषा में कुछ नियम होते है जिनके अनुसार शब्द के क्रम का निर्धारण होता है। इतना ही नहीं भाषा की किसी विषेप संरचना जैसे शब्द मिलाकर बोलना, पूरा-पूरा शुद्ध वाक्य बोलना आदि प्रत्येक भाषा बोलने वाले बच्चो में करीब-करीब एक ही समय में विकसित होती है।

ब्राअ तथा कूक (1986) के अनुसार ऐसी परिस्थिति में भिन्न-भिन्न भाषा बोलने वाले एक उम्र के सभी बच्चों की चिन्तन क्षमता एक समान होनी चाहिए थी। यदि ऐसा होता तो ओर्फ प्राक्कल्पना को पूर्ण समर्थन मिलता। परन्तु भाषा में इस समानता के बावजूद भी उनकी चिन्तन क्षमता समान नहीं होती।

(2) मनोवैज्ञानिकों का एक दूसरा समूह ऐसा भी है जिसने उपर्युक्त विचार के ठीक विपरीत विचार व्यक्त किया है। इसमें पियाजे (1923) तथा क्लार्क (1973) का नाम अधिक प्रसिद्ध है। इन मनोवैज्ञानिको का कहना है कि चिन्तन की प्रक्रिया व्यक्ति में पहले होती है और बाद में उससे संबंधित शब्दों (या भाषा) का विकास होता है। दूसरे शब्दों में चिन्तन की प्रक्रिया के लिए भाषा आवश्यक नहीं है क्योंकि चिन्तन पहले होता है और भाषा का प्रयोग बाद में। इस तरह से चिन्तन की प्रक्रिया भाषा द्वारा प्रतिबिम्बित होती है न की निर्धारित होती है। पियाजे ने अपने प्रयोग में पाया कि कुछ शब्द जैसे बड़ा, छोटा, लम्बा, दूर आदि का अर्थ बच्चा तब तक नहीं समझता है जब तक कि उसमें इन शब्दों से सम्बन्धित तार्किक सम्प्रव्ययों का विकास नहीं होता है।

(3) कुछ मनोवैज्ञानिकों ऐसे भी हैं जो इन विपरीत विचारों के बीचों-बीच अपना विचार रखते हैं। ऐसे मनोवैज्ञानिको का कहना है कि भाषा तथा चिन्तन दो ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जो प्रारम्भ में अलग-अलग तथा स्वतन्त्र रुप से विकसित होती है। किसी एक का विकास दूसरे द्वारा प्रभावित नहीं होता है। रुसी मनोवैज्ञानिक वाइगो टस्काई (1963) का ऐसा ही विचार है। इनके अनुसार दो साल तक की अवस्था में चिन्तन तथा भाषा का विकास बिना एक दूसरे को प्रभावित किये हुये होता है। परन्तु उसके बाद चिन्तन की अभिव्यक्ति शब्दों में होने लगती है तथा बच्चे शब्दों का

प्रयोग भी विवेकी ढंग से करने लगते हैं। ऊपर वर्णन किये गये तथ्यों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कोई संदेह नहीं है कि भाषा द्वारा चिन्तन की प्रक्रिया प्रभावित अथवा निर्धारित होती है। परन्तु इसके आधार पर यह कह देना कि सभी उच्चतर चिन्तन भी निश्चित रुप से भाषा पर ही निर्भर होते है उचित नहीं है।

10.3.3 चिन्तन में मानसिक तत्परता की भूमिका-

मनोवैज्ञानिक चिन्तन तथा समस्या समाधान व्यवहार में मानसिक तत्परता के महत्व को काफी गहन रुप से अध्ययन किया है। मानसिक तत्परता से तात्पर्य प्राणी की ऐसी मानसिक स्थिति से होता है जिसके सहारे वह दिये गये समस्या का समाधान करने की कोशिश करता है। प्रत्येक समस्या का समाधान करने के पहले व्यक्ति एक प्रकार की मानसिक तैयारी करता है कि इसके समाधान के लिए वह किस तरह की अनुक्रिया करेगा। इसे ही "मानसिक तत्परता" या "वष्ति" की संज्ञा दी जाती है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये भिन्न-भिन्न प्रयोगो से यह स्पष्ट हो गया है कि तत्परता से समस्या के समाधान में भी मदत मिलती है तथा बाधा भी पहुँचती है। तत्परता के इन दोनों तरह के प्रभावों को दिखाने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोज्यों के तत्परता को दो तरीकों से प्रभावित कर प्रयोग किये हैं पहला तरीका वह है जिसमें प्रयोज्यों को कुछ खास-खास शाब्दिक निर्देश देकर उसकी तत्परता को प्रभावित करने की कोशिश की जाती है। तथा दूसरा तरीका वह है जिसमें प्रयोज्य को पूर्व अनुभूतियों को नियंत्रित करके उसकी तत्परता को प्रभावित करने की कोशिश की गयी है पहले तरीके द्वारा ऐसे प्रयोग किये गये हैं जिनसे यह पता चलता है कि तत्परता से किसी समस्या के समाधान में किस तरह से मदद मिलती है। तत्परता के इस प्रभाव को गुणकारी या लाभकारी प्रभाव कहा गया। दूसरे तरीके से अधिकर ऐसे प्रयोग किये गये है जिनसे यह पता चलता है कि तत्परता, विशेषकर गलत तत्परता से समस्या के समाधान में किस तरह से बाधा पहुँचती है या इसका समाधान विलम्बित से जाता है। मनोवैज्ञानिको ने तत्परता के इस प्रभाव को अगुणकारी प्रभाव कहा है। इन दोनों तरह के प्रभावों की चर्चा अलग-अलग निम्नांकित है।

(1) समस्या समाधान में तत्परता का लाभकारी प्रभाव:-

जब किसी समस्या के समाधान में हम सही तत्परता विकसित करते हैं, तो इससे उस समस्या का समाधान जल्द कर लेते हैं। तत्परता के इस गुणकारी प्रभाव को दिखाने के लिए कई प्रयोग भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये। इसमें मायर (1930) द्वारा किये गये प्रयोग काफी महत्वपूर्ण हैं। मायर ने तत्परता के लाभकारी प्रभाव को दिखलाने के लिए कई प्रयोग किये है। जिनमें तीन प्रयोग प्रमुख हैं। इन तीनो प्रयोग में इन्होने यह दिखलाया कि तत्परता को किस तरह से शाब्दिक निर्देष द्वारा प्रभावित किया जा सकता है जो बाद में व्यक्ति को समस्या के समाधान में मदद करता है:- इनके तीन प्रयोग निम्नांकित हैं:-

(i) पेण्डुलम समस्या का प्रयोग:- यह प्रयोग कालेज छात्रों पर था इनको दो पेण्डुलम बनाना था। इसके लिए छात्रों को एक-एक करके कमरे में बुलाया, इस कमरे में बहुत तरह की सामग्रियों जैसे छोटी लकड़ी, बड़ी लकड़ी, बिजली के तार, शिकंजा, चाक आदि बिखरे थे। इन सभी सामग्रियों की जरुरत दो दोलन बनाने में नहीं थी, परन्तु इस बात को प्रयोज्यों से नहीं कहा गया था। इस प्रयोग में प्रयोज्य को दो दोलक इस ढंग से बनाना था कि प्रत्येक दोलक कमरे में एक निर्धारित स्थल पर होकर झूले। इस समस्या के तीन अंश प्रदर्शन थे जिन्हें एक साथ मिला देने से समस्या का समाधान आसानी से हो जा सकता है। इसके अलावा मायर, प्रयोज्यों को एक निश्चित शाब्दिक निर्देष भी दिया करते थे। जिसका उद्देश्य प्रयोज्यों को एक ऐसी तत्परता कायम करना था जिससे समस्या का समाधान आसानी से हो सके इस प्रयोग में निम्नांकित पांच समूहों ने भाग लिया।

समूह 1:- इसे सिर्फ समस्या दी गयी।

समूह 2:- इसे समस्या के अलावा अंश प्रदर्शन भी दिया गया परन्तु यह भी कह दिया गया कि इस तरह के प्रदर्शन से समस्या का समाधान नहीं होगा।

समूह 3:- इसे समस्या के अलावा अंश प्रदर्शन यह कह कर दिया गया कि इससे समस्या के समाधान में मदद मिलेगी।

समूह 4:- इसे समस्या के अलावा निश्चित शाब्दिक निर्देश भी दिया गया।

समूह 5:- इसे समस्या, निश्चित शाब्दिक निर्देश तथा अंश प्रदर्शन यह कह कर दिया गया की यदि इन प्रदर्शनों को एक साथ संयोजित कर लिया जाये तो इससे समस्या समाधान में काफी मदद मिलेगी। इस प्रयोग के परिणाम बड़े रोचक थे। परिणाम में देखा गया कि प्रथम चार समूहों में से जिसमें प्रयोज्यों की कुल संख्या 62 थी, केवल एक प्रयोज्य ने समस्या का समाधान निर्धारित समय के भीतर किया। पाँचवे समूह के 22 प्रयोज्यों में से 8 ने समस्या का समाधान किया इस परिणाम के आधार पर मायर ने निष्कर्ष के रुप में यह बतलाया कि प्रयोज्य को समस्या के समाधान के लिए सिर्फ अंश प्रदर्शन की ही जरुरत नहीं थी बल्कि एक खास प्रकार की तत्परता की भी जरुरत थी जो उनके प्रयोज्यों में एक निश्चित शाब्दिक निर्देश देने से उत्पन्न हुआ था। शायद यही कारण है कि पांचवे समूह के अधिकतर प्रयोज्यों ने समस्या का सही समाधान किया जो प्रयोज्य असफल रहे उनमें गलत तत्परता उत्पन्न हो गयी थी।

(ii) रस्सी बाँधने की समस्या पर प्रयोग:- मायर (1930) का यह दूसरा प्रयोग काफी महत्वपूर्ण था। जिसमें कालेज के छात्र ही प्रयोज्य थे। इस प्रयोग का उद्देश्य यह दिखलाना था कि जब प्रयोग में शाब्दिक संकेत तथा आशाब्दिक संकेत किसी समस्या का समाधान करने में दे दिया जाता है तो इससे प्रयोज्य में विशेष तत्परता उत्पन्न हो जाती है जिससे उसे समस्या का समाधान करने में मदद मिलती है। प्रयोज्यों को बारी-बारी से एक ऐसे कमरे में लाया जाता था जिसकी छत से दो रस्सी

लटक रही थी उसके आपस की दूरी इतनी अधिक थी कि प्रयोज्य के लिये एक ही साथ दोनों को छूना संभव नहीं था। समस्या यह थी कि दोनो रस्सी को एक साथ कैसे बांधा जा सकता हैं। कमरे में इस बार भी काफी सामग्रियां उपस्थित थी। ऐसे भी इस समस्या के कई समाधान थे परन्तु मायर एक निश्चित समाधान ही चाहते थे। प्रयोज्य को किसी एक रस्सी के लटकते छोर से कोई भारी चीज को बांध और झूलते-झूलते वह दूसरी रस्सी की ओर अधिकतम दूरी पर पहुँच जाये, तो प्रयोज्य इसे पकड़ कर दूसरी लटकती रस्सी से बांध दे। प्रत्येक प्रयोज्य की समस्या के समाधान के लिये मात्र 10 सेकण्ड का समय दिया जाता था कुछ ने तो इस निश्चित समय के भीतर समाधान कर लिया किन्तु कुछ असफल रहे असफल रहने पर मायर ने दो तरह के संकेत दिये। परिणाम में यह देखा गया कि बिना संकेत के 39% प्रयोज्य ने समस्या का समाधान किया, संकेत देने के बाद और 38% ने समस्या का समाधान किया और बाकी 23% इस तरह के संकेत के बाबजूद भी असफल रहे। मायर ने इस प्रयोग के परिणाम के आधार पर बतलाया कि संकेत देने से प्रयोज्य में कुछ विशेष तत्परता उत्पन्न हो गयी जिसके कारण 38% अतिरिक्त प्रयोज्य ने समस्या का समाधान किया।

(iii) मायर का तीसरा प्रयोग:- मायर का तीसरा प्रयोग दो प्रयोगों के एक विशेष प्रेक्षण पर आधारित था। मायर ने इन दोनो प्रयोगों में पाया कि कुछ प्रयोज्यों द्वारा समस्या के समाधान में जो असफलता प्राप्त हुई उसका प्रधान कारण यह था कि उनमें एक गलत तत्परता विकसित हो गयी थी। क्या यह सम्भव नहीं है कि इस तरह की तत्परता को परिवर्तन करके प्रयोज्य दूसरी ऐसी तत्परता विकसित करे जिससे उसे समस्या समाधान में मदत मिले मायर ने तीसरे प्रयोग इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया। इस प्रयोग में प्रयोज्य के दो समूह लिये, प्रयोगात्मक समूह तथा नियंत्रित समूह दोनों समूह के प्रयोज्यों को अलग-अलग तीन समूह समरूप समस्या का समाधान करने को कहा गया। प्रयोगात्मक समूह को समस्या का समाधान करने के पहले 20 मिनट का भाषण दिया गया जिसमें विशेष रूप से इस बात पर बल डाला गया था कि किसी तरह किसी समस्या के समाधान में जब गलत तत्परता विकसित हो जाती है तो इसे बदलकर इसकी जगह पर दूसरी तत्परता विकसित की जा सकती है ताकि समस्या का समाधान आसानी से किया जा सके। परिणाम में देखा गया कि प्रयोगात्मक समूह तथा नियंत्रित समूह द्वारा तीनों समस्याओं के सही समाधान की प्रतिशत में अधिक अन्तर तो नहीं था परन्तु निश्चित रूप से कम अन्तर पर ही प्रयोगात्मक समूह के सही समाधान का प्रतिशत अपेक्षाकृत अधिक था। अतः मायर का निष्कर्ष यह था कि यदि गलत तत्परता की जगह पर सही तत्परता विकसित हो जाती है, तो इससे समस्या को समाधान में काफी मदद मिलती है।

(2) समस्या समाधान में वृत्ति या तत्परता का हानिकारक प्रभावः-

तत्परता से समस्या के समाधान में हमेशा मदद ही नहीं मिलती है बल्कि कभी-कभी बाधा भी पहुँचती है। मायर के प्रयोग से हमें इस बात का भी पूर्ण रूप से संकेत मिल जाता है कि अनुचित तत्परता किसी समस्या का समाधान करने में जब विकसित हो जाती है तो इससे समस्या के समाधान

में बाधा पहुँचती है वृत्ति के सिर्फ इस हानिकारक प्रभाव को दिखाने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने अलग से कई प्रयोग किये जिसमें प्रयोज्य के गत अनुभवों को नियंत्रित करके तत्परता के हानिकारक प्रभाव का अध्ययन किया गया है। डंकर ने गलत तत्परता के इस अंधे प्रभाव को 'क्रियात्मक अटलता या स्थिरता' कहा जाता है ऐसा इसलिए कहा गया है क्योंकि व्यक्ति नयी समस्या का समाधान करने में एक तरह से क्रियात्मक रूप से स्थिर हो जाता है यानि बार-बार एक ही अनुक्रिया करता रहता है जिससे वर्तमान समस्या का समाधान नहीं हो पाता है।

वृत्ति के हानिकारक प्रभाव को दिखाने के लिए लूचिन्स (1942) द्वारा किया गया प्रयोग सबसे उल्लेखनीय है। इन्होनें अनेक प्रयोग पानी-घड़ा समस्या पर किये। इसके एक विशेष प्रयोग में प्रयोज्य को काल्पनिक रूप से तीन पानी के घड़े ए, इ एवं ब दिये। प्रत्येक घड़े में कुछ पानी था और इन्ही तीन घड़ों के सहारे एक घड़े से दूसरे घड़े में अदल-बदल कर पानी का एक खास स्तर लाना होता था। इस तरह की कुल 9 समस्याँए थी। इस सभी समस्याओं का विस्तृत स्वरूप (प्रथम अभ्यास समस्या को छोड़कर) निम्नांकित है।

	घड़ा			घड़ों में वांछित पानी का स्तर
	ए	इ	ब	
समस्या सं0 2	21	127	03	100
समस्या सं0 3	14	163	25	99
समस्या सं0 4	18	43	10	05
समस्या सं0 5	09	42	06	21
समस्या सं0 6	20	59	04	31
समस्या सं0 7	23	49	03	20
समस्या सं0 8	15	39	03	18
समस्या सं0 9	28	76	03	25

यदि हम उपर्युक्त समस्या पर ध्यान दें तो समस्या संख्या 1-6 तक का समाधान सूत्र इ-ब से हो सकता है। अर्थात इ घड़ा को पूर्णतः दिखाये गये ईकाई की मात्रा में भरकर उसमें से घड़ा की

क्षमता को घटाकर पानी निकालकर फिर से इ घड़ा से ही ब घड़ा की क्षमता के बराबर पानी दो बार निकाल लेने से सबसे बडे घड़े में (घड़ा इ) निर्दिष्ट पानी की मात्रा प्राप्त हो जायेगी।

इस प्रयोग में प्रयोज्यों के कई समूह थे जिन्हें मूल रूप से दों भागों में बांटा गया था नियंत्रित समूह तथा प्रयोगात्मक समूह। पहली समस्या एक तरह की अभ्यास समस्या थी जिसका समाधान दोनो समूह ने किया इसके बाद नियंत्रित समूह को हटा दिया और प्रयोगात्मक समूह समस्या संख्या 2 से 6 तक का समाधान किया गया। इसके बाद पुनः नियंत्रित समूह को बुला लिया गया और दोनों समूह को अलग-अलग 7,8 तथा 9 दिया गया। समस्या 7 व 8 कुछ ऐसी थी जिसे पहले की 6 विधि से तो समाधान किया ही जा सकता था परन्तु और भी आसनी से इसे अन्य विधि द्वारा समाधान किया जा सकता था। समस्या सं0 9 का समाधान पहले की किसी भी विधि से संभव नहीं था इसका समाधान बिल्कुल नयी विधि से हो सकता था। परिणाम में यह देखा गया कि प्रयोगात्मक समूह को 70% से 100% प्रयोज्यों ने समस्या सं0 7 व 8 का समाधान पुरानी विधि से किया। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि इस समस्याओं का समाधान करने से प्रयोज्य में एक खास तत्परता उत्पन्न हो गयी थी। नियंत्रित समूह के किसी भी प्रयोज्य ने समस्या संख्या 7 और 8 के समाधान में पुरानी विधि का उपयोग नहीं किया गया। समस्या संख्या 9 के समाधान में प्रयोगात्मक समूहों के अधिकतर प्रयोज्य नियंत्रित समूहों की अपेक्षा असफल रहें हालांकि इसका समाधान कम समय में ही आसानी से किया जा सकता था। लुचिन्स के इस परिणाम से स्पष्ट है कि समस्या के समाधान करने से उत्पन्न तत्परता हमेंशा बाद के समस्या के समाधान में सहायक ही नहीं होती है। शायद यही कारण है कि 1 से 8 तक एक ही विधि से समाधान करने की तत्परता उत्पन्न हो गयी थी जो समस्या सं0 9 के समाधान के लिए अनुचित थी।

अतः उपर्युक्त उदाहरणों के निप्कर्प स्वरूप यह कहा जा सकता हे कि समस्या के समाधान यानि चिन्तन में किसी तत्परता का प्रभाव सहायक भी होता है तथा बाधक भी। तत्परता के इस बाधक प्रभाव को यानि हानिकारक प्रभाव को कुछ विशेष तरीकों द्वारा कम भी किया जा सकता है।

10.4 चिन्तन की प्रक्रिया

चिन्तन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपने गत अनुभूतियों को सहारा लेता है चिन्तन की प्रक्रियाको निम्नांकित बिंदुओ की सहायता से समझाया जा सकता हैः-

1) चिन्तन की प्रक्रिया लक्ष्य निर्देशित होती है जब हमारे समाने कोई समस्या आती है तो उसके समाधान के लिए प्रयत्नशील हो जाते है और चिन्तन करना षुरू कर देते है। चिन्तन के समय व्यक्ति का सारा प्रयास एक निश्चित लक्ष्य यानी, उस समस्या के समाधान की और होता है।

2) चिन्तन में खासकर यथार्थवादी चिन्तन में तर्क होता है। चिन्तन करते समय व्यक्ति किसी विषय या घटना के पक्ष या विपक्ष में तर्क करता है। उदाहरणार्थ कोई छात्र अपने कमरे में टेबुल लैम्प की रोशनी में पढ़ रहा है अचानक रोशनी बुझ जाती है। अब छात्र के सामने यह समस्या उठ खड़ी होती है कि रोशनी कहाँ से आये कि पढाई जारी रखी जा सके। छात्र अपने कमरे में कई तरह के तर्क करते हुए चिन्तन कर सकता है। वह सोच सकता है कि संभवतः बिजली के मीटर के बगल का फ्यूज तार जल गया हो। फिर वह सोच सकता है कि चूकि बगल के कमरे का बल्ब जल रहा है अतः जरूर ही लेंप के बल्ब फ्यूज हो गया होगा अतः छात्र बल्ब की जांच करेगा और उसके बाद यदि वह यह पाता हे कि बल्व भी ठीक है तो स्पष्टतः वह इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि टेबुल लैम्प का स्विच खराब हो गया है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि चिन्तन में क्रमबद्व रूप से व्यक्ति तर्क करता है।
3) प्रायः चिन्तन का सम्बन्ध वास्तविकता से होता है हालाकि कुछ चिन्तन का सम्बन्ध वास्तविकता से होता है हालाकि कुछ चिन्तन का सम्बन्ध वास्तविकता से न होकर काल्पनिक वस्तुओं से भी होता है। जैसे यदि कोई छात्र गणित की समस्या का समाधान कर रहा है। तथा साथ ही सोच रहा हे कि कल की पार्टी काफी अच्छी थी तो उसके द्वारा किये गये चिन्तन का सम्बन्ध वास्तविकता तथा कल्पना दोनों से होता है। परन्तु ऐसा कम होता है ज्यादातर चिन्तन का सम्बन्ध वास्तविकता से होता है।
4) चिन्तन में प्रयत्न तथा त्रुटि की प्रक्रिया होती है, ऐसा इसलिए होता है क्योंकि चिन्तन के सहारे व्यक्ति किसी समस्या का समाधान करता है।
5) चिन्तन में स्पष्ट रूप से कोई न कोई समस्या होती है सच्चाई यह है कि किसी समस्या के उत्पन्न होने पर ही चिन्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। अतः चिन्तन की प्रक्रिया में स्पष्ट रूप से एक निश्चित समस्या होती है।

10.5 सारांश

- चिन्तन एक ऐसी मानासिक प्रक्रिया है जो सभी प्राणियों में होती है। प्रतिमाओं, प्रतीकों, संप्रत्ययों, नियमों एवं अन्य म्ध्यांश इकाइयों के सहारे किसी समास्या का समाधान करना ही चिन्तन है। चिन्तन की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि यह हमेंशा लक्ष्य निर्देशित होता है।
- मनोविज्ञानिकों ने चिन्तन में भाषा की एक महत्वपूर्ण भूमिका बतलायी है। कुछ मनोवैज्ञानिकों जैसे ओर्फ (1956), ब्रनुर (1964) आदि का मत है कि भाषा के अभाव में चिन्तन की प्रक्रिया नहीं हो सकती। अतः चिन्तन की प्रक्रिया भाषा द्वारा प्रभावित तथा निर्धारित होती है। परन्तु कुछ मनोवैज्ञानिकों ने ठीक इसके विपरीत विचार व्यक्त किये और कहा कि चिन्तन की प्रक्रिया पहले होती है। तथा बाद में इससे सम्बन्धित भाषा का विकास होता है। क्लार्क (1973) तथा पियाजे (1923) के विचार इस श्रेणी के है। कुछ ऐसे भी मनोवैज्ञानिक है जो इन दो विपरित विचारों के

बीचों-बीच विचार रखते है। तथा दावा करते है कि भाषा तथा चिन्तन दो ऐसी प्रक्रिया है जो आरम्भ में अलग-अलग तथा स्वंतत्र रूप से विकसित होती है।

- मनोवैज्ञानिकों ने चिन्तन में मानसिक तत्परता के महत्व को दिखलाने के लिए अनेक प्रयोग किये है। इसमें कुछ प्रयोग द्वारा यह दिखलाया गया है कि तत्परता से समस्या समाधान या चिन्तन में मदद मिलती है तथा यदि तत्परता अनुचित या गलत हुई तो इससे व्यक्ति को समस्या समाधान में बाधा भी पहुँचती है।
- चिन्तन की प्रक्रिया लक्ष्य निर्देशित होती है। यथार्थवादी चिन्तन तर्कपूर्ण होता है। इसका सम्बन्ध प्रायः वास्तविकता से होता है। इसमें प्रयत्न तथा त्रुटि की प्रक्रिया होती है। चिन्तन में स्पष्ट रूप से कोई निश्चित समस्या होती है।

10.6 शब्दावली

- **चिन्तन:** प्रतिमाओं, प्रतीको, सम्प्रत्ययों, नियमों एवं अन्य मध्यस्थ इकाइयों के मानसिक जोड़-तोड़ को चिन्तन कहा जाता है।
- **मानसिक तत्परता:** मानसिक तत्परता से तात्पर्य प्राणी की ऐसी मानसिक स्थिति से होता है जिसके सहारे वह दिये गये समस्या का समाधान करने की कोशिश करता है।

10.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) सभी चिन्तन प्रक्रियाएँ अनिवार्यतः किस पर आधारित होती है?
2) निम्नलिखित में से किसे चिन्तन के साधन की सूची में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है?

   i)प्रतिभा ii) भाषा iii) सम्प्रत्यय iv) प्रयत्न एवं त्रुटि

3) भाषाई नियतिवाद क्या है?
4) चिन्तन के भाषा की उपयोगिता का विरोध करने वाले मुख्य मनोवैज्ञानिक कौन है?
5) तत्परता के गुणकारी तथा अगुणकारी प्रभाव में क्या अन्तर है?
6) चिन्तन की प्रक्रिया वास्तविक होती है या काल्पनिक ?

उत्तर: 1) समास्या समाधान पर 2) सम्प्रत्यय

3) भाषा का विकास चिन्तन से पहले होता है तथा चिन्तन पूर्णरूपेण भाषा द्वारा होता है|

4) पियाजे तथा क्लार्क

5) जब तत्परता से समास्या का समाधान जल्दी होता है उसे गुणकारी तथा जब तत्परता से समाधान में बाधा पहुँचती है उसे अगुणकारी प्रभाव कहते हैं|

6) वास्तविकता

10.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- आधुनिक प्रयोगात्मक मनोविज्ञान:- डा0 प्रीती वर्मा तथा डा0 डी0 एन0 श्रीवास्तव, प्रकाशक विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-2
- उच्च प्रयोगगिक मनोविज्ञान:- डा0 आर0 एन0 सिंह तथा डा0 एस0 एस0 भारद्वाज, प्रकाशक अग्रवाल पब्लिकेशन्स
- उच्चतर समान्य मनोविज्ञान:- डा0 ए0 के0 सिंह, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास
- प्रतियोगिता मनोविज्ञान:- डा0 अरूण कुमार सिंह तथा आशीष कुमार सिंह, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास

10.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. चिन्तन के स्वरूप पर प्रकाश डालिये।
2. चिन्तन में भाषा के महत्व को समझाते हुए ओर्फ प्राक्कल्पना का वर्णन कीजिए।
3. चिन्तन में मानसिक तत्परता की भूमिका को समझाते हुए इसके लाभकारी प्रभावों की व्याख्या करिए।
4. टिप्पणीः-
   - (i) चिन्तन की प्रक्रिया
   - (ii) मानसिक वृत्ति के हानिकारक प्रभाव
   - (iii) चिन्तन में भाषा के महत्व की आलोचनात्मक व्याख्या।

इकाई–11 सृजनात्मक चिन्तन तथा समानान्तर चिन्तन

11.1 प्रस्तावना
11.2 उद्देश्य
11.3 सृजनात्मक चिन्तन का स्वरुप
11.3.1 सृजनात्मक चिन्तन की विशेषताएँ
11.3.2 सृजनात्मक चिन्तन की अवस्थाएँ
11.3.3 सृजनात्मक विचारक के गुण
11.4 सामानान्तर चिंतन
11.4.1 सामानान्तर चिंतन की क्रान्तिकारी प्रकृति
11.4.2 सामानान्तर चिंतन की विशेषताएँ
11.4.3 छः चिंतन टोपी
11.5 सारांश
11.6 शब्दावली
11.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
11.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
11.9 निबन्धात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

सृजनात्मक चिन्तन व्यक्ति की उस क्षमता को कहा जाता है जिससे वह कुछ ऐसी नई चीजों, रचनाओं या विचारों को पैदा करता है जो नया होता है एवं जो पहले से उसे ज्ञात नहीं होता है। यह एक काल्पनिक क्रिया या चिन्तन संश्लेषण हो सकता है। इसमें गत् अनुभूतियों से उत्पन्न सूचनाओं का एक नया पैटर्नस् और सम्मिश्रण सम्मिलित हो सकता है। यह निश्चित रुप से उद्देश्यपूर्ण या लक्ष्य निर्देशित होता है न कि एक निराधार स्वप्न चित्र होता है। यह वैज्ञानिक, कलात्मक या साहित्यिक रचना के रुप में हो सकता है। इस ईकाई में चिन्तन के स्वरूप, विशेषताओं, अवस्थाओं की सृजनात्मक विचारक के गुणों, सामानान्तर चिंतन उसकी क्रान्तिकारी प्रवष्टि, विशेषताओं तथा छः टोपी प्रकिया की चर्चा करेंगें।

11.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित बिंदुओ को समझाने में सक्षम होंगेः-

- सृजनात्मक चिन्तन के स्वरूप को समझा सकेंगें।
- सृजनात्मक चिन्तन की विशेषताओं पर प्रकाश डाल सकेंगें।
- सृजनात्मक चिन्तन की अवस्थाओं के बारे में चर्चा कर सकेंगें।
- सृजनात्मक विचारक के गुणों की व्याख्या कर सकेंगें।
- सामानान्तर चिन्तन की क्रान्तिकारी प्रकृति का वर्णन कर सकेंगें।
- सामानान्तर चिंतन की विशेषताओं पर प्रकाश डाल सकेंगें।
- छः चिंतन टोपी की प्रक्रिया समझा सकेंगें।

11.3 सृजनात्मक चिन्तन का स्वरुप

सृजनात्मक चिन्तन, चिन्तन का एक प्रमुख प्रकार है। सृजनात्मक चिन्तन को कई अर्थो में प्रयोग किया गया है। सृजनात्मक चिन्तन का सबसे लोकप्रिय अर्थ गिलफोर्ड (1967) द्वारा बतलाया गया है। इन्होंने चिन्तन को दो भागो में बांटा है -

(1) अभिसारी चिन्तन

(2) अपसरण चिन्तन

(1) अभिसारी चिन्तन- अभिसारी चिन्तन में व्यक्ति दिये गये तथ्यों के आधार पर किसी सही निष्कर्ष पर पहुँचने की कोशिश करता है, इस तरह के चिन्तन में व्यक्ति रुढ़िवादी तरीका अपना कर अर्थात समस्या सम्बन्धी दी गयी सूचनाओं के आधार पर उसका समाधान करता है। अभिसारी चिन्तन में व्यक्ति बहुत आसानी से एक पूर्व निश्चित क्रम में चिन्तन कर लेता है।

(2) अपसरण चिन्तन- अपसरण चिन्तन में व्यक्ति भिन्न-भिन्न दशाओं में चिन्तन कर समस्या का समाधान करने की कोशिश करता है। जब वह भिन्न-भिन्न दशाओं में चिन्तन करता है तो स्वभावतः वह समस्या के कई संभावित उत्तरों पर चिंतन करता है और अपनी ओर से कुछ नये एवं मूल चीजों को जोड़ने की कोशिश करता है। इस तरह के चिन्तन की एक और विशेषता यह है (जो इसे अभिसारी चिन्तन से अलग करती है) कि इसमें व्यक्ति आसानी से एक पूर्व सुनिश्चित कदमों के अनुसार चिन्तन नहीं कर पाता है (क्योकि इसमें कुछ नया एवं मूल चिन्तन करना होता है) मनोवैज्ञानिकों ने अपसरण चिन्तन को सृजनात्मक चिन्तन के तुल्य माना है।

11.3.1 सृजनात्मक चिन्तन की विशेषताएँ-

सृजनात्मक चिन्तन की निम्नलिखित विशेषताएँ है जिससे चिन्तन के स्वरुप पर स्पष्ट रुप से प्रभाव पड़ता है:-

(1) सृजनात्मक चिन्तन एक ऐसी प्रक्रिया है जो लक्ष्य निर्देशित होती है। इसमें व्यक्ति को निश्चित रुप से लक्ष्य का पता होता है और उसका प्रत्येक व्यवहार इसी लक्ष्य से संबंधित होता है। व्यक्ति इस ढंग का व्यवहार अपने व्यक्तिगत या सामूहिक लाभ के लिए भी करता है।

(2) सृजनात्मक चिन्तन में व्यक्ति कुछ नया एवं भिन्न चीजों की रचना करता है। इसलिए यह उस व्यक्ति के लिए भी अनूठा होता है। इस तरह की अनूठी रचना शाब्दिक, अशाब्दिक, मूर्त या अमूर्त कुछ भी हो सकती है तथा यह व्यक्ति के लिए भी लाभदायक होती है। इस विशेषता के आलोक में मैटलिन (1983) ने सृजनात्मकता को परिभाषित करते हुए कहा है "सृजनात्मकता में एक ऐसा नया समाधान ढूँढा जाता है जो असाधारण एवं लाभदायक दोनो ही होता है।

(3) सृजनात्मक चिन्तन में व्यक्ति समस्या के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर भिन्न-भिन्न दिशाओं में चिन्तन करता है। इस तरह से भिन्न-भिन्न दिशाओं में चिन्तन करने की क्षमता को अपसरण चिन्तन भी कहा जाता है। यही कारण है कि सृजनात्मक चिन्तन में अपसरण चिन्तन को सम्मिलित हुआ माना जाता है। मार्गन, किंग, विस्ज तथा स्कौपलर (Morgan, King, Weisz, Schopler, 19861) ने इसलिए कहा है "सृजनात्मक रुप से चिंतन के समय लोग भिन्न-भिन्न दिशाओं में चिंतन करते हैं और इस तरह से समस्या के बारे में उनमें बहुत सारे विचार आते हैं।''

(4) सृजनात्मक चिन्तन, चिन्तन का एक विशेष तरीका है। यह बुद्धि से एक अलग संप्रत्यय है क्योंकि बुद्धि में सृजनात्मक चिंतन के अलावा भी अन्य मानसिक क्षमताएँ सम्मिलित होती है।

(5) सृजनात्मक चिन्तन करने की क्षमता व्यक्ति द्वारा पहले से प्राप्त सार्थक ज्ञान पर निर्भर करती है। यह सार्थक ज्ञान जितना ही अधिक होगा, सृजनात्मक चिन्तन की क्षमता उतनी ही अधिक होगी।

(6) सृजनात्मक चिन्तन में स्वली चिन्तन नियंत्रित ढंग से सम्मिलित होता है, दूसरे शब्दों में सृजनात्मक रुप से चिंतन के समय व्यक्ति कुछ अर्थपूर्ण कल्पनाएँ करता है। इसी अर्थपूर्ण कल्पना का ही परिणाम होता है कि व्यक्ति कुछ वैज्ञानिक कलात्मक तथा साहित्यिक रचना कर पाता है।

(7) सृजनात्मक चिन्तन में एक सीमा तक अभिसारी चिन्तन भी सम्मिलित होता है। अभिसारी चिन्तन करके व्यक्ति कुछ इस तरह की सूचनाएँ एवं सामग्रियों को इकट्ठा करता है। जिनसे उसे सृजनात्मक समाधान में मदद मिलती है।मार्गन, किंग, विस्ज, तथा स्कौपलर (1988) ने कहा है "अन्तिम सृजनात्मक समाधान के लिए रचनात्मक रुप से चिंतन करने वाला व्यक्ति अभिसारी चिन्तन द्वारा महत्वपूर्ण सूचनाओं एवं विचारों को एकत्रित करता है।" अतः स्पष्ट है कि

सृजनात्मक चिन्तन एक जटिल प्रक्रिया है। इस तरह के चिन्तन करने की क्षमता सभी व्यक्तियों में अधिक हो ही, यह आवश्यक नहीं है।

11.3.2 सृजनात्मक चिन्तन की अवस्थाएँ -

सृजनात्मक चिन्तन का स्वरुप काफी जटिल है। चाहे व्यक्ति सामान्य चिन्तन द्वारा किसी समस्या का समाधान कर रहा हो या वह सृजनात्मक रुप से चिन्तन कर रहा हो उसमें निम्नलिखित चार अवस्थाएँ होती है।

1) **आयोजन-** इस अवस्था में समस्या से संबंधित आवश्यक तथ्यों एवं प्रमाणों को एकत्रित करने की तैयारी का आयोजन किया जाता है। समस्या समाधान से संबंधित उसके पक्ष एवं विपक्ष में प्रमाण एकत्रित किये जाते हैं। ऐसा करने में वह प्रयत्न एवं त्रुटि का सहारा भी लेता है। आइन्सटीन, राईट तथा न्यूटन जैसे महान वैज्ञानिकों ने भी अपने सामने आयी समस्या के समाधान से संबंधित तथ्यों एवं प्रमाणों को एकत्रित करके उसकी विस्तृत ज्ञान हासिल किया तथा उनके आधार पर सृजनात्मक चिन्तन किया। इस तरह से प्रत्येक रचनात्मक चिन्तन विभिन्न प्रकार के तथ्यों एवं प्रमाणों को एकत्रित करने का आयोजन करता है। समस्या के स्वरुप तथा व्यक्ति के ज्ञान के अनुसार यह अवस्था लम्बे या कम समय तक होती है। यदि समस्या जटिल तथा व्यक्ति का ज्ञान सीमित है तो अवस्था का समय लम्बा परन्तु यदि समस्या सरल तथा व्यक्ति का ज्ञान भण्डार परिपक्व है तो अवस्था कम समय तक रहती है। जिम्बार्डो तथा रुक (1977) के अनुसार इस अवस्था पर व्यक्ति की आयु तथा बुद्धि का भी प्रभाव पड़ता है।
2) **उद्भवन-** यह दूसरी अवस्था है इसमें व्यक्ति की निष्क्रियता बढ़ जाती है, थोड़े समय के लिए व्यक्ति समस्या के बारे में चिन्तन करना छोड़ देता है जब कई तरह से कोशिश करने के बाद भी किसी समस्या का समाधान नहीं हो पाता है तो इस अवस्था की उत्पत्ति होती हैं। इस अवस्था में व्यक्ति चिन्तन करना छोड़कर सो जाता है या विश्राम करने लगता है। यद्यपि इस अवस्था में व्यक्ति अपना ध्यान समस्या की ओर से पूर्णतः हटा लेता है, फिर भी अचेतन रुप से उसके बारे में चिंतन करता रहता है। इस तरह से व्यक्ति चेतन रुप से तो समस्या से मुक्त रहता है परन्तु अचेतन रुप से उसके समाधान के बारे में चिन्तन जारी रखता है।
3) **प्रबोधन -** यह चिन्तन की अगली अवस्था है जिसमें व्यक्ति को अचानक समस्या का समाधान दिखाई पड़ जाता है| सिलभरमैन (1978) के अनुसार ''समाधान के अकस्मात् अनुभव को प्रबोधन कहा जाता है।'' यह अवस्था प्रत्येक सृजनात्मक चिन्तन में पायी जाती है। उद्भवन अवस्था में जब व्यक्ति अचेतन रुप से समस्या के भिन्न-भिन्न पहलुओं को पुर्नसंगठित करते रहता है तो अचानक उसे समस्या का समाधान नजर आ जाता है। प्रबोधन की घटना सूझ के समान है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार व्यक्ति में उद्भवन की अवस्था के बाद प्रबोधन की अवस्था

कभी भी उत्पन्न हो सकती है। यहाँ तक की कभी-कभी व्यक्ति को सपने में भी प्रबोधन का अनुभव होते पाया गया है।

4) **प्रमाणीकरण या सम्बोधन-** यह सृजनात्मक चिन्तन की चौथी अवस्था है। इस अवस्था में प्रबोधन की अवस्था से प्राप्त समाधान का मूल्यांकन किया जाता है। इस अवस्था में व्यक्ति यह देखने की कोशिश करता है कि उसे जो समाधान प्राप्त हुआ है वह ठीक है अथवा नहीं। जाँच करने के बाद जब व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि समाधान सही नहीं था तो वह सम्पूर्ण कार्यविधि का संशोधन करता है और पुनः दूसरे समाधान की खोज करता है। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि सृजनात्मक चिन्तन की चार अवस्थाएँ है जो एक निश्चित क्रम में होती हैं। कुछ मनोवैज्ञानिको ने इन अवस्थाओं की आलोचना की और कहा कि सभी सृजनात्मक चिन्तन में ये सभी अवस्थाएँ नहीं होती है। मन, फर्नेलड तथा फर्नेलड (1969) के अनुसार सृजनात्मक चिन्तन की इन अवस्थाओं को दो प्रमुख आलोचनाएँ है, जो इस प्रकार है:

   i. सभी सृजनात्मक चिन्तन में चारों अवस्थाएँ मौजूद रहे यह आवश्यक नहीं है, जैसे सर एलेक्जेण्डर फ्लेमिंग जिन्होंने पेनिसलिन की खोज की, के इस खोज के सृजनात्मक चिन्तन में न तो उद्धवन और न ही कोई अवस्था पायी गयी थी।

   ii. इन चारों अवस्थाओं द्वारा सृजनात्मक प्रक्रिया का विस्तृत ज्ञान हमें नहीं हो पाता है। इन अवस्थाओं से सिर्फ यह पता चलता है कि सृजनात्मक चिन्तन किस क्रम में होता है परन्तु सृजनात्मक प्रक्रिया के अन्य पहलुओं के बारे में हमें इससे कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि सृजनात्मक चिन्तन की इन अवस्थाओं की आलोचना की गयी है, फिर भी हमारे दिन-प्रतिदिन का अनुभव तथा अधिकतर वैज्ञानिकों, कलाकारों एवं कवियों के सृजनात्मक चिन्तन का विश्लेषण इस बात का सबूत है कि इस प्रकार का चिन्तन उपर्युक्त अवस्थाओं के अनुसार ही होता है।

11.3.3 सृजनात्मक विचारक के गुण -

केट्टनर तथा उसके सहयोगियों (1959) ने कारक विश्लेषण करके सृजनात्मक विचारकों के कुछ गुणों का निर्धारण किया है। इसमें से कुछ प्रमुख गुण निम्नांकित हैं:

1) **बुद्धि-** सृजनात्मक चिन्तन का बुद्धि के साथ गहरा संबंध है कम बुद्धि वाले व्यक्तियों में सृजनात्मकता नहीं के बराबर होती है परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि सभी अधिक बुद्धि वाले व्यक्तियों में सृजनात्मकता हो ही, 110-120 की बुद्धि लब्धि तक सृजनात्मकता तथा बुद्धि में धनात्मक सहसंबंध पाया गया है, परन्तु इससे ऊपर जाने पर जैसे बुद्धि लब्धि का स्तर 140 या इससे भी ऊपर होने पर व्यक्ति में सृजनात्मकता नहीं के बराबर होते देखा गया है।
2) **स्वतंत्रता-** सृजनात्मक विचारक के विचार तथा क्रियाओं में स्वतन्त्रता पायी जाती है ऐसे व्यक्ति इस बात की परवाह नहीं करते हैं कि उनके विचार तथा क्रियाएँ दूसरे व्यक्तियों से मेल खाती है

या नहीं। मौकनौन (1962) ने अधिक सृजनात्मक तथा कम सृजनात्मक व्यक्तियों के गुणों का तुलनात्मक अध्ययन किया और पाया कि अधिक सृजनात्मक व्यक्ति अधिक अविष्कारशील अधिक स्वतन्त्र तथा अधिक व्यक्तिपरक होते हैं जबकि कम सृजनात्मक व्यक्ति विश्वसनीय, आश्रित तथा सहनशील होते है।

3) **हास्य भाव-** सृजनात्मक विचारक की एक विशेषता यह होती है कि वे किसी घटना या वस्तु को गम्भीरतापूर्वक नहीं लेते हैं बल्कि उनकी व्याख्या हास्यपूर्ण ढंग से करते हैं। मन, फर्नेल्ड तथा फर्नेल्ड (1969) ने एक अध्ययन किया जिसमें अधिक सृजनात्मक व्यक्तियों तथा अधिक बुद्धिमान व्यक्तियों को व्यक्तित्व के कई शीलगुणों को उनके अपने लिए महत्व के क्रम में सजाने के लिए कहा गया। परिणाम में देखा गया कि अधिक सृजनात्मक व्यक्तियों द्वारा हास्य के शीलगुण को दूसरे कोटि में रखा गया जबकि इस शीलगुण को अधिक बुद्धिमान व्यक्ति द्वारा अन्तिम कोटि में रखा गया। इस अध्ययन से स्पष्ट है कि सृजनात्मक विचारक में हास्य भाव अधिक होता है परन्तु अधिक बुद्धिमान व्यक्तियों में इस तरह का भाव कम होता है।
4) **नवीनता तथा जटिलता में रुचि-** सृजनात्मक विचारक हमेंशा किसी नवीन जटिल समस्या के समाधान में अधिक रुचि दिखाते हैं। ऐसे लोगों को किसी रुढ़िवादी समाधान में आनन्द नहीं आता है। वह हमेशा यह कोशिश करते है कि अपने चिन्तन के आधार पर किसी नयी चीज या घटना की खोज करें। इस तरह के शीलगुण को बेल्श (1975) ने "मौलिकता" की संज्ञा दी है। इसका स्पष्ट मतलब हुआ कि सृजनात्मक व्यक्तियों में मौलिकता का शीलगुण होता है।
5) **स्वग्रही तथा प्रबल-** सृजनात्मक विचारक काफी स्वग्रही होते हैं अर्थात ऐसे व्यक्ति अपने विचारों की अभिव्यक्ति खुलकर करते हैं तथा काफी जोरदार शब्दों में उसके लिए तर्क प्रस्तुत करते हैं। वे इस बात की परवाह नहीं करते है कि लोग उनकी हँसी भी उड़ा सकते है। इतना ही नहीं उनमें प्रबलता का गुण होता है ऐसे व्यक्ति हमेशा अपने विचारो एवं व्यवहारों का प्रभुत्व दूसरो पर दिखलाते हैं क्योकि तार्किक क्षमता अधिक विकसित होती है।
6) **दमन का कम से कम प्रयोग-** जिन लोगों में सृजनात्मक चिन्तन की क्षमता अधिक होती है वे लोग अपनी इच्छाओं को दमन द्वारा कम से कम नियंत्रित करते पाये गये हैं। दमन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति जान-बूझकर अपनी इच्छाओं एवं आवेगों को अचेतन में भेजता है। अर्थात अधिक सृजनात्मक क्षमता वाले व्यक्ति अपनी प्रत्येक इच्छा तथा आवेग का आदर करते है। इसके विपरीत बुद्धिमान व्यक्ति अपनी इच्छाओं तथा आवेगो का नियंत्रण इस दमन प्रक्रिया द्वारा अधिक करते हैं।

इस तरह हम देखते है कि अधिक सृजनात्मक चिंतन करने वाले व्यक्ति को उनके शीलगुणों के आधार पर समझा जा सकता है। अब आप स्वयं ही निर्णय कर सकते हैं कि क्या आप भी एक सृजनात्मक विचारक है।

11.4 सामानान्तर चिंतन

सामानान्तर चिंतन एक ऐसी प्रक्रिया है जहाँ व्यक्ति या समूह का ध्यान केन्द्र विशिष्ट दिशाओं में विभाजित होता है। कोई समूह इसका प्रयोग विरोधात्मक परिणामों से बचने के लिए करता है। किसी भी विरोधात्मक बहस में उद्देश्य को सही या गलत ठहराने वाला बयान पार्टियों (सामान्यतः) द्वारा दिया जाता है। सामान्यतः इसे दृष्टिकोण भी कहा जाता है। चिकित्सक कई बार मरीज के बारे में एक साथ विभिन्न तरीके से कई बयान देते हैं। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति या समूह ज्ञान, तथ्यों, भावनाओं आदि का एक साथ योगदान कर सकता है। इसमें यह बहुत जरूरी है कि इस प्रक्रिया को अनुशासित ढंग से किया जाये और सभी प्रतिभागी एक साथ एवं सामानान्तर योगदान के साथ भागीदारी करें। इस प्रकार प्रत्येक प्रतिभागी गम्भीरता के साथ विशिष्ट रास्ते पर रहेगा।

11.4.1 सामानान्तर चिंतन की क्रान्तिकारी प्रक्रति-

हमारी पारम्परिक चिंतन के तरीके आज की तेजी से बदलती दुनिया के लिये पर्याप्त नहीं रह गये हैं। हमने तर्क व विश्लेषण के लिए कई उतकृष्ट चिंतन उपकरण विकसित किये हैं। हमारे सूचना एवं तकनीक के तरीकों में लगातार सुधार हो रहा है किन्तु हमने अपनी रोजमर्रा की साधारण चिंतन के तरीकों में परिवर्तन लाने के लिए भी कई उपकरण विकसित किये हैं, जैसे ज्यादा से ज्यादा लोगों के साथ बातचीत तथा बैठकें करके अपनी चिंतन को सही तथा निश्चित दिशा देकर निर्णय लेना। वास्तव में हमारी पारम्परिक चिंतन के तरीके सदियों से नहीं बदले हैं हम वही करते हैं जो अपने परिवारों में पीढ़ियों से होता आ रहा है। पीढ़ियों से चली आ रही परम्पराएँ बदलने में हम कई बार चिंतन करते हैं तथा कई बार हम चाह कर भी नहीं बदल पाते हैं जबकि ये तरीके एक अपेक्षाकृत स्थिर दुनिया (जहाँ विचार, अवधारणायें मनुष्य से अधिक समय तक जीवित रहती हैं) से निबटने के लिए पर्याप्त थे। परन्तु आज की तेजी से बदलती दुनिया के लिये यह पर्याप्त नहीं है एवं नई अवधारणाओं एवं विचारों की तत्काल आवश्यकता है।

11.4.2 सामानान्तर चिंतन की विशेषताएँ-

''सामानान्तर चिंतन'' शब्द सर्वप्रथम मैंने एक पुस्तक में पढ़ा था। सामान्तर चिंतन को सर्वश्रेष्ठ पारम्परिक तर्क तथा विरोधात्मक चिंतन के युग्म के रूप में समझा जाता था। पारम्परिक तर्क तथा विरोधात्मक चिंतन अलग-अलग तथा एक दूसरे के विपरीत होते हैं फिर एक दूसरे पर हमला करते हैं प्रत्येक पक्ष दूसरे पक्ष को गलत साबित करना चाहता है। इस प्रकार का चिंतन 2400 साल पहले यूनानी विद्वानों (सुकरात, प्लेटो, अरस्तु) द्वारा स्थापित किया गया थी। विरोधात्मक चिंतन में पूरी तरह से रचनात्मकता तथा योजनात्मक तत्व का अभाव होता है। इस चिंतन का उपयोग केवल सच की खोज करने के लिए था न कि कुछ निर्माण के लिए। सामानान्तर चिंतन के अन्तर्गत दोनों

दल (सभी दल) एक ही दिशा में सामानान्तर चिंतन करते हैं। उनमें सहयोग तथा एक साथ चलने का चिंतन होता है। किसी स्थिति का पूर्ण ज्ञान होने पर चिंतन की दिशा को परिवर्तित किया जा सकता है, परन्तु हर समय हर विचारक अन्य विचारकों के सामानान्तर ही चिंतन करता रहता है उनमें ऐसा कोई विचार या कथन नहीं होता है जो वास्तव में विरोधाभासी हो। सामानान्तर चिंतन की प्रक्रिया का एक सरल वह व्यवहारिक रास्ता छः टोपी विधि है जिसका अब दुनिया में व्यापक रूप से इस्तेमाल किया जा रहा है क्योंकि यह चिंतन तथा चिंतन करने की गति को बढ़ाता है तथा यह पारम्परिक तथा रुढ़िवादी तर्क तथा चिंतन से अधिक रचनात्मक है।

11.4.3 छः चिंतन टोपी-

छः चिंतन टोपी एक सरल प्रभावी सामानान्तर चिंतन प्रक्रिया है जो लोगों को और अधिक कार्यशील, केन्द्रित और बुद्धिमान बनाने में मदद करती है तथा इस प्रक्रिया को एक बार सीख कर तुरन्त लागू किया जा सकता है। आप और आपकी टीम के सदस्य सीख सकते हैं ही कि चिंतन को किस प्रकार 6 अलग-अलग कार्य तथा रूप में बाँटा जा सकता है। प्रत्येक चिंतन भूमिका के लिए एक विशेष तथा प्रतीकात्मक रंग की ‘चिंतन टोपी’ है। मानसिक रूप से यह टोपियां धारण करके आप आसानी से ध्यान, विचार, वार्तालाप या बैठक को निर्देशित कर सकते हैं।

छः चिंतन टोपियां निम्न प्रकार से हैं:-

1) सफेद टोपी: सफेद टोपी को तथ्यों की सूचना एवं जानकारी के लिये जाना जाता है।
2) पीली टोपी: पीली टोपी चमक तथा आशा का प्रतीक है। इस टोपी के अन्तर्गत आप आशावादी चिंतन रखते हैं तथा मूल्यों और लाभ की जाँच करते हैं।
3) काली टोपी: काली टोपी निर्णय का प्रतीक है। इसमें परेशानियों तथा खतरों का ज्ञान करते हैं। जहाँ चीजें गलत दिशा में भी जा सकती हैं। सम्भवतः यह सबसे शक्तिशाली और उपयोगी टोपी होती है। किन्तु इसका अधिक उपयोग करने से यह चिंतन की प्रक्रिया में समस्या भी उत्पन्नकर सकती है जिससे समाधान तक पहुँचने में ज्यादा समय लगता है।
4) लाल टोपी: लाल टोपी भावनाओं तथा पूर्वज्ञान का प्रतीक है। इस टोपी का उपयोग करके आप संवेगों, भावनाओं का प्रदर्शन कर सकते हैं तथा डर, पसन्द-नापसंद, प्यार-नफरत आदि को व्यक्त कर सकते हैं।
5) हरी टोपी: हरी टोपी रचनात्मकता, सम्भावनाओं, विकल्प और नये विचारों पर केन्द्रित है। यह नये विचारों तथा नयी धारणाओं को व्यक्त करने का अवसर प्रदान करती है।
6) नीली टोपी: नीली टोपी का प्रयोग चिंतन की प्रक्रिया का प्रबन्धन करने के लिए किया जाता है। यह एक ऐसी नियन्त्रित प्रणाली है जिसके द्वारा सम्पूर्ण 6 चिंतन टोपी के दिशा-निर्देशों का निरीक्षण किया जाता है।

इस पूरे सामूहिक मानसिक उपकरण (छः चिंतन टोपी) में साधारण तथा अत्यधिक प्रभावी टीमों के बीच, एक साथ काम करने तथा अपनी क्षमताओं को उपयोग करने में ज्यादा अन्तर नहीं होता है। छः चिंतन टोपियाँ वास्तव में किसी टीम को चिंतन करने की पूरी प्रक्रिया में मदद करती है। जब यह किसी बैठक में बैठक प्रबन्धन में उपयोग की जाती है तो यह व्यक्तियों को आपस में बात करने के लिए एक अनुशासित तथा केन्द्रित प्रक्रिया देती है। इस पूरी प्रक्रिया में सम्भवतः सबसे महत्वपूर्ण यह है कि व्यक्ति मुद्दे के सभी पक्षों को ध्यानपूर्वक देखे। कर्मचारी इस विधि को पसन्द करते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि छः चिंतन टोपी विधि व्यक्ति के चिंतन करने की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण योगदान करती है।

11.5 सारांश

- सृजनात्मक चिन्तन एक ऐसी प्रकिया है जिसमें व्यक्ति कुछ नये विचारों या तथ्यों को पैदा करके समास्या समाधान करने की कोशिश करता है|
- सृजनात्मक चिन्तन के दो स्वरूप है 1. अभिसारी चिन्तन 2. अपसरण चिन्तन
- सृजनात्मक चिन्तन की विशेषताओं का उल्लेख किया है|
- सृजनात्मक चिन्तन की चार प्रमुख अवस्थाएँ होती है 1. आयोजन 2. उदभवन 3. प्रबोधन 4. प्रमाणीकरण या सम्बोधन|
- सृजनात्मक विचारक के कुछ गुण होते है ऐसे छः गुणों का वर्णन किया है :-

1.बुद्वि 2. स्वतंत्रता, 3. हास्यभाव, 4. नवीनता तथा जटिलता में रूचि, 5. स्वग्रही तथा प्रबल, 6. दमन का कम से कम प्रयोग

11.6 शब्दावली

- **सामानान्तर चिन्तन:** सामानान्तर चिंतन एक ऐसी प्रक्रिया है जहाँ व्यक्ति या समूह का ध्यान केन्द्र विशिष्ट दिशाओं में विभाजित होता है।
- **अभिसारी चिन्तन:** अभिसारी चिन्तन में व्यक्ति दिये गये तथ्यो के आधार पर किसी सही निष्कर्ष पर पहुँचने की कोशिश करता है।
- **सृजनात्मक चिन्तन:** एक ऐसी प्रक्रिया है जो लक्ष्य निर्देशित होती है।

11.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) स्वली चिन्तन क्या है ?
2) सार्थक ज्ञान तथा सृजनात्मक चिन्तन में क्या संबंध है ?
3) सृजनात्मक चिन्तन की कौन सी अवस्था में समस्या का समाधान मिलता है?

4) सामानान्तर चिंतन में किन दो तथ्यों का युग्म होता है ?
5) समस्त छः चिंतन टोपियाँ किस रंग की टोपी के अन्तर्गत निर्देशित होती हैं ?
6) निर्णय टोपी कौन सी कहलाती है ?

उत्तर: 1) कल्पना तथा सपने आदि में समस्या का समाधान ढूंढना स्वली चिन्तन कहलाता है

2) सार्थक ज्ञान जितना अधिक होगा सृजनात्मक चिन्तन की क्षमता उतनी ही अधिक होगी

3) प्रबोधन 4) पारम्परिक तर्क तथा विरोघात्मक चिंतन

5) नीली टोपी 6) काली टोपी

11.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान: डा0 अरूण कुमार सिंह, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास
- इन्टरनेट

11.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सृजनात्मक चिन्तन की विशेषताओ का वर्णन कीजिए |
2. सृजनात्मक चिन्तन की छः टोपी प्रकिया समझाइये |
3. सृजनात्मक चिन्तन की अवस्थाओं की व्याख्या करिए |
4. टिप्पणी:
    i. अभिसारी तथा अपसरण चिन्तन
    ii. सृजनात्मक चिन्तन की अवस्थाएँ
    iii. प्रबोधन
    iv. सामानान्तर चिंतन की क्रान्तिकारी प्रवष्टि

इकाई-12 समस्या समाधान उपागम तथा समस्या समाधान के चरण

12.1 प्रस्तावना
12.2 उद्देश्य
12.3 समस्या समाधान के उपागम
12.3.1 समस्या समाधान की प्रकृति
12.3.2 समस्या समाधान के निर्धारक तत्व
12.3.3 समस्या समाधान की अवस्थाएँ
12.4 समस्या समाधान व्यवहार के चरण
12.5 सारांश
12.6 शब्दावली
12.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
12.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
12.9 निबन्धात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

समस्या समाधान व्यवहार एक उच्च संज्ञात्मक मानसिक प्रक्रिया है। इसका प्रादुर्भाव उस समय होता है जब किसी प्राणी के समक्ष ऐसी समस्या होती है जिसका तत्काल समाधान सम्भव नहीं हो पाता या वह लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है, परन्तु बाधाएँ अवरोध उत्पन्न करती है, अर्थात समस्या समाधान व्यवहार के प्रदर्शित होने के लिए प्राणी या व्यक्ति के समक्ष ऐसी परिस्थिती होनी चाहिए जिसमें वह अपने पूर्वानुभवों या स्मृतियों के उपयोग के आधार पर समायोजन स्थापित करने या लक्ष्य प्राप्त करने में असफल हो और अपेक्षित लक्ष्य कि प्राप्ति के लिए नवीन और प्रांसगिक व्यवहार करना अपरिहार्य हो। इसमें प्राणी किसी न किसी प्रेरक या अन्तर्नोद द्वारा प्रेरित होता है। इस इकाई में हम समस्या समाधान की प्रकृति, उसके निर्धारक तत्वों, समस्या समाधान की अवस्थाओं तथा समस्या समाधान के चरणों की चर्चा करेगें।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई को पड़ने के बाद हम इस योग्य हो सकेगें कि निम्नलिखित बिन्दुओं पर चर्चा कर सके।

- समस्या समाधान की प्रकृति को विस्तारपूर्वक समझाने में सक्षम होगें।
- समस्या समाधान के निर्धारित तत्वों पर प्रकाश डाल सकेगें।
- समस्या समाधान की अवस्थाओं पर चर्चा कर सकेगें।
- समस्या समाधान के सोपानों की व्याख्या कर सकेगें।

12.3 समस्या समाधान के उपागम

जब प्राणी पूर्वानुभवों एवं स्मृतियों के उपयोग के बावजूद किसी परिस्थिती में सफल नहीं हो पाता है या पूर्व कि अनुक्रियाओं से सफलता नहीं मिलती है तो परिस्थिती प्राणी के लिए समस्या बन जाती है अर्थात जब किसी समस्या या कार्य को करने के लिए प्राणी के पास पूर्वनिश्चित उत्तर या हल नहीं होता है। तो वह समस्या या कार्य प्राणी के लिए समस्यात्मक रूप धारण कर लेता है।

एण्ड्रियाज(1960) के अनुसार कोई परिस्थिति किसी प्राणी के लिए समस्यात्म्क रूप निम्नवत धारण करती है।

(1) प्राणी के समक्ष किसी लक्ष्य का होना तथा पूर्वानिश्चित समाधान का आभाव।
(2) समाधान के लिए विभिन्न प्रकार के संकेतो का उपलब्ध होना।
(3) विभिन्न प्रबलता वाली अनुक्रियाओं का एक-एक करके उपयोग करना।
(4) अनुक्रियाओं के सही या गलत के होने की सूचना।

12.3.1 समस्या समाधान की प्रकृति-

समस्या समाधान की प्रकृति समझने के लिए आवश्यक है कि पहले समस्या का अर्थ, फिर समस्या समाधान का अर्थ, अन्त में समस्यात्मक स्थिति को समझा जाये। समस्या वह स्थिति होती है जिसमें व्यक्ति अपने लक्ष्य को तो जानता है लेकिन उसकी लक्ष्य प्राप्ति का मार्ग क्या है वह उसे ज्ञात नहीं होता है। जब प्राणी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अभिप्रेरित होता है वस्तु लक्ष्य प्राप्ति के प्राथमिक प्रयास में असफल हो जाता है तो इस अवस्था में उस प्राणी के लिए समस्या उत्पन्न हो जाती है। उद्दीपक परिस्थिति और अनुक्रिया में सही सम्बन्ध स्थापित करना समस्या समाधान कहा जाता है। अर्थात समस्यात्मक परिस्थिति में नवीन एवं सही अनुक्रिया करके लक्ष्य प्राप्त करना समस्या समाधान व्यवहार कहा जाता है।।

सैन्ट्राक (2005) के अनुसार ''जब लक्ष्य के मार्ग में व्यवधान होता है, तो उसे उचित उपाय द्वारा प्राप्त करना समस्या समाधान कहा जाता है।''

बैरन (2001) के अनुसार ''अपेक्षित लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु विभिन्न अनुक्रियाओं को विकसित करना या उन में से किसी का चयन करना समस्या समाधान है।''

गैलोटी (1999) के अनुसार ''यह एक संज्ञानात्मक प्रक्रिया है जिसमें प्रारम्भिक सूचनाँए लक्ष्य प्राप्ति हेतु रूपान्तिरित हो जाती है इस हेतु समाधान के विशिष्ट उपाय प्रर्युक्त किये जाते है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि समस्या व्यवहार उस समय प्रदर्शित होता है जब हम अपने अनुभवों के आधार पर किसी समस्या का समाधान नहीं कर पाते है। ऐसी दशा में हमें लक्ष्य तक पहुचँने के लिए कुछ अन्य उपाय करने पड़ते है।

जानसन (1972) के अनुसार, इस व्यवहार में निम्नांकित विशेषताएँ पायी जाती हैः-

1) जब जीव समस्या परिस्थिति में आता है तो उसका व्यवहार लक्ष्योन्मुख हो उठता है तथा लक्ष्य प्राप्ति तक व्यवहार में निरन्तरता बनी रहती है।
2) लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्राणी अनेक प्रकार की क्रियाएँ करता है।
3) समस्या समाधान व्यवाहर में वैयक्तिक भिन्नताए प्रदर्शित होती है।
4) प्रारम्भिक प्रयासों में समय अधिक लगता है परन्तु धीरे-धीरें समय में कमी आती है।
5) समस्या समाधान के व्यवहार में प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व का महत्व होता है, अर्थात समस्या समाधान चिन्तन का एक विशिष्ट रूप है।
6) लक्ष्य प्राप्त होने पर प्राणी समान्य अवस्था में आ जाता है। और लक्ष्य के प्रति होने वाली अनुक्रिया बंद हो जाती है। समस्यात्मक स्थिति उस समय उत्पन्न होती है। जब व्यक्ति किसी लक्ष्य तक पहुचँने का प्रयास करता है परन्तु उसे प्रारम्भिक प्रयासों में सफलता प्राप्त नहीं होती है।

एण्ड्रियाज (1960) ने समस्यात्मक स्थिति के पांच घटको का वर्णन किया है।

(1) समस्यात्मक स्थिति में जीव के सामने निश्चित रूप से एक अथवा अधिक लक्ष्य होते है।
(2) समस्यात्मक स्थिति में जीव को विभिन्न प्रकार के उद्दीपक प्राप्त होते है।
(3) समस्यात्मक स्थिति में जीव विभिन्न प्रकार की अनुक्रियाएँ समाधान हेतु करते है।
(4) समस्या स्थिति में जीव की विभिन्न प्रकार की अनुक्रियाये विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं से अनुबन्धित होती है यह अनुबन्ध गत अनुभवो के आधार पर स्थापित होता है।

(5) समस्यात्मक स्थिति में जीव सही अनुक्रिया कर रहा है या गलत अनुक्रिया कर रहा है इनका अनुभव जीव को हो जाता है। मार्गरेट मैटलिन (1983) ने समस्यात्मक स्थिति के तीन पक्षों का वर्णन किया है।

i. मूल स्थितिः- समस्या की यह पहली अवस्था है इस अवस्था में व्यक्ति को यह ज्ञात नहीं होता है कि समस्या के लक्ष्य तक पहुँचने का साधन और मार्ग क्या है।

ii. नियम स्थितिः- यह समस्या की वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति नियमों का उपयोग करके उनके अनुसार क्रिया करके लक्ष्य प्राप्त करना चाहता है।

iii. लक्ष्य स्थितिः- यह समसया की वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति को लक्ष्य प्राप्त हो जाता है अथवा समस्या का समाधन हो जाता है।

12.3.2 समस्या समाधान के निर्धारक तत्व-

समस्या समाधान को प्रभावित करने वाली सभी कारक मुख्यत: तीन प्रकार के होते है। समस्यात्मक, समाधान की विशेषताएँ तथा समाधानकर्ता की विशेषताएँ। इन कारकों से सम्बन्धित कुछ प्रमुख कारक है।

(1) समस्यात्मक स्थिति की विशेषताएँ:- समस्यात्मक स्थिति से सम्बन्धित तीन कारक है जो समस्या समाधान को प्रभावित करते है।

(i) **समस्या का आकार:-** समस्या समाधान व्यवहार पर समस्या के आकार का स्पष्ट प्रभाव पढता है समस्या का आकार जितना बड़ा होता है, समाधान में प्रयोज्य को उतना ही अधिक समय लगता है।

(ii) **समस्या स्थिति का संगठन:-** यह देखा गया है कि समस्या स्थिति का संगठन सभी समस्या को प्रभावित करता है| डेमोनौस्की (1966) तथा हार्न (1962) ने अपने अध्ययनों में देखा कि असंगठित ऐनाग्राम्स की अपेक्षा सुसंगठित ऐनाग्राम्स को हल करने में प्रयोज्य ज्यादा समय लगाते है।

(iii) **समस्या और समाधान परिस्थतियों में समानता:-** ऐसे निष्कर्ष पाये गये है कि यदि समस्या की परिस्थिति और उसे पुर्नसंगठित करके हल निकलने के बाद की परिस्थिति एक जैसी है तो ऐसी दशाओं में समाधान प्रस्तुत करने में समय कम लगता है। परन्तु यदि दोनो परिस्थितियाँ काफी भिन्न होती है तो समाधान प्रस्तुत करने में समय अधिक लगता है।

डामिनास्की(1966) ने एनाग्राम्स में अक्षरों के स्थान परिवर्तन के प्रभाव का अध्ययन किया है। इस अध्ययन में एनाग्राम्स में एक, दो तीन अक्षर परिवर्तित करके दिये गये और देखा गया की निर्धारित समय 3 मिनट में एक अक्षर परिवर्तन की दशा में समाधान सार्वधिक पाया गया।

इससे स्पष्ट है कि समस्या-परिस्थिति और समाधान परिस्थिति में समानता होने पर समाधान में समय कम लगता है।

(2) समाधान की विशेषताएँ:- समस्या समाधान को प्रभावित करने वाले दूसरे प्रकार के कारक समाधान की विशेषताओं से सम्बन्धित है इनमें से प्रमुख कारक निम्न प्रकार से है।

(i) समाधान की जटिलता:- अनेक प्रयोगात्मक अध्ययनों में देखा गया है कि समस्या समाधान जितना ही जटिल होता हे समस्या का समाधान करने में प्रयोज्य को उतना ही समय लगता है।

(ii) समाधान के पदों की समस्या:- समस्या के समाधान के चरणों से प्रयोज्य जितना ही अधिक परिचित होता है समस्या समाधान में उतनी ही अधिक सरलता होती है और समय भी उतना ही कम लगता है जैसे-जिन एनाग्राम्स से परिचित और लोकप्रिय शब्द बनते है उनके शब्दों को प्रयोज्य सरलता से ही नहीं बल्कि कम समय में भी बना लेता है।

कुछ अध्ययनों का निष्कर्ष है कि जिन प्रशिक्षण विधियों से समाधान का परिचय बढ़ता है उनका समाधान पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है (डेकिस एवं मास्को, 1968 डामिनास्की एवं एक्सट्रैण्ड, 1967 डिवस्टा एवं वाल्स 1967)

(3) समाधानकर्ता की विशेषताएँ:- समस्या समाधान को प्रभावित करने वाले तीसरे प्रकार के कारक समाधानकर्ता की विशेषताओं से सम्बन्धित होते है। इस प्रकार के कुछ प्रमुख कारक इस प्रकार से हैः-

(i) **अभिप्रेरणा सम्बन्धी कारक:-** अनेक अध्ययनो को देखा गया है कि समस्या समाधान के लिए अभिप्रेरणा एक आवश्यक और महत्वपूर्ण कारक है। अभिप्रेरणा का जब तक एक अभिष्ट स्तर नहीं होता है तब तक समस्या समाधान सम्बन्धी निष्पादन कमजोर होता है चिन्ता को एक अभिप्रेरणात्मक वृत्ति माना गया है। एक अध्ययन रोसेल तथा सारसन, 1965 में देखा गया है कि अधिक चिन्तित व्यक्ति से उसके समस्या का समाधान में त्रुटिया ही नहीं बल्कि उनका निष्पादन भी दुर्बल रहा। कुछ अध्ययन में यह देखा गया है कि जब समस्या से सम्बन्धित एक कार्य में प्रयोज्य असफल हो जाते है तो प्रयोज्य का निष्पादन दूसरी समस्याओं के समाधान में निम्न स्तर का हो जाता है।

(ii) **बुद्धि का प्रभाव:-** कुछ प्रयोगों से यह निष्कर्ष पाप्त हुआ है कि प्रयोज्य की मानसिक क्षमता की समाधान व्यवहार को प्रभावित करती है। परन्तु समस्या समाधान की अवस्था में बुद्धि तथा कुछ अन्य योग्ताओं एवं समाधान व्यवहार में धनात्मक संबध नहीं पाया गया। वर्क एवं माया (1965) के अनुसार सूझपूर्ण समाधान सम्भवतः ऐसे विशिष्ट व्यवहार पर निर्भर करता है जो बुद्धि के प्रचलित मापों से निर्धारित नहीं किया जा सकता है।

(iii) **पूर्व-अनुभव और अभ्यास:-** विभिन्न प्रयोगात्मक अध्ययनों में यह देखा गया हे कि प्रयोज्य को समस्या समाधान के सम्बन्ध में जितना अधिक पूर्व अनुभव व अभ्यास होता है उसके लिय समस्या समाधान उतना ही सरल होता है और समय भी कम लगता है। टेलर (1952), डेकिस (1967) ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह स्थिर किया कि पूर्व अनुभव समस्या समाधान का एक महत्वपूर्ण एवं सार्थक कारण हैं|

(iv) **विन्यास का प्रभाव:-** समस्या समाधान पर विन्यास का स्पष्ट रूप से प्रभाव पड़ता है। समस्या समाधान में इस कारक का प्रभाव ज्ञात करने के लिए वचिक निर्देषों द्वारा या एक ही प्रकार के कार्य कुछ समय तक करा कर पहले विन्यास उत्पन्न किया जाता है तत्पष्चात् अन्य कार्य करने के लिए दिये जाते है प्रयोज्य नवीन या आगामी कार्य को भी पूर्व अनुभव के ही आधार पर करना चाहता है। यदि वर्तमान कार्य पूर्व करने के अनुरूप में है तो समाधान षीघ्र प्राप्त हो जाता है। अन्यथा प्रत्येक कठिनाई में पड़ जाता है और समाधान हेतु दूसरी प्रक्रिया का चयन करने में समय अधिक लग जाता है।

एक प्रयोग में एक निश्चित प्रक्रिया के आधार पर एनाग्राम्स का समाधान कराने के बाद प्रस्तुत एनाग्राम्स के समाधान पर पूर्वस्थापित क्यिास का स्पष्ट प्रभाव पाया गया है (माल्ट्जमैन एवं मारीसट्ट 1953)। इस प्रयोग में प्रयोज्य ने बाद के एनाग्राम्स का समाधान उसी तरह करना चाहा जिस तरह वे उसके पूर्व के एनाग्राम्स को हल किए थे। इसलिए, इस प्रवृति को प्रकार्यत्मक स्थिरता कहा गया है।

12.3.3 समस्या समाधान की अवस्थाएँ-

समस्या समाधान के अर्न्तगत समस्या समाधान की अवस्थाओं का वर्णन आवश्यक है। सरल समस्याओं का समाधान जल्दी होता है और कठिन समस्याओं में समय अथिक लगता है।

समस्या समाधान में कितनी अवस्थाए होती है इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों के अलग-अलग मत है। पहले के मनोवैज्ञानिकों के अनुसार समस्या समाधान की निम्न अवस्थाँए होती है।

(1) तैयारी:- समस्या समाधान की पहली अवस्था तैयारी है। समस्या समाधान से सम्बन्धित तैयारी में वह समस्या से सबधित सूचनाओं को एकत्रित करता है और समस्या समाधान के प्राथमिक प्रयास करता है।

(2) उद्भवन काल:- यह दूसरी अवस्था है, यह तब प्रारम्भ होती है जब व्यक्ति प्राथमिक रूप से समस्या को हल करने में असफल हो जाता है। इस अवस्था में वह अपनी असफलता के कारण खोजाता है और समस्या समाधान पर अनेक प्रकार से ध्यान लगाता है।

(3) प्रदीप्तन:- यह समस्या समाधान की तीसरी अवस्था है। इस समस्या से सम्बन्धित अन्तर्दृष्टि भी कह सकते है। यह समस्या समाधान की वह अवस्था है कि जिसमें समस्या समाधानकर्ता को यह समझ आजाता है कि समस्या समाधान क्या है।

(4) सत्यापन:- समस्या समाधान की यह अन्तिम अवस्था है जिसमें व्यक्ति समस्या का समाधान अपनी अन्तर्दृष्टि के अनुसार क्रियान्वित करता है। आधुनिक युग में समस्या समाधान की निम्न प्रमुख अवस्थांए बतायी गयी है।

(i) समस्या का प्रत्यक्षपरक प्रतिनिधित्व:- समस्या का समाधन करते समय समस्या का प्रत्यक्षीकरण एक अति महत्वपूर्ण समस्या समाधान की अवस्था है। व्यक्ति जब तक समस्या के विभिन्न पक्षों का प्रत्यक्षीकरण नहीं करेगा तब तक समस्या समाधान नहीं हो सकता। समस्या से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों का प्रत्यक्षीकरण ही आवश्यक नहीं है बल्कि समस्या समाधान में यह प्रत्यक्षीकरण तभी सहायक होगा जब यह प्रत्यक्षीकरण समस्या का प्रतिनिधिक करता हुआ होगा। यदि आप प्रत्यक्षीकरण प्रतिनिधित्वपूर्ण न होकर त्रुटिपूर्ण है तो समस्या समाधान कठिन हो जाता है।

(ii) परिकल्पना एवं कार्यन्वयन:- प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में आये दिन समस्याओं का समाधान करता है। जीवन की यह समस्याँए गणितीय प्रकार की नहीं होती है। बहुधा इन समस्याओं के समाधान में यांत्रिक नियम लागू नहीं होते है। इन समस्याओं के समाधान के लिए व्यक्ति अनेक प्रकार की रणनीतियों का प्रयोग करता है। कभी-कभी वह अंगूठा छाप नियमों के आधार पर भी समस्या का समाधान करता है। और कभी वह सादृष्य रणनीतियों, खोज रणनीतियों, अन्वेषणात्मक रणनीतियों का उपयोग करता है।

(iii) समाधान का मूल्यांकन:- समस्या समाधान का यदि अवलोकन किया जाये तो किसी समस्या के समाधान के अनेक विकल्प हो सकते है। समस्या समाधान करते समय जब समस्या के कई विकल्प होते है तब व्यक्ति समस्या समाधान के इन विकल्पों का मूल्यांकन भी करता है। मूल्यांकन करते समय वह समस्या को कम समय, कम व्यय और कम परेशानी के साथ समाधान वाले उपायों को वह समस्या समाधान के लिए चुनता है।

समस्या समाधान का मूल्यांकन करते समय तब अधिक सरतता होती है जब समस्या सुपरिभाषित होती है। सुपरिभाषित समस्याँए वह होती है जिनका समाधान तार्किक आधार पर जांचा जा सकता है। दूसरे प्रकार की समस्या कुपरिभाषित समस्याँए होती है जिनके समाधान की जांच तार्किक आधार पर नहीं हो सकती है (राइटमैन 1964) जीवन की बहुत सी समस्यांए सुपरिभाषित ना होकर कुपरिभाषित प्रकार की होती है। कुपरिभाषित समस्याओं के अनेक समाधान हो सकते है। लेकिन सुपरिभाषित समस्याओं के समाधान के अनेक विकल्प नहीं हो सकते है दूसरी ओर सुपरिभाषित समस्याओं का समाधान वस्तुनिष्ठ ढंग से संभव है।

12.4 समस्या समाधान व्यवहार के चरण

अनेक विद्वानों ने समस्या समाधान के चरणों को सूचीबद्व करने का प्रयास किया है फिर भी कोई सर्वमान्य राय नहीं बन पायी है। बैस (2001) तथा सैण्ट्राक (2005) ने निम्नलिखित चरणों का उल्लेख किया हे जो सुस्पष्ट व तार्किक है।

(1) समस्या की पहचान करना:- यह समस्या समाधान का प्रथम चरण है। इसका आशय यह है कि सर्वप्रथम हमें समस्या को जानने समझने का प्रयास करना पड़ता है ताकि समस्या संबधी विभिन्न पक्षो का चित्र मस्तिष्क में बन जाये। जैसे:- मान ले कि आप की गाड़ी स्टार्ट नहीं हो रही है, आप परेशान है तो अपको सोचना पडेगा कि कारण क्या है तेल है या नहीं बैटरी तो खत्म नहीं हो गयी। इंजन खराब तो नहीं है। इस पक्षों को समझे बिना समाधान संभव नहीं होगा।

(2) उपयुक्त समाधन उत्पन्न करना:- यह वह चरण है, जिसमें समस्या समाधान हेतु विकल्प तय किये जाते है। यह चरण साधारण प्रतीत हो सकता है परन्तु वास्तव में काफी जटिल है। कभी भी संभावित समाधान षून्य में पैदा नहीं होता है। इसके लिए गम्भीर चिन्तर मनन की आवश्यकता पड़ती है दीर्घकालीन स्मृति भण्डार में भण्डारित सूचनाओं का उपयोग करके समाधानों के विकल्प चुने जाते है। व्यक्ति का अनुभव तथा स्मृति भण्डार जितना अधिक विस्तृत होता है, समाधान के विकल्पों की संभावना भी उतनी ही अधिक होगी। संभावित विकल्पों की अधिकाधिक संख्या चुनना समाधन के लिए अत्यधिक उपयोगी होगा।

(3) समाधानों का मूल्यांकन:- समस्या के समाधान के लिये मास्तिष्क में जो उपाय विकसित होते है उनका मूल्यांकन आवश्यक होता है जैसे- समाधान के विकल्प से क्या लक्ष्य प्राप्त हो जायेगा। क्या उसको प्रयुक्त करने में कोई बाधा है। क्या उसके कुछ प्रतिकूल परिणाम तो नहीं संभावित है। इन सभी पक्षों पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

(4) समाधानों का उपयोग करना:- यह समस्या समाधान व्यवहार का अन्तिम चरण है। इस चरण में प्रयोज्य विकल्पो का उपयोग करके लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करता है। ताकि यह तय हो सके की जो विचार मन में उत्पन्न हुआ वह सफल है या नहीं। जब तक विकल्पों की उपयोगिता की जाँच नहीं कर ली जाती है तब तक उनकी प्रभाविकता के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। जो उपाय मन में आया है यदि उससे सफलता हासिल हो जाती है तो उसे सफल उपाय माना जायेगा यदि उससे समस्या का समाधान नहीं होता है, तो समस्या के समाधान के लिए फिर से चिन्तन होगा।

12.5 सारांश

- समस्या समाधान एक महत्वपूर्ण संज्ञानात्मक क्रिया है। समस्या समाधान एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति एक दी हुई समस्या की मौखिक अवस्था से लक्ष्य अवस्था तक पहुँचने की

कोशिश करता है।

- समस्या समाधान की प्रकृति के तीन पहलू होते हैं।

(1) समस्या (2) समाधान (3) समस्यात्मक स्थिति की प्रकृति समस्यात्मक स्थिति के तीन पहलू हैं:

(i) मूल स्थिति (ii) नियम स्थिति (iii) लक्ष्य स्थिति

- मूल अवस्था में व्यक्ति समस्या का सामना करता है, लक्ष्य अवस्था वह अवस्था होती है जहाँ पहुँचना सामान्यतः कठिन होता है परन्तु व्यक्ति वहाँ पहुँचना चाहता है। नियम से तात्पर्य वैसे उपायों से होता है जिसे व्यक्ति मौखिक तथा लक्ष्य के बीच में लक्ष्य अवस्था तक पहुँचने में अपनाता है।
- समस्या समाधान के तीन निर्धारक तत्व होते हैं।

(1) समस्यात्मक स्थिति की विशेषताएँ (2) समाधान की विशेषताएँ (3) समाधानकर्ता की विशेषताएँ

- समस्या समाधान की अवस्थाओं के बारे में मनोवैज्ञानिकों की अलग-अलग राय है। पहले के मनोवैज्ञानिको के अनुसार समस्या समाधान की निम्न अवस्था हैं:-

(1) तैयारी (2) उद्भवन काल (3) प्रदीप्तन (4) सत्यापन

- आधुनिक युग में समस्या समाधान की निम्न अवस्था है:-

(1) समस्या का प्रत्यक्षपरक प्रतिनिधित्व (2) परिकल्पना का कार्यन्वयन

(3) समाधान का मूल्यांकन

- समस्या समाधान व्यवहार के निम्नलिखित चरण बताये गये है मनोवैज्ञानिको द्वारा:-

(1) समस्या की पहचान करना (2) उपयुक्त समाधान उत्पन्न करना

(3) समाधानों का मूल्यांकन (4) समाधानों का उपयोग करना

12.6 शब्दावली

- **समस्या समाधान:** जब लक्ष्य के मार्ग में व्यवधान होता है, तो उसे उचित उपाय द्वारा प्राप्त करना समस्या समाधान कहा जाता है।
- **सत्यापन:** समस्या समाधान की यह अन्तिम अवस्था है जिसमें व्यक्ति समस्या का समाधान अपनी अन्तर्दृष्टि के अनुसार क्रियान्वित करता है।

12.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) समस्यात्मक स्थिति के तीन पक्ष कौन-कौन से है।
2) समस्या समाधान तथा चिन्तन में क्या सम्बन्ध है ?
3) एनाग्राम्स क्या है?
4) प्रकार्यात्मक स्थिरता क्या है?

उत्तर: 1) (i) मूल स्थिति (ii) नियम स्थिति (iii) लक्ष्य स्थिति ।

2) चिन्तन द्वारा समस्या का समाधान किया जाता है ।

3) निरर्थक शब्दों के जोड़ो को एनाग्रम्स कहते है ।

4) पूर्व में किये गये प्रयासो द्वारा समस्या का समाधान ढूंढना प्रकार्यत्मक स्थिरता।

12.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- आधुनिक प्रयोगात्मक मनोविज्ञान: डा0 प्रीती वर्मा एवं डा0 डी0 एन0 श्रीवास्तव, थ्वनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-2
- उच्च प्रायोगिक मनोविज्ञान: डा0 आर0 एन0 सिंह एवं डा0 एस0 एस0 भारद्वाज, अग्रवाल पब्लिकेशन्स

12.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. समस्या समाधान के विभिन्न चरणों का वर्णन करिए।
2. समस्या समाधान के निर्धारक तत्व कौन-कौन से है ?
3. समस्यात्मक स्थिति की प्रकृति के बारे में संक्षिप्त में लिखिये।
4. टिप्पणी:
    i. समस्या समाधान तथा अभिप्रेरणा
    ii. समस्या समाधान की अवस्थाएँ
    iii. समस्यात्मक स्थिति की विशेषताएँ
    iv. समस्या समाधान में मानसिक विन्यास की भूमिका

इकाई-13 अभिप्रेरणा: स्वरूप, प्रकार-जन्मजात एवं अर्जित प्रेरक, आवश्यकता, प्रणोदन एवं प्रोत्साहन, अभिप्रेरणा के सिद्धान्त

13.1 प्रस्तावना
13.2 उद्देश्य
13.3 अभिप्रेरणा या प्रेरणा का स्वरूप
13.4 आवश्यकता, प्रणोदन एवं प्रोत्साहन
13.5 प्रेरकों के प्रकार
13.5.1 जन्मजात प्रेरक
13.5.2 अर्जित प्रेरक या समाज जनित प्रेरक
13.5.2.1 सार्वजनीक अर्जित प्रेरक
13.5.2.2 वैयक्तिक मानवीय प्रेरक
13.6 अभिप्रेरणा के सिद्धान्त
13.7 सारांश
13.8 शब्दावली
13.9 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
13.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची
13.11 निबन्धात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों में आपने अधिगम, चिन्तन, समस्या समाधान, स्मरण-विस्मरण आदि संप्रत्ययों का अध्ययन किया। आपने देखा कि सीखने की क्रिया हो या समस्या समाधान की प्रक्रिया, अभिप्रेरणा के बिना इनका सम्पन्न होना मुश्किल है। इसलिए मनोवैज्ञानिकों ने अभिप्रेरणा को एक अति महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक संप्रत्यय के रूप में स्वीकार किया है।

प्रस्तुत इकाई में आप अभिप्रेरणा का स्वरूप, उसकी विशेषताएँ, अभिप्रेरकों के प्रकार आदि का अध्ययन करेंगे तथा विभिन्न प्रकार के जैविक एवं अर्जित प्रेरकों के रू-ब-रू हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त प्रेरणा के विभिन्न सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी आपका ज्ञानवर्धन हो सकेगा।

13.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इस योग्य हो जायेगे कि आप-

- अभिप्रेरणा को परिभाषित कर सकें तथा इसके स्वरूप की व्याख्या कर सकें।
- आवश्यकता, प्रणोदन तथा प्रोत्साहन में अन्तर स्थापित कर सकें।
- जैविक एवं अर्जित प्रेरकों के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख कर सकें।
- वैयक्तिक मानवीय प्रेरकों का वर्णन कर सकें तथा
- अभिप्रेरणा के विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या कर सकें।

13.3 प्रेरणा का स्वरूप

प्राणी किसी उत्तेजना के प्रति एक खास तरह की प्रतिक्रिया क्यों करता है उसका व्यवहार एक खास दिशा की ओर क्यों निर्देशित होता है तथा उसका व्यवहार निर्दिष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेने के बाद क्यों रुक जाता है, आदि प्रश्नों का उत्तर प्रेरणा के विश्लेषण से प्राप्त होता है। व्यक्ति भी अपनी आवश्यकताओं से प्रेरित होकर ही प्रतिक्रियाएँ करता है, यानी, व्यक्ति का व्यवहार भी प्रेरणात्मक स्वरूप का होता है।

प्रेरणा लैटिन के 'मोटिव,शब्द से बना है जिसका अर्थ ''गतिशील होना'' होता है। इस अर्थ में प्रेरणा व्यक्ति को कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। प्रेरणा के इस शाब्दिक अर्थ से व्यक्ति की उस आंतरिक शक्ति या अग्रसारित करने वाली ऊर्जा का बोध होता है, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति किसी उत्तेजना के प्रति खास तरह की प्रतिक्रिया करने हेतु कार्यशील होता है।

'प्रेरणा' शब्द का उपयोग विभिन्न लोगों ने अलग-अलग अर्थों में किया है। कुछ लोग प्रेरणा का तात्पर्य प्राणी या व्यक्ति को क्रियाशील करने वाली शक्तिदायक विशेषता से लगाते हैं। उनके अनुसार, प्रेरणा एक शक्ति हैं, जो किसी क्रिया को उत्पन्न करती है। व्यक्ति यह शक्ति बाह्य और आंतरिक दोनों तरह से प्राप्त करता है। कुछ लोग प्रेरणा का अर्थ प्रणोदन से लगाते हैं । प्रणोदन व्यक्ति की उस खास अवस्था को कहते हैं, जो किसी क्रिया को करने हेतु उसे अग्रसर करती है। प्रेरणा का यह अर्थ संज्ञा के रूप में है। कुछ लोग प्रेरणा का एक तीसरा अर्थ क्रिया के रूप में भी लगाते हैं। इस अर्थ में किसी क्रिया को करने के लिए बल देने वाली चीज को प्रेरणा कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेरणा शब्द का उपयोग शक्ति, व्यक्ति की एक खास अवस्था जिसे प्रणोदन कहते है तथा बल, जो किसी क्रिया को अग्रसारित करती है- इन तीन अर्थों में किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामान्य लोगों के बीच प्रेरणा के अनेक अर्थ है। किन्तु मनोविज्ञान में प्रेरणा का एक विशेष अर्थ लगाया जाता है। प्रेरणा का तात्पर्य व्यक्ति की एक ऐसी अवस्था से है, जिस अवस्था के उत्पन्न होने पर वह बेचैनी का अनुभव करता है और इस बेचैनी को दूर करने के लिए विशेष प्रकार की क्रिया करता है। व्यक्ति की यह अवस्था आंतरिक होती है क्योंकि इसकी उत्पत्ति किसी-न-किसी प्रकारकी आवश्यकता या कमी या इच्छा से होती है। व्यक्ति जब किसी तरह की आवश्यकता या कमी का अनुभव करता है या किसी प्रकार की इच्छापूर्ति चाहता है तब यह एक खास ढंग का व्यवहार यानी प्रतिक्रिया करता है। उदाहरण के लिए, भूख की अवस्था को लें। व्यक्ति में इस अवस्था की उत्पत्ति आंतरिक अवस्था में परिवर्तन के कारण होती है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप व्यक्ति बेचैनी का अनुभव करता है। इस बेचैनी को दूर करने के लिए, अर्थात् शारीरिक संतुलन स्थापित करने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है। अपनी इस आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य के व्यक्ति होटल में जाने की क्रिया करता है। व्यक्ति का यह व्यवहार खास ढंग का है, क्योंकि वह भूख लगने की अवस्था में कपड़े की दुकान, पुस्तक की दुकान या परचून की दुकान में जाने की क्रिया नहीं करता। वह केवल होटल में जाने की क्रिया करता है और वह भी ऐसे होटल में जो उसकी पंसद, इच्छा, आवश्यकता आदि के अनुकूल हो। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति का व्यवहार चयनात्मक, अर्थात् खास दिशा में निर्देशित होता है। अतएव हम कह सकते हैं कि प्रेरणात्मक व्यवहार चयनात्मक और लक्ष्य- निर्देशित होता है।

प्रेरणात्मक व्यवहार के एक और विशेषता पाई जाती है। व्यक्ति जब किसी प्रकार की आवश्यकता से अग्रसर होकर किसी क्रिया को करता है, तब उसकी वह क्रिया आवश्यकता की पूर्ति होने अथवा उद्देश्य को प्राप्त करने की अवस्था तक चलती रहती है और आवश्यकता की पूर्ति होने पर वह क्रिया समाप्त हो जाती है तथा व्यक्ति की बेचैनी भी दूर हो जाती है।

इस प्रकार, उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेरणा उस अवस्था को कहते हैं, जिस अवस्था के उत्पन्न होने पर बेचैनी का अनुभव करता है और इस बेचैनी को दूर करने के लिए उसकी शक्ति वातावरण में उपस्थित अनेक चीजों में से किसी एक खास चीज का चयन करने की ओर व्यक्ति को अग्रसारित करती है। व्यक्ति का यह चयनात्मक व्यवहार तब तक चलता रहता है, जब तककि उसकी आवश्यकता या उद्देश्य पूरी नहीं हो जाती।

प्रेरणा की परिभाषाएँ-

प्रेरणा की परिभाषा विभिन्न लोगों ने अलग-अलग ढंग से दी है। यहाँ कुछ परिभाषाएँ दी जा रही हैं -

शेरिफ, ग्लिमर एवं स्कोयन के अनुसार, ''प्रेरणा व्यक्ति के क्रिया करने की उस प्रवृत्ति को कहेंगे जो किसी प्रणोदन से आरंभ होती है तथा अभियोजन में समाप्त होती है''।

गिलफोर्ड के अनुसार ''प्रेरणा किसी खास आंतरिक कारक या अवस्था को कहते हैं जो किसी क्रिया को प्रारम्भ करती है तथा उसे जारी रखती है''।

न्यूकॉम्ब की परिभाषा-''प्रेरणा प्राणी की वह अवस्था है जिसमें उसकी शारीरिक शक्ति वातावरण में उपस्थित विभिन्न चीजों में से किसी विशेष चीज को प्राप्त करने की ओर चयनात्मक ढंग से अग्रसारित होती है''।

मार्गन एवं किंग के अनुसार, ''प्रेरणा एक सामान्य शब्द है। यह प्राणी की भीतरी अवस्था, व्यवहार एवं उस लक्ष्य की ओर इंगित करता है, जिस ओर उसका व्यवहार निर्देशित होता है।

केंडलर के अनुसार ''प्रेरणा का मनोविज्ञान कार्यशीलता उत्पन्न करने और व्यवहार को निर्देशित करने वाले परिवर्त्यों की विवेचना करता है''।

<u>प्रेरणा की विशेषताएँ-</u>

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में व्यक्ति के क्रियाशील होने की आंतरिक अवस्था को प्रेरणा कहा गया है, जिसमें निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ पाई जाती है-

1. प्रेरणा व्यक्ति की एक खास अवस्था होती है।
2. व्यक्ति की यह खास अवस्था आंतरिक होती है, जो किसी आवश्यकता, कमी या इच्छा से उत्पन्न होती है।
3. इस अवस्था के उत्पन्न होने पर व्यक्ति बेचैनी का अनुभव करता है और इस बेचैनी को दूर करने के लिए व्यक्ति क्रिया करने की ओर अग्रसरित होता है।
4. प्रेरणात्मक व्यवहार चयनात्मक स्वरूप का होता है तथा उसका व्यवहार किसी निर्धारित उद्देश्य या लक्ष्य को प्राप्त करने की ओर निर्देशित होता है।
5. व्यक्ति में उत्पन्न प्रेरणात्मक व्यवहार उद्देश्य प्राप्ति तक जारी रहता है।
6. व्यक्ति अपने उद्देश्य को प्राप्त करने की ओर ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, उसकी कार्यशीलता की तीव्रता और बेचैनी की अवस्था में कमी आती रहती है और उद्देश्य प्राप्त हो जाने पर कार्यशीलता तथा बेचैनी पूर्णतः समाप्त हो जाती है। इसे व्यवहार की पूर्णता की संज्ञा दी जा सकती है।

प्रेरकों की उपर्युक्त परिभाषाओं एवं विशेषताओं के आधार पर निष्कर्ष रूप में हम इसकी परिभाषा इस प्रकार भी दे सकते है- प्रेरक प्राणी के व्यवहारों के उन पक्षों को कहते हैं जिनके फलस्वरूप वह कार्यशील होता है तथा उसके व्यवहार लक्ष्यप्राप्ति की दिशा में अग्रसारित होते हैं।

13.4 आवश्यकता, प्रणोदन एवं प्रोत्साहन

प्रेरणा के स्वरूप की चर्चा करते समय कुछ पदो, जैसे- आवश्यकता, प्रणोदन, प्रोत्साहन आदि का व्यवहार किया गया है। इनका व्यवहार कभी-कभी एक-दूसरे के बदले में भी किया जाता है तो कभी भिनन रूप में। अतः पदों का वास्तविक स्वरूप जानलेना आवश्यक है। यहाँ इनके अर्थ को संक्षेप में स्पष्ट किया जा रहा है।

1) **आवश्यकता-** आवश्यकता से तात्पर्य व्यक्ति में आंतरिक या बाह्य कारणों से उत्पन्न अवस्था से हे, जिसकी अनुभूति अभाव के रूप में होती है। इस अनुभव को प्राप्त करने के फलस्वरूप प्राणी में या तो तत्क्षण या कुछ विलम्ब से कुछ ऐसी क्रिया करने की इच्छा होती है जो उसकी कमी या अभाव को पूरा करने में समर्थ होती है। स्पष्ट है कि ऐसी क्रिया करने से कर्ता को आनंद या सुख का अनुभव होता है। जैसे- भोजन या पानी की आवश्यकता का अनुभव शरीर में भोजन या जल की कमी होने पर होता है। इसी प्रकार काम, निद्रा, किसी संकट से बचना, ज्ञानोपार्जन आदि की आवश्यकताएँ भी किसी प्रकार के अभाव की स्थिति के घोतक होते हैं।

2) **प्रणोदन-** प्रणोदन व्यक्ति में उत्पन्न होने वाली एक अवस्था है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति क्रियाशील होता है। मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार के लिए इस अवस्था की उत्पत्ति अनिवार्य है। यह अवस्था व्यक्ति में बल प्रदान करती है, जिसके फलस्वरूप वह कोई व्यवहार करने हेतु क्रियाशील होता है। इस अवस्था के उत्पन्न होने पर व्यक्ति बेचैन रहता है, जिसे दूर करने के लिए ही वह क्रियाशील होता है। लेकिन, प्राणी के सभी व्यवहारों में इस बेचैनी को दूर करने की क्षमता नहीं रहती। अतः वह ऐसी क्रिया करने को तत्पर होता है, जिससे उसकी बेचैनी दूर हो। इस प्रकार, व्यक्ति का व्यवहार उद्देश्यपूर्ण होता है और प्रणोदन की अवस्था में उद्देश्य प्राप्त करना व्यक्ति का मुख्य ध्येय होता है।

प्रणोदन वस्तुतः प्रेरणा का एक अंग है। प्रेरक में दो चीजों का समावेश रहता है- (क) बल या शक्ति या प्रणोदन तथा (ख) व्यवहार का लक्ष्य - प्राप्ति की ओर अग्रसारित होने की प्रवृत्ति। जब किसी प्रणोदन के फलस्वरूप व्यक्ति का व्यवहार लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर होते हैं, तब ऐसे व्यवहार को ही प्रेरित व्यवहार की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार, प्रेरित व्यवहार लक्ष्य की ओर अग्रसारित होता है।

3) **प्रोत्साहन-** प्रोत्साहन वैसी वस्तुओं अथवा लक्ष्य को कहते हैं जिसकी ओर व्यक्ति का प्रेरित व्यवहार निर्देशित रहता है। इस अर्थ में प्रोत्साहन का तात्पर्य प्राणी की क्रिया को आकर्षित करने वाली या उसे किसी कार्य का प्रलोभन देने वाली वस्तु से लगाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में हम ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रोत्साहन एक ऐसी वस्तु या अवस्था है, जिससे कोई प्रणोदन समाप्त होता है। उदाहरण के लिए, भूखे व्यक्ति के लिए भोजन, प्यासे के लिए पानी, विद्यार्थी के लिए परीक्षा में ऊँचा स्थान पाना, बेरोजगारों के लिए नौकरी प्राप्त करना आदि सब प्रोत्साहन है।

प्रणोदन और प्रोत्साहन में अन्तर-

प्रणोदन एवं प्रोत्साहन में अन्तर है प्रणोदन से प्राणी की स्थाची शारीरिक अवस्था का बोध होता है, जबकि प्रोत्साहन उक्त शारीरिक अवस्था से उत्पन्न असंतुलन को दूर करने का साधन होता है। दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि कुछ प्रणोदन जन्मजात होते हैं और कुछ अर्जित, जैसे- सीखे हुए भय। परन्तु सभी प्रकार के प्रोत्साहन बाह्य वातावरण में रहते हैं तथा वे पूर्ण रूप से सीखे हुए होते हैं। इनमें एक और अन्तर यह है कि प्रणोदन अपने-आप में कोई उत्तेजना नहीं, बल्कि व्यक्ति की शारीरिक अवस्था होती है, जबकि प्रोत्साहन स्पष्टतः उत्तेजना के रूप में होते हैं।

प्रणोदन एवं प्रोत्साहन का प्रेरणात्मक व्यवहारों के साथ संबंध को बोलेस ने स्पष्ट करते हुए लिखा है- ''प्रणोदन ठेलते हैं तथा प्रोत्साहन खींचते हैं और ये दिनों व्यवहार के प्रेरणात्मक व्याख्या देने में एक-दूसरे के पूरक का काम करते हैं''

13.5 प्रेरकों के प्रकार

व्यक्ति जो कुछ भी करता है, उसके पीछे किसी-न-किसी प्रकार की प्रेरणा अवश्य रहती है। अतः व्यक्ति जितने तरह का व्यवहार करता है, प्रेरणाओं के उतने ही प्रकार होंगे। इसलिए, प्रेरणाओं के प्रकारों की सूची बनाना कठिन है। इनमें कुछ प्रेरणाएँ जन्मजात होती है तो कुछ अर्जित। जन्मजात प्रेरणाओं में प्रजातीय समानता का गुण पाया जाता है तथा वे प्राकृतिक स्वरूप की होती है। अर्जित प्रेरणाओं को व्यक्ति अपने जीवनकाल में अनुभव या अनुकरण द्वारा अर्जित करता है। ऐसी प्रेरणाएँ सामाजिक और वैयक्तिक दो तरह की होती है। सामाजिक प्रेरणाएँ सार्वजनीक होती है, अर्थात् ये प्रेरणाएँ प्रायः सभी लोगों में समान रूप से सामाजिक अनुभव के आधान पर अर्जित की जाती है। वैयक्तिक प्रेरणाएँ व्यक्ति की व्यक्तिगत आवश्यकताओं से संबद्ध रहती है।

जन्मजात एवं अर्जित दोनो वर्गों के प्रेरकों के अन्तर्गत भी अनेक प्रेरक आते हैं। प्रेरणाओं के विभिन्न प्रकारों को अग्रलिखित प्रमुख वर्गों में बाँटा जा सकता है-

13.5.1 जन्मजात प्रेरक -

जन्मजात प्रेरकों का आधार शारीरिक अवस्थाओं में परिवर्तन है। इन्हें जैविक प्रेरक भी कहते हैं। चूँकि, ये प्रेरक सभी प्राणियों में पाए जाते हैं, इसलिए इन्हें सार्वजनीक प्रेरक भी कहते हैं। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर अथवा शारीरिक रसायन के तत्वों में कभी होने की स्थिति में व्यक्ति का शारीरिक संतुलन बिगड़ जाता है और वह बेचैनी का अनुभव करने लगता है। व्यक्ति शारीरिक संतुलन की स्थिति को बनाए रखने और बेचैनी की स्थिति को दूर करने हेतु कार्यशील होता है। व्यक्ति द्वारा शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करके शारीरिक संतुलन बनाए रखने हेतु कार्यशील होने की अवस्था को कैनन ने 'होमियोस्टैसिस' की संज्ञा दी है। होमियोस्टैसिस एक जैविक आवश्यकता है। अतः जन्मजात शारीरिक प्रेरकों को जैविक प्रेरकों के नाम से भी पुकारा जाता है। जैविक प्रेरणाएँ व्यक्ति में उन क्रियाओं को उत्पन्न करती है, जिनसे उनकी शारीरिक आवश्यकताएँ संतुष्ट होती है, जो जीवन के लिए नितांत आवश्यक होती है।, जैसे- भूख, प्यास, काम, मलोत्सर्जन आदि शारीरिक आवश्यकताएँ हैं, जिनकी तृप्ति हेतु व्यक्ति भोजन करने, पानी पीने, यौन समागम, मल-मूत्र त्यागने की क्रियाएँ करता है। हालाँकि, ये प्रेरणाएँ शारीरिक है, तथापि इन प्रेरणाओं के फलस्वरूप व्यक्ति जिन व्यवहारों का प्रदर्शन करता है, उन पर समाज, परिवार और संस्कृति का भी प्रभाव पड़ता है। फलस्वरूप व्यक्ति की जन्मजात शारीरिक प्रेणाओं का संबंध उसके सामाजिक स्तर, सामाजिक भूमिका आदि से भी हो जाता है। जन्मजात शारीरिक प्रेरकों में भूख, प्यास, काम, मातृत्व भाव, मलोत्सर्जन आदि प्रेरणाएँ आती है, जिनके बारे में अलग-अलग वर्णन नीचे किया जा रहा है-

1) **भूख-** भूख एक जन्मजात शारीरिक प्रेरक है। प्रत्येक व्यक्ति में यह प्रेरणा जन्म के समय से विद्यमान रहती है। इस प्रेरक का संबंध व्यक्ति के शरीर-रसायन में परिवर्तन से है, जो शरीर के पोषक तत्वों में कमी का सूचक होता है। अतः शरीर-रसायन में परिवर्तन या शरीर के आवश्यक तत्वों में कमी की अवस्था भूख की प्रेरणा का प्रणोदन है, जो व्यक्ति को भोजन प्राप्त करने की दिशा में अग्रसारित करता है या उसे कार्यशील बनाता है और भोजन प्राप्त कर लेने के बाद व्यक्ति की कार्यशीलता समाप्त हो जाती है।

भूख की अवस्था में व्यक्ति के शरीर की आंतरिक अवस्था खासकर आमाशय में कुछ परिवर्तन होते हैं, जिससे व्यक्ति कुछ विशेष प्रकार के व्यवहार के लिए उत्प्रेरित होता है। इस प्रकार, व्यक्ति के आंतरिक और बाह्य व्यवहारों में कुछ परिवर्तन होते हैं।

2) **प्यास-** जीवित रहने के लिए जल का भी उतना ही महत्व है जिनता भोजन का। बल्कि, यदि कहा जाए कि पानी जीवन सुरक्षा के लिए भोजन से भी अधिक आवश्यक है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। भोजन के अभाव में हम कुछ सप्ताहों तक जीवित रह सकते हैं, किन्तु

पानी के अभाव में कुछ दिनों तक भी जीवित रहना संभव नहीं होता। शायद इसलिए यह कहा गया है कि जल ही जीवन है।

पानी पीने की आवश्यकता के मूल में शरीर में जल का अभाव होना है। भोजन के पचने में शरीर का जल उपयोग में आता है। इसके अतिरिक्त फेफड़ो, त्वचा, वृक्क आदि अवयावों द्वारा भी शरीर का पानी लगातार निकलकर नष्ट होता रहता है। इससे शरीर में जल का अभाव हो जाता है, जिसके फलस्वरूप हमें प्यास की अनुभूति होती है।

3) **काम या सेक्स-** यौनेच्छा सभी प्राणियों में मिलती है और इस इच्छा का प्रभाव उनके व्यवहारों पर पड़ता है। यह इच्छा मनुष्यों के हर आयु स्तर में विद्यमान रहती है। लेकिन, इस इच्छा की अभिव्यक्ति समाज द्वारा संचालित और नियंत्रित होती है। अतः काम-प्रेरणा को जैवाधारित सामाजिक प्रेरक की श्रेणी में रखा जाता है।

काम या यौन प्रणादेन को जैवाधारित मानने के तीन प्रधान कारण हैं- 1. यह सभी प्राणियों में पाया जाता है। 2. इस इच्छा की पूर्ति शारीरिक क्रियाओं द्वारा होती है तथा 3. इस इच्छा की संतुष्टि रसस्राव के रूप में होता है। मुनष्यों में यौनक्रिया सामाजिक आदर्शों द्वारा निर्धारित तो होती है, साथ ही साथ इसका स्वरूप स्राविक भी होता हे। सामाजिक जीवन के दृष्टिकोण से भूख के बाद यौनभाव का दूसरा महत्वपूर्ण स्थान है। पशुओं पर प्रयोग करने देखा गया है कि स्वभावतः मादा नर से ज्यादा क्रियाशील होती है। जीवन के कुछ क्षणों में मादा अधिक कार्यशील रहती है, लेकिन बाद में नरों की अपेक्षा शिथिला हो जाती है। मादा पशुओं में कुछ समय तक अत्यधिक कार्यशील रहने के बाद नरों की तुलना में अत्यधिक शिथिल हो जाना संभवतः यौनभाव में कमी होने पर निर्भर करता है। साधारण लोगों के अनुसार इस तरह का परिवर्तन उनके ज्ञानेन्द्रियों में परिवर्तन होने के कारण होता है।

4) **मातृत्व भाव-** मातृत्व भाव भी एक महत्वपूर्ण शारीरिक प्रेरक है। इसका सम्बन्ध माँ की दैहिक अवस्था से है। गर्भधारण के समय से ही माँ की अन्तः स्रावी ग्रंथियों में परिवर्तन होने लगते हैं। पीयूष ग्रंथि से प्रोलैक्टिन हार्मोन का स्राव होने लगता हे। माँ की दैहिक अवस्था में होने वाले इस जैविक परिवर्तनों के फलस्वरूप मातृत्व भाव के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं जिससे शिशुओं की देखभाल करने, उनकी सेवा सुश्रुषा करने, स्वयं कष्ट झेलकर शिशु को कष्ट से बचाने का प्रयास करना आदि स्वाभाविक वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार, मात्त्व-प्रेरणा प्राणी को शिशु की आवश्यकता की पूर्ति करने तथा उन्हें सुरक्षा प्रदान करने को प्रेरित करती है।

मातृत्व भाव की प्रेरणा काआधार सिर्फ हॉर्मोन का स्राव ही नहीं है, बल्कि यह प्रेरणा मनोवैज्ञानिक कारकों द्वारा परिमार्जित भी होती है। कैम्पबेल एवं मिसेनिन (1969) ने इस प्रेरणा के विकास में सामाजिक शिक्षण अनुभव एवं सामाजिक परिस्थितियों का महत्वपूर्ण योगदान बताया है।

मनोवैज्ञानिको ने अनेक अध्ययनों में यह भी दखा है कि मातृत्व भाव की संतुष्टि नहीं होने पर ऐसी माताएँ असामान्यता से ग्रस्त रहने लगती हैं।

अतः स्पष्ट है कि मातृत्व भाव की प्रेरणा का संबंध केवल दैहिक अवस्थाओं में होने वाले जैविक रासायनिक परिवर्ततनों से ही नहीं, अपितु सामाजिक जीवन एवं अनुभव के साथ भी है।

5) **मलोत्सर्जन-** मल-मूत्र का परित्याग करना भी एक जन्मजात शारीरिक क्रिया है- जिसकी उत्तेजना उत्सर्जी पदार्थों से मुक्ति पाने की शारिरिक आवश्यकता है। जब मूत्राशय या मलाशय में उत्सर्जी पदार्थ एकत्र होते है, तब प्राणी तनाव एवं दबाव का अनुभव करता है। इस तनाव या दबाव से मुक्ति पाने की इच्छा से व्यक्ति शरीर में एकत्र उत्सर्जी पदार्थों का परित्याग करने हेतु प्रेरित होता है। इसी प्रेरणा के फलस्वरूप मलोत्सर्जन की क्रियाएँ होती हैं।

मलोत्सर्जन की प्रेरणा का शारीरिक आधार मूत्रथैली एवं बड़ी आँत का फैलना है। एसी स्थिति में इन अवयवों की दीवारों में स्थित ग्राहक कोश उत्तेजित हो जाते हैं जिससे इन अवयवों में एकत्र बेकार के पदार्थों के परित्याग की प्रेरणा उत्पन्न होती है, तथा इस प्रेरणा की संतुष्टि मूत्र परित्याग एवं मल परित्याग की प्रक्रियाओं द्वारा होती है। हालाँकि, वयस्क व्यक्तियों में इस प्रेरणा का कोई खास महत्व नहीं दिखता, क्योंकि उनमें इससे उत्पन्न तनाव से राहत पाने में कोई खास दिक्कत या कठिनाई नहीं होती। लेकिन, बाल्यावस्था में यह प्रणोदन विशेष महत्व रखता है। बाल्यावस्था में बच्चों को मल-मूत्र का परित्याग करने-संबंधी प्रशिक्षण दिया जाता है जिससे उनमें नियत स्थान, समय और नियमित ढंग से उत्सर्जी पदार्थों के परित्याग की आदत का निर्माण हो सके। यह भी देखा गया है कि बच्चों को आदतों के निर्माण का प्रशिक्षण यदि उचित समय पर नहीं दिया जाए तो वे असुरक्षा की भावना से ग्रस्त रहने लगते हैं तथा उनमें गंन्दी आदतों का निर्माण होता है।

6) **अन्य शारीरिक प्रेरक-** उपर्युक्त शारीरिक प्रेरणाओं के अतिरिक्त हवा, पीड़ा, ताप, निद्रा आदि भी समस्थिति प्रणोदनों की श्रेणी में आते हैं। हर जगह प्रत्येक मनुष्य मौसम की गर्मी, ठंढी, स्वच्ट हवा, शारीरिक पीड़ा आदि से प्रभावित होते हैं। ऑक्सीजन शारीरिक संतुलन को बनाए रखने तथा जीवित रहने के लिए नितांत आवश्यक है। सामान्य अवस्था में इसकी कमी का अनुभव प्रायः नहीं होता। किन्तु जब व्यक्ति ऊँचे पहाड़ पर चढ़ते हैं अथावा ऐसी जगहों पर होते हैं, जहाँ ऑक्सीजन की कमी होती है तब उन्हें बेचैनी का अनुभव होता है तथा प्रायः वे अचेत होकर गिर जाते हैं। कुछ खास परिरिस्थतियों में फेफड़ो में कार्बन डाइऑक्साइड के अधिक मात्रा में एकत्र हो जाने पर व्यक्ति अशांत अनुभव करता है तथा उसे पीड़ा या क्लेश होता है। इस अवस्था में उसे तब तक आराम नहीं मिलता, जब तक कि फेफड़ो को ऑक्सीजन की आपूर्ति नहीं होती।

इसी तरह, पीड़ा की उत्पत्ति टिसूज की क्षति होने तथा अवयवों की कार्यप्रणाली में दोष आ जाने के कारण होती है। ऐसी अवस्थाओं में शारीरिक संतुलन बिगड़ जाता है, जिसे पुनः संतुलित करने के उद्देश्य से प्राणी कुछ विशेष प्रकार की क्रियाएँ करता है। साथ-ही प्राणी अपने को पीड़ादायक उत्तेजनाओं से बचाये रखने की कोशिश भी करता है। इस अर्थ से पीड़ा कष्टप्रद उत्तेजनाअें से दूर रहने का प्रणोदन है।

समस्थिति प्रणोदनों में शरीर के ताप को उपयुक्त स्तर पर बनाए रखना भी एक महत्वपूर्ण प्रणोदन है। दैनिक जीवन के अनुभवों तथा इस संबंध में किए गए प्रयोगों से यह अच्छी तरह पता चलता है कि निम्न श्रेणी के पशु एवं मानव, सभी कुछ ऐसी क्रियाएँ करना सीखते हैं, जिनसे आवश्यकतानुसार शारीरिक तापमान को घटाया या बढाया जा सकता है। जैसे- गर्मी के दिनों में कृत्रिम व्यवस्था द्वारा वातावरण की गर्मी से बचने की क्रियाएँ करना अथवा जाड़े के मौसम में गर्म कपड़े पहनकर शरीर ताप को कायम रखना हमारे दैनिक जीवन के उदाहरण है।

निद्रा भी एक महत्वूपर्ण शारीरिक समस्थिति प्रणोदन है। यह एक जैविक प्रणोदन है, क्योंकि नींद की कमी होने से व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक रूप से अवस्वथ रहने लगता है। नींद का संबंध शरीर की रासायनिक अवस्था से स्थापित किया गया है। इ0इ0जी0 द्वारा प्राप्त परिणाम भी इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि सुप्तावस्था में मस्तिष्क की क्रियाएँ जागृत अवस्था से भिन्न स्वरूप की होती है।

सोने की इच्छा प्रायः सभी मनुष्यों एवं पशुओं में पाई जाती है। यह इच्छा निश्चित अवधि के अन्तराल पर उत्पन्न होती है तथा एक निश्चित अवधि तक व्यक्ति सुप्तावस्था में रहता है। नींद की अवस्था में व्यक्ति के शरीर का तापक्रम और विभिन्न ग्रन्थियों की क्रियाएँ न्यूनतम स्तर पर रहती है तथा जागृत अवस्था में उच्चतम स्तर पर। यदि किसी के सोने का समय अचानक बदल दिया जाए तो उसके व्यवहार में भी स्पष्ट परिवर्तन के लक्षण देखे जा सकेते हैं।

13.5.2 अर्जित प्रेरक या समाजजनित प्रेरक -

अर्जित प्रेरकों की उत्पत्ति व्यक्ति के जीवन काल में होती है। व्यक्ति अपने जीवन काल में अनेक प्रकार के अनुभवों को प्राप्त करता है, जिन्हें वह अपने स्नायुमंडल में संचित करता है और इन संचित अनुभवों द्वारा व्यक्ति में अनेक प्रकार के प्रेरकों का विकास होता है।

व्यक्ति द्वारा अर्जित अनुभवों में कुछ अनुभव सभी व्यक्तियों में समान तरह के होते हैं तो कुछ विशिष्ट व्यक्तियों में विशिष्ट प्रकार के। समान स्वरूप के अनुभवों से सभी मनुष्यों में समान अर्जित प्रेरकों का विकास होता है, जिन्हें सार्वजनिक अर्जित प्रेरक कहते हैं। विशिष्ट अनुभव विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के होत हैं। वैयक्तिक रूप का होने के कारण ही ऐसे प्रेरकों को

वैयक्तिक प्रेरक की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार, अर्जित प्रेरक दो प्रकार के होते हैं- सार्वजनिक एवं वैयक्तिक।

13.5.2.1 सार्वजनिक अर्जित प्रेरक -

सार्वजनिक अर्जित प्रेरकों को सामाजिक प्रेरक भी कहते हैं, क्योंकि इन प्रेरकों का संबंध व्यक्ति के सामाजिक जीवन से रहता है। इन्हें सार्वजनिक इसलिए कहते हैं, क्योंकि ऐसे प्रेरक सामाज विशेष के प्रायः सभी व्यक्तियों के समान रूप से पाए जाते हैं। ऐसे प्रेरकों में सामुदायिकता, अर्जनात्मकता, आत्मस्थापन, कलह आदि प्रमुख है, जिनके बारे में संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है-

1) **सामुदायिकता-** समुदाय में सामूहिक रूप से रहने की प्रवृत्ति प्रायः सभी प्राणियों में मिलती है। कुछ लोगों के अनुसार प्राणी में सामुदायिकता की प्रवृत्ति जन्मजात होती है। कोई भी प्राणी अपनी जन्मजात प्रवृत्ति के कारण ही सामुदायिक बन पाता है। अतः इस प्रवृत्ति के अभाव में वह कभी भी सामुदायिक नहीं बन सकता। उदाहरण के लिए, बिल्ली जन्म के समय सामुदायिक रहती है। एक बिल्ली एक साथ-तीन-चार बच्चे देती है। इस प्रकार, बचपन में बिल्लियों को सदा एक साथ रहने का अवसर मिलता है। फिर भी, उनमें सामुदायिकता की भावना का विकास नहीं हो पाता। इसीलिए, कुछ बड़े होने पर बिल्लियाँ अलग-अलग रहने लगती है। अतः यहाँ एक प्रश्न उठता है कि बिल्लियाँ एक साथ जन्म लेती हैं तथा सदा एक साथ रहने का उन्हें अवसर भी मिलता है, फिर भी बड़ी होने पर उनमें सामुदायिकता भी भावना का अभाव क्यों रहता है। दरअसल, बिल्लियों में सामुदायिकता की जन्मजात प्रवृत्ति का अभाव रहता है, इसीलिए वे सामुदायिक नहीं हो पाती जबकि गया के बछड़े अकेले जन्म लेते हैं, लेकिन अकेले जन्म लेने के उपरान्त भी उनमें सामुदायिकता की भावना पाई जाती है। इससे स्पष्ट है कि सामुदायिकता की प्रवृत्ति जन्म जाता होती है।

परन्तु, यहाँ यह स्पष्ट होना चाहिए कि सामुदायिकता की भावना प्रायः सभी प्राणियों में जन्मजात तो होती है किन्तु इसका विकास उपर्यक्त वातावरण में ही होता है। इसीलिए, इसे अर्जित प्रेरक की श्रेणी में रखा जाता है। उपर्युक्त वातावरण के अभाव में सामुदायिकता की जन्मजात प्रवृत्ति का विकास संभव नहीं है।

मनुष्यों में इस भावना के विकास का कारण दूसरों पर आश्रित रहना भी माना जाता है। जन्म के समय बच्चे असहाय और आश्रित रहते हैं। शैशवावस्था में बच्चे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए माँ पर निर्भर करते हैं। फलतः प्रारम्भ में तो वे अवनी माँ को ही सभी प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति का साधन मानते हैं, परन्तु बाद में चलकर संबंध-प्रत्यावर्तन द्वारा मात्र माँ की उपस्थिति बच्चों को संतोष प्रदान करने लगती है। फिर, जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होने लगता है, उसका संपर्क परिवार एवं पड़ोस के दूसरे लोगों से भी बढने लगता है। इस प्रकार, बच्चों का दूसरे के संपर्क में रहना

सामूहिक जीवन के विकास मे सहायक होता है। अर्थात् 'सामाजिक संपर्क' के माध्यम से उनमें सामूहिक जीवन की आदत-सी पड़ जाती है जिससे सामुदायिकता की प्रवृत्ति का विकास होता है। अतः स्पष्ट है कि सामुदायिकता का विकास परिस्थितियों पर निर्भर करता है, जिसके मूल में बाल्यावस्था की आश्रितता रहती है तथा सामाजिक संपर्क के फलस्वरूप यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे प्रबल होती है। इस दृष्टिकोण से सामुदायिकता की प्रवृत्ति जन्मजात नहीं, बल्कि एक अर्जित प्रेरक है जो परिस्थिति पर निर्भर करती है।

2) **अर्जनात्मकता-** प्रायः, प्रत्येक व्यक्ति में अच्छी, लाभदायक एवं उपयोगी वस्तुओं को अपने पास रखने की प्रवृत्ति देखी जाती है। मैकडूगल ने व्यक्ति की इस प्रवृत्ति को अर्जनाम्कता की प्रवृत्ति की संज्ञा दी है। जानवरों में यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत कम देखी जाती है परन्तु मनुष्यों में इस तरह की प्रवृत्ति अत्यधिक सबल रूप से देखी जाती है। सामुदायिकता की ही तरह यह भी एक सार्वजनिक प्रवृत्ति है, जिसकी उत्पत्ति की कमी पायी जाती है, क्योंकि उनके समाज में आवश्यकता से ज्यादा सभी चीजें दूसरे लोगों में, जिनको इनकी जरूरत है, वितरित कर दी जाती है। लेकिन, अन्य राष्ट्रों में आवश्यकता एवं उपयोग की विभिन्न वस्तुओं का प्रचुर मात्रा में होना प्रतिष्ठा का विषय होता है। अतः समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के उद्‌देश्य से सभी लोग अधिक से अधिक वस्तुओं से अपने को संपन्न बनाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति रखते हैं।
3) **जिज्ञासा या उत्सुकता-** अर्जनात्मकता की प्रवृत्ति की तरह प्रायः सभी मनुष्यों में जिज्ञासा की भी स्वाभाविक प्रवृत्ति मिलती है। प्रत्येक प्राणी अपने आस-पास उपस्थित होने वाली नई परिस्थितियों , वस्तुओं के बारे में जानने की जिज्ञासा रखता है। इस तथ्य को जानवरों पर किए गए प्रयोगों एवं मानव व्यक्ति तथा बच्चों के व्यवहारों का निरीक्षण करके प्रदर्शित किया गया है। भूलभुलैया जैसी नवीन परिस्थितियों में चूहे के व्यवहारों का प्रयोगात्मक अध्ययन करके यह सिद्ध किया जा चुका है कि चूहे भूलभुलैया की समस्या का समाधान सीखते समय अपनी जिज्ञासु प्रवृत्ति का प्रदर्शन करते हैं। इस तरह के अनेक प्रयोग बंदरो, वनमानुषों, छोटे बालकों आदि पर भी किए गए है।, जिनके आधार पर जिज्ञासा की प्रवृत्ति को एक महत्वूपर्ण सार्वजनिक प्रेरक के रूप में सिद्ध किया जा सका है। साथ ही, यह भी प्रमाणित किया जा सका है कि इस प्रवृत्ति के विकास में सामाजिक संपर्क, अनुकरण एवं साधन की उपलब्धता आदि का महत्पूर्ण योगदान है। इसलिए, इसे अर्जित प्रेरक की श्रेणी में रखा जाता है।
4) **आत्मस्थापन-** आत्मस्थापन भी एक महत्वपूर्ण मानव प्रेरक है। इसकी अभिव्यक्ति नेता बनने, दूसरों पर अपना आधिपत्य जमाने, आत्म-प्रदर्शन करने आदि इच्छाओं में होती है। इस संबंध में एडलर का विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति में शक्ति की इच्छा रहती है, जो यौन-प्रेरणा से भी अधिक बलवान होती है। व्यक्ति जब अपनी शक्ति की इच्छा को संतुष्ट करने में सफल होता है, तब उसमें श्रेष्ठता की भावना या ग्रंथि आत्मस्थापन के भाव जन्मजात होते हैं।

आत्मस्थापन की प्रेरणा प्रायः सभी में पाई जाती है। इसीलिए, कुछ लोग इसे जन्मजात और सार्वजनिक भी मानते हैं। लेकिन, मीड एवं बेनेडिक्ट ने कुछ प्रजातियों में इस प्रेरणा का अभाव पाया है। उदाहरणार्थ, न्यूनानी के एरापेश जाति का कोई भी व्यक्ति नेता बनना नहीं चाहता। इसका कारण यह है कि उनके समाज में इस प्रकार के व्यवहार को करना बचपन से ही रोका जाता है। इसी तरह जूनी बच्चे दूसरों पर अपना प्रभाव जमाना नहीं चाहते। उनमें स्पर्धा या प्रतियोगीता की भावना का भी अभाव होता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि आत्मस्थान की प्रेरणा की व्यक्ति अपने जीवन काल में अर्जित करता है। इस प्रेरणा के विकास में बाल्यकाल का अनुभव विशेष महत्व रखता है। बाल्यावस्था में बच्चों को अपनी स्वतंत्र प्रवृत्तियों के प्रकाशन में अनेक प्रकार के अवरोधों का सामना करना पड़ता है। बच्चे इन अवरोधों को दूर करने की भरपूर चेष्टा करते हैं और इसी क्रम में वे धीरे-धीरे अपने से अधिक शक्तिशाली लोगों के समक्ष समर्पण करने और कम शक्तिशाली लोगों पर अपना आधिपत्य जमाने की प्रवृत्ति को विकसित करते हैं। अतः स्पष्ट है कि आत्मकथापन की प्रेरणा सामाजिक वातावरण में शिक्षण एवं अनुभव द्वारा अर्जित की जाती है तथा यह प्रेरणा प्रायः सभी लोगों में सामान्य रूप से पाई जाती है।

5) **कलह-** साधारणतः सभी प्राणियों में कलह की प्रवृत्ति पाई जाती है। कुछ लोग इसे जन्मजात प्रेरक मानते हैं। लकिन, यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो पाएँगे कि इस प्रेरणा के विकास के दो प्रधान कारण हैं- 1.शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति में बाधा उपस्थित होना, और 2.शिक्षा का प्रभाव एवं अनुकरण की प्रवृत्ति। जब व्यक्ति की इच्छाओं की पूर्ति में बाधा उपस्थित होती है, तब वह बाधा उपस्थित करने वाले व्यक्ति या परिस्थिति पर क्रुद्ध होता है। उसका क्रोध बाधा के कारणों से लड़ने के लिए उसे प्रेरित करता है। लड़ने की यही प्रवृत्ति व्यक्ति के भावी जीवन में कलह का संवेग उत्पन्न करता है।

इसी तरह, शिक्षण और अनुकरण की प्रवृत्ति भी कलह की प्रेरणा को उत्पन्न करता है। किसी खास परिस्थिति में हम जब अपने परिवार या पड़ोस के किसी व्यक्ति को झगड़ा करते हुए देखते हैं, तब समान तरह की परिस्थिति उत्पन्न होने पर हम स्वयं भी वैसा ही व्यवहार करने लगते हैं।

कलह की प्रवृत्ति में जाने या अनजाने ढंग से प्राप्त प्रबलन का भी महत्वपूर्ण योगदान रहता है। इस प्रकार, स्पष्ट है कि कलह की प्रेरणा जीवन काल में व्यक्ति अर्जित करता है। यह एक सार्वजनीक प्रेरक भी है, क्योंकि कम या अधिक, प्रायः सभी प्राणियों में इस तरह की प्रेरणा व्याप्त रहती है।

13.5.2.2 वैयक्तिक मानवीय प्रेरक -

हमारे व्यवहार और क्रियाओं को संचालित करने वाले कुछ ऐसे भी प्रेरक हैं, जो वैयक्तिक स्वरूप के होते हैं। अर्थात् ऐसी प्रेरणाएँ व्यक्ति विशेष में ही मिलती है और वे उनके व्यक्तित्व का

विशिष्ट गुण हो जाते हैं। वे सार्वजनिक नहीं होते। इस प्रकार के प्रेरकों को व्यक्ति अपने जीवन काल में सीखता है जिसमें उसकी सफलता, विफलता, परिस्थिति आदि का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। ऐसे प्रेरकों में उपलब्धि की प्रेरणा, आकांक्षा या आदत की विवशता, अभिरूचियाँ, मनोवृत्ति, अचेतन प्रेरक इत्यादि महत्वपूर्ण है।

1) **उपलब्धि की प्रेरणा-** इस प्रेरणा उत्पत्ति आधार व्यक्ति के अपने कार्यों में सफलता प्राप्त करने तथा औरों से श्रेष्ठ बनने की इच्छा से होती है। इस प्रेरणा पर मैकक्लीलैंड (1953) ने गहन रूप से मौलिक अध्ययन किया है। मैकक्लीलैंड, एटकिन्स, विण्टर बॉटम क्लार्क आदि मनोवैज्ञानिकों ने इस प्रेरणा के विभिन्न लक्षणों, अभिव्यक्ति के रूप, विकास आदि पहलुओं पर अग्रगामी अध्ययन किया है। इन्होंने अपने अध्ययनों के आधार पर यह प्रमाणित किया कि इस प्रेरणा का विकास व्यक्ति के जीवन काल में लालन-पालन की प्रणाली, सामाजिक-आर्थिक स्तर, पारिवारिक परिवेश, सफलता एवं विफलता आदि द्वारा होता है। इससे स्पष्ट है कि उपलब्धि की प्रेरणा अर्जित होती है तथा इस प्रेरणा का महत्वपूर्ण प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार पर पड़ता है।

उपलिब्ध की प्रेरणा की जाँच के लिए मर्रे द्वारा थिमेंटिक एपरसेप्सन टेस्ट विधि पर आधारति प्रक्षेपण प्रविधि का उपयोग किया जाता है। इस जाँच में प्रयोज्यों को कुछ अपरिचित चित्र दिखाए जाते हैं, जिनमें व्यक्ति को विभिन्न तरह की परिस्थितियों में कार्यरत स्थिति में प्रदर्शित किया जाता है। प्रयोज्यों को उन चित्रों के संबंध में कहानी लिखने को कहा जाता है, जिसके विश्लेषण से उनकी उपलब्धि-संबंधी प्रेरणा का पता चलता है। प्रयोज्यों की कहानी में मुकाबला, जोखिम, जीत-हार, संघर्ष, धैर्य आदि तत्वों के आने से उपलब्धि की प्रेरणा का परिचय मिलता है। उपलब्धि की प्रेरणा की जाँच के लिए आजकल अनेक प्रामाणि प्रश्नावलियाँ, वाक्य-पूर्ति जाँच का भी उपयोग बड़े पैमाने पर किया जाने लगा हैं।

इस प्रेरणा से संबद्ध अध्ययनों से पता चला है कि विभिन्न व्यक्तियों में यह प्रेरणा अलग-अलग मात्राओं में पाई जाती है अर्थात् सभी व्यक्तियों में उपलब्धि की प्रेरणा समान स्तर की नहीं होती। इस प्रेरणा के स्तर में वैयक्तिक विभिन्नता मिलती है। इन अध्ययनों से यह भी सिद्ध किया जा सका है कि जिन लोगों में यह प्रेरणा ऊँचे स्तर का होता है, वे विभिन्न परिस्थितियों के ऊँचे लक्ष्य रखते हैं और उन्हें प्राप्त करने के लिए कठिन परिश्रम करते हैं। उपलब्धि प्रेरणा के विकास में जन्मक्रम, लिंगभेद, परिवार में लड़के और लडकियों की संख्या, वितरण प्रतिरूप आदि का स्थान महत्वपूर्ण है। सैम्पसन और हैनकॉक (1967) के अनुसार, पहले बच्चे में बाद में जन्मे बच्चों की तुलना में उपलब्धि प्रेरणा का स्तर अधिक ऊँचा होता है। इसका कारण परिवार में विभिन्न जन्मक्रम वाले बच्चों का लालन-पालन भिन्न-भिन्न तरीके से होना है। बड़े बच्चे प्रायः माता पिता का पहले स्नेह पाते हैं तथा बड़ा होने के नाते उनमें अपने छोटे भाई-बहनों पर स्वामित्व या अधिकार जमाने

की भावना प्रबल होती है। उनकी यही भावना ऊँचे ओहदे पर, ऊँची सफलता प्राप्त करने आदि अभिलषाओं के परिणत होरक प्रकट होती है। बी.के. मिश्र (1974) ने भी एक अध्ययन में पाया कि भरतीय समाज में लड़के और लड़कियों के प्रति माता-पिता के दृष्टि कोण में अन्तर होने के कारण उनमें उपलटिध प्रेरणा के स्तर में भिन्नता मिलती है। किन्तु, यहाँ भी सांस्कृतिक विभिन्नता पाई गई है। इसका कारण यह है कि विभिन्न संस्कृतियों में लड़के और लड़कियों के प्रति माता-पिता की मनोवृत्ति एवं आदर्श में भिन्नता होती है, जिसके अनुरूप ही उनका पालन-पोषण, शिक्षा एवं विकास होता है।

स्पष्ट है कि उपलब्धि प्रेरणा में वैयक्तिक एवं सामाजिक विभिन्नता पाई जाती है।

2) **आकांक्षा-स्तर -** आकांक्षा-स्तर भी एक वैयक्तिक प्रेरक है । किसी लक्ष्य को प्राप्त करने की इच्छा को 'आकांक्षा कहते हैं। व्यक्ति द्वारा किसी लक्ष्य को प्राप्त करने की इच्छा एक प्रेरणात्म पहलू है, क्योंकि व्यक्ति की यह इच्छा उसके व्यवहार को निर्देशित करती है और व्यक्ति लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु अग्रसर एवं प्रयत्नशील होता है।

सभी व्यक्ति सभी प्रकार के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते । व्यक्तियों की क्षमता या योग्यता में भेद होता है। इसी विभिन्नता के कारण लक्ष प्राप्ति का स्तर व्यक्ति द्वारा निर्धारित लक्ष्य से कम या अधिक हो सकता है। आकांक्षा-स्तर और उपलब्धि - स्तर में भिन्नता का एक और महत्वपूर्ण कारण विभिन्न लक्ष्यों की प्राप्ति में कठिनाइयों की मात्रा या स्तर में विभिन्नता भी है। व्यक्ति की सफलता या विफलता से भी आकांक्षा-स्तर घटना या बढता है।

आकांक्षा-स्तर अर्थ में एक आश्रित परिवर्त्य है, जो व्यक्ति की सफलता-असफलता के अनुभव, बारंबारता, योग्यता, कार्य की जटिलता आदि स्वतंत्र परिवर्त्यों पर निर्भर है। इसका संबंध व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं उपलब्धि-प्रेरणा के साथ भी रहता है। इसकी जाँच से स्वस्थ एवं अस्वस्थ व्यक्तित्व की पहचान भी की जा सकती है।

3) **आदत की विवशता-** किसी प्रकार की आदत भी प्रेरक शक्ति का कार्य करती है। उदाहरण के लिए, मादक द्रव्यों के सेवन अथवा शराब पीने की आदत को लें। इन नशीले पदार्थों या शराब का लगातार सेवन करते रहने के फलस्वरूप व्यक्ति में इनकी आदत पड़ जाती है और वह विवश हो जाता है। आदत की विवशता के कारण व्यक्ति इनके बिना चैन से नहीं रह पाता। इन पदार्थों के अभाव में वह व्यग्र और बेचैन रहता है, अतः अपनी बेचैनी को दूर करने के उद्देश्य से वह इन पदार्थों को प्राप्त करने हेतु प्रेरित होता है और जब ये पदार्थ उसे प्राप्त हो जाते हैं, तब उसकी बेचैनी भी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार, आदत की विवशता भी प्रेरक शक्ति के रूप में काम आती है।

इसी तरह की बात व्यवहार की आदत के साथ भी है। व्यक्ति का जैसे-जैसे विकास होता जाता है, वह कुछ खास प्रकार के व्यवहार को करने का आदी हो जाता है जो कालक्रम में आदत का रूप धारण कर लेता है,। फलतः उसकी वह आदत प्रबल प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य करने लगती है। उदाहरण के लिए, मान लें किसी व्यक्ति को रात्रि भोजन के समय कभी उसे अखबार न मिले तो वह बेचैन हो जाता है, उकसी नींद गयाब हो जाती है और वह तब तक अखबार ढूँढता रहता है, जब तक कि अखबार उसे मिल नहीं जाता। अतः, स्पष्ट है कि व्यक्ति की व्यक्तिगत आदतें भी वैयक्तिक प्रेरणा के रूप में कार्य करती है।

4) **अभिरूचियाँ-** व्यक्ति के व्यवहार को उसकी अभिरूचियाँ भी निर्देशित करती हैं। प्रत्येक व्यक्ति की अभिरूचियाँ अलग-अलग होती है, लेकिन अभिरूचियों का विकास व्यक्ति के जीवनकाल में उसके वैयक्तिक अनुभव और परिस्थितियों द्वारा होता है। जिन वस्तुओं में व्यक्ति की अभिरूचि होती है, उन्हें वह बहुत अधिक पसंद करता है तथा उन्हें प्राप्त करने हेतु कार्यशील होता है। इस प्रकार व्यक्ति की अभिरूचियाँ उसे अनुकूल वस्तु को प्राप्त करने हेतु प्रेरित करती है और जब वह उन्हें प्राप्त कर लेता है तब उसे प्रसन्नता का अनुभव होता है।
5) **मनोवृत्तियाँ-** किसी व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति के प्रति व्यक्ति की मनोवृत्ति अलग-अलग होती है और व्यक्ति अपनी मनोवृत्ति के अनुरूप ही उनके प्रति विशेष ढंग से सोचता है। उनका मूल्याकन करता है तथा खास ढंग की प्रतिक्रिया करता है। व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ अनुकूल या प्रतिकूल हो सकती है। अनुकूल मनोवृत्ति रहने पर उसका व्यवहार भी अनुकूल होता है ताकि प्रतिकूल मनोवृत्ति रहने पर उसका व्यवहार भी प्रतिकूल स्वरूप का होता है। इस प्रकार, मनोवृत्तियाँ प्रेरक शक्ति के रूप में व्यक्ति के व्यवहार को एक खास ढंग से निर्देशित करती हैं। अतः मनोवृत्ति एक मानवीय प्रेरक है जिसका विकास जीवन काल में अनुभव, शिक्षण एवं सामाजिक परिस्थिति द्वारा होता है।
6) **अचेतन प्रेरक-** फ्रायड ने मानवीय प्रेरकों में अचेतन प्रेरणाओं के महत्व पर विशेष बल दिया है। इनके अनुसार व्यक्ति के व्यवहार उसकी इच्छाओं से निर्देशित होते हैं जिनकी पूर्ति हेतु वह क्रियाशील होता है। लेकिन, व्यक्ति की सभी इच्छाएँ प्रत्यक्ष रूप से पूरी नहीं हो पाती, क्योंकि व्यक्ति की सभी इच्छाएँ समाज के प्रचलित नियामों, आदर्शों एवं परंपराओं के अनुरूप नहीं होती। अतः व्यक्ति की जो इच्छाएँ सामाजिक प्रतिबंधों के कारण तृप्त नहीं हो पाती, वे उसके मन के अचेतन भाग में दमित हो जाती हैं। परन्तु व्यक्ति अपनी इन इच्छाओं को अतृप्त नहीं रहने देना चाहता। साथ ही, सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रतिबंधों के कारण वह इन इच्छाओं को चेतन स्तर पर भी अधिक समय तक नहीं रख सकता।अतः से इच्छाएँ अचेतन भाग में चली जाती हैं। अचेतन में दमित ये इच्छाएँ निष्क्रिय नहीं रहती, बल्कि अपनी पूर्ति हेतु अचेतन रूप से ही व्यक्ति को कार्यशील बनाती है। व्यक्ति अचेतन मन द्वारा प्रेरित व्यवहारों के कारण को नहीं जानता। उसे व्यवहार-विशेष के कारण को समझने में कठिनाई होती है, क्योंकि उसके व्यवहार

विशेष का संचालन अचेतन मन द्वार होता है। अचेतन प्रेरकों द्वारा संचालित व्यवहारों में बोलते समय अनजाने होने वाली गलतियाँ, किसी परिचित व्यक्ति या मित्र को पहचानने में भूलें करना, लिखने की भूलें करना आदि दैनिक जीवन की सामान्य भूलों का उल्लेख किया जा सकता है। स्वप्न भी इसका एक प्रमुख उदाहरण है।

अचेतन प्रेरकों का व्यक्ति के व्यवहारों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। व्यक्तित्व-संबंधी त्रुटियों, मानसिक बीमारियों आदि के विकास में अचेतन प्रेरकों का महत्व अनेक अध्ययनों में स्पष्ट किया जा चुका है। अचेतन प्रेरकों का विश्लेषण करके व्यक्ति के रहस्यात्मक व्यवहारों एवं उनकी गुत्थियों को भी समझा जा सकता है। अचेतन मन के विश्लेषण हेतु फ्रायड ने मनोविश्लेषण विधि का उपयोग किया। इस विधि का उपयोग कर ऐसे अनेक अध्ययन किए गए हैं, जिनसे यह स्पष्ट पता चला है कि मनुष्य ऐसे अनेक कार्यों को करता है जिनका संचालन अचेतन प्रेरकों द्वारा होता है।

13.6 अभिप्रेरणा के सिद्धान्त

अभी तक आपने अभिप्रेरणा को परिभाषित करना, आवश्यकता, अन्तर्नोद एवं प्रोत्साहन के बीच सम्बन्ध तथा जैविक एवं सामाजिक आवश्यकताओं के स्वरूप की जानकारी प्राप्त की । अब हम लोग उन सिद्धान्तों पर चर्चा करेंगे जो अभिप्रेरणा की व्याख्या अपने-अपने अनुसार करते हैं।

1) **मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त-** फ्रायडवादियों ने 'सेक्स' को व्यवहार की प्रारंभिक अभिप्रेरक शक्ति मना और इसे 'लिबिडो' कहा। वे अहं तथा व्यक्ति की आत्म घटना पर बल देते हैं। अहं इड् की उत्तेजनाओं अर्थात् अचेतन के आरम्भिक भाग का नियम करता है- इस भाग में अनियंत्रित सुख-भोग की आकांक्षी प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहती है। अतः सैक्स-शक्ति की सन्तुष्टि और उसके समायोजन के प्रयासों से उत्पन्न चिन्ता विभिन्न प्रकार की क्रियाओं की ओर अग्रसर करती है।
2) **ज्ञानवादी सिद्धान्त-** लेविन, वर्दीहमर, हाइडर, फैस्टिंजर, न्यूकाम्ब और हैलसन ज्ञानवादी सिद्धान्त को मानने वाले थे। अभिप्रेरणा के ज्ञानवादी सिद्धान्त घटनाओं के ज्ञान तथा पूर्णज्ञान पर केन्द्रित है। इसके अनुसार हम समझ, विचार तथा निर्णय द्वारा उन सापेक्षित-मूल्यों को चुन लेते हैं जो हमारे व्यवहार को अनुशासित करते हैं । हम उन विश्वासों, विचारों तथा आशाओं का निर्माण करते हैं जो हमारे लक्ष्य-अनुगामी व्यवहार का नियम करते हैं,। ज्ञानवादी आदर्श इस कल्पना पर निर्मित किये गय हैं कि किसी वस्तु के सम्बन्ध में लोगों की अपनी-अपनी पसन्द होती है। किसी भी व्यक्ति द्वारा प्राप्त परिणाम उसके चुनावों तथा उन घटनाओं पर आधारित होता है जो उसके नियन्त्रण से परे होती है। अतः जब कोई व्यक्ति उन विकल्पों में से चुनता है जिनके परिणाम अनिश्चित हों, तो इसमें कुछ खतरा भी रहता है और यह अपने आप में

अभिप्रेरक है। ज्ञानवादी सिद्धान्त व्यक्ति द्वारा विकल्पों में किये गये चुनाव को उसमें काम कर रही कार्य-शक्ति पर आधारित मानते हैं।

3) **व्यवहारवादी सिद्धान्त-** थार्नडाइक, हल, मिलर एवं डोलर्ड, मौरेर, स्पैन्स, स्किनर, और पी0टी0 यंग व्यवहारवादी सिद्धान्तों के मुख्य समर्थक हैं। अभिप्रेरणा की धारणाएँ मुख्य रूप से नव-दृढ़ता के सिद्धान्त पर आधारित है। व्यवहार को लक्ष्य अभिमुख माना जाता है और अभिप्रेरणा को शक्ति प्रदान करने वाले तत्वों तथा उसे निर्देशित करने वाले तत्वों का अध्ययन करने के लिए विभिन्न सैद्धान्ति धारणाओं का प्रयोग किया जाता है। व्यवहारवाद के प्राचीन रूपों 'अनुप्रेरकों की कमी' की धारणा का प्रयोग किया गया है जो शरीर में बुनियादी शक्ति-स्रोत को अभिन्न अनुप्रेरक मानती है। इन अनुप्रेरणाओ को लक्ष्य अभिमुख क्रियाओं की ओर अग्रसर करने के लिए ही व्यवहार की दिशा निर्देशित होती है। अधिकांश प्राचीन व्यवहारवादी सिद्धान्त इस बात को मानते हैं कि अभिप्रेरणा शरीर के भीतर उत्पन्न होने वाली आवश्यकताओं से पैदा होती है। नवीतनम सिद्धान्त उदाहरणस्वरूप, 1953 में प्रतिपादित स्किनर का सिद्धान्त-अभिप्रेरणा की विशुद्ध व्यावहारिक धारणा को ही मान्यता देते हैं। वे इस बात पर बल देते हैं कि क्रियात्मक उद्देश्य अथवा लक्ष्य अभिमुख व्यवहार की स्वीकृति से परे किसी भी कल्पना को आन्तरिक शक्ति स्रोतों पर आधारित नहीं माना जा सकता। व्यवहार कई परिणामात्मक स्थितियों की ओर उन्मुख होता है और यदि इन स्थितियों का शारीरिक व्यवहार में लगातार पालन होता रहे तो उन्हें क्रियात्मक रूप से पुरस्कारात्मक स्थितियाँ कहा जा सकता है।

संक्षेप से हम कह सकते हैं कि अभिप्रेरणा के व्यवहारवादी सिद्धान्तों की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित है-

1. समस्त व्यवहार की अभिप्रेरणा आवश्यकताओं तथा अनुप्रेरकों पर आधारित होती है।
2. केवल वही अनुक्रियाएँ स्थायी होती हैं जिनसे आवश्यकता या अनुप्रेरणा कम होती है। इसी अर्थ में ही सीखने का पुरस्कार निहित है।
3. आवश्यकताएँ शारीरिक भी हो सकती हैं और मनोवैज्ञानिक भी प्रारम्भिक भी हो सकती हैं और माधमिक भी।
4. शक्ति आवश्यकता को कम करने की क्रिया है या परिणामात्मक नव दृढ़ता की क्रिया है। इसकी दिशा आदतों द्वारा ही स्पष्ट होती है।

4) **शारीरिक सिद्धान्त-** लार्ड रदरफोर्ड, विलियम जेम्स, जैगविल, लैशले, मार्गन एवं बीच, क्रैशमर एवं शैलडन, हैब एवं स्टैलर इस सिद्धान्त के समर्थक है। लार्ड रदरफोर्ड के कथनानुसार 'सभी व्याखाएँ शारीरिक दृष्टि से होनी चाहिए। समूचा विज्ञान या तो भौतिक विज्ञान है या तथ्यों का एकत्रीकरण है।' विलियम जेम्स और जैगविल ने भी इन्हीं विचारों को प्रकट किया है। उनका विश्वास है कि मन से सभी रहस्य स्नायुविक-प्रणाली की कोशिकाओं में निहित हैं। लैशले, मार्गन और बीच ने शारीरिक-सिद्धान्त का समर्थन किया। क्रैशमर एवं शैलडन, जिन्होंने व्यक्तित्व

एवं शरीर के परस्पर सम्बन्ध का अध्ययन किया है -भी अप्रत्यक्ष रूप से अभिप्रेरणा के शारीरिक सिद्धान्त के पक्ष में हैं क्योंकि उन्होंने इस बात को निश्चित करने का प्रयास किया कि विभिन्न प्रकार की शरीर-रचना के अनुसार आवश्यकताएँ, इच्छाएँ, रूचियां तथा प्रवृत्तियां भी विभिन्न होती है। हैब एवं स्टैलर भी अभिप्रेरणा के शारीरिक सिद्धान्त के समर्थक हैं।

5) **आवश्यकता पदानुक्रम सिद्धान्त-** यह सिद्धान्त अब्राहम मैसलो द्वारा प्रतिपादित है। इसमें आवश्यकताओं पर अधिक बल दिया है। मैसलों ने आवश्यकताओं की तीव्रता को आधार बनाया। उनके अनुसार कुछ आवश्यकताऐं ऐसी होती हैं, जिन्हें तुरन्त पूरा करना आवश्यक होता है और कुछ आवश्यकतायें ऐसी होती हैं, जो की बाद में भी पूरी की जा सकती है। जैसे-एक भूखा व्यक्ति सबसे पहले अपनी भूख शान्त करेगा और शेष अन्य आवश्यकतायें बाद में पूरा करेगा। चूँकि मैसलों ने आवश्यकताओं को उनकी तीव्रता के आधार पर पांच वर्गों में विभाजित कर उसका एक पदानुक्रम प्रस्तुत किया, इसीलिए इसे आपश्यक पदानुक्रम सिद्धान्त कहते हैं।

मैसलों ने इन आवश्यकताओं को पाँच भागों में निम्नवत बाँटा है-

1. शारीरिक प्रेरक या आवश्यकतायें
2. सुरक्षा प्रेरक या आवश्यकतायें
3. स्नेह व लगाव प्रेरक या आवश्यकतायें
4. आत्म-सम्मान प्रेरक या आवश्यकतायें
5. आत्म-सिद्धिकरण प्रेरक या आवश्यकतायें

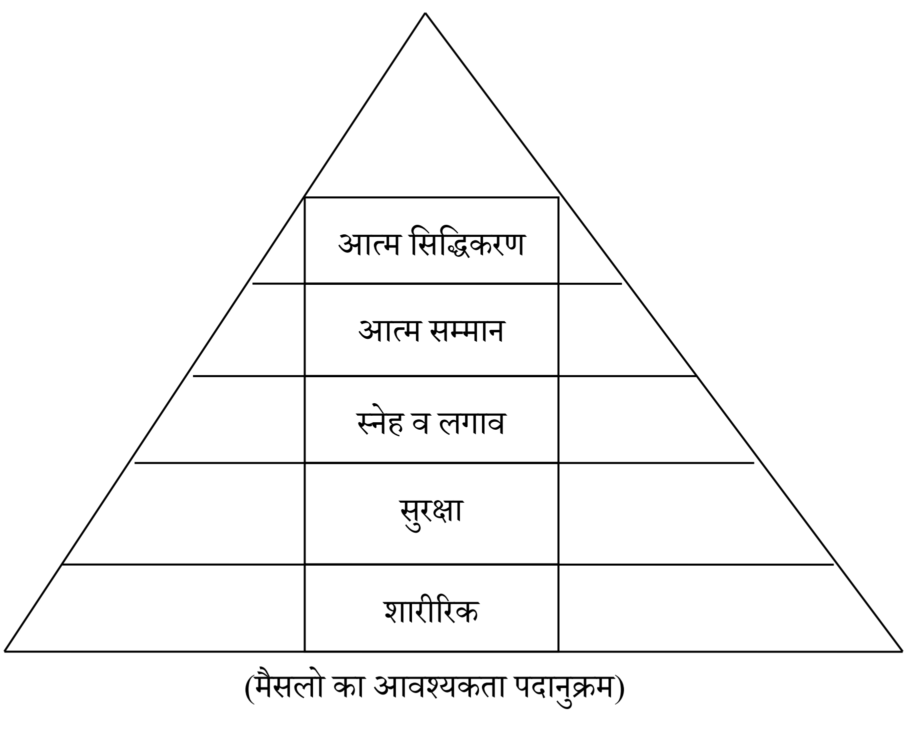

(मैसलो का आवश्यकता पदानुक्रम)

1. **शारीरिक आवश्यकतायें या प्रेरक-** इसे मनौदेहिक आवश्यकता भी कहते हैं। ये मानवीय आवश्यकताओं को आदि बिन्दु होता है। ये व्यक्ति में प्राथमिक या बुनियादी आवश्यकताओं के कारण उत्पन्न होते हैं जैसे- भूख, प्यास, नींद, सेक्स आदि। इनकी प्राप्ति होने पर ही शरीर स्वस्थ रहता है। इनके अभाव में शरीर का सन्तुलन बिगड़ जाता है। जब तक इन प्राथमिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि नहीं होती है तब तक व्यक्ति उच्च स्तर पर आवश्यकताओं तक नहीं पहुँच पाता।
2. **सुरक्षा प्रेरक या आवश्यकता-** जब व्यक्ति की प्राथमिक अर्थात् शारीरिक आवश्यकता पूर्ण हो जाती है तब उस स्थिति में वह जीवन की सुरक्षा के प्रति प्रेरित होता है व ऐसे उपायों को करता है जिससे कि उसके जीवन को कोई खतरा न हो सके। जैसे-जीवित रहना, सुरक्षित रहना आदि।
3. **स्नेह व लगाव प्रेरक या आवश्यकतायें-** यह आवश्यकता तबही उत्पन्न होती है जब व्यक्ति की पहली व दूसरी आवश्यकताऐं पूर्ण हो जाती है। इसमें व्यक्ति मित्र बनाने लगता है, समूह में अपना स्थान बनाने लगता है आदि। वह अन्य लोगों से स्नेह की प्राप्ति चाहता है।
4. **आत्म-सम्मान प्रेरक या आवश्यकताऐं-** यह उच्च स्तर की आवश्यकता मानी जाती है, जो प्रारम्भिक तीनों आवश्यकताओं के पूर्ण होने पर ही प्राप्त की जा सकती है। इसमें व्यक्ति को अपने आत्म-सम्मान की चिन्ता होती है, तथा वह आत्म-सम्मान चाहता है क्योंकि वह अपमान बर्दाशस्त नहीं कर सकता।
5. **आत्म-सिद्धिकरण प्रेरक या आवश्यकताऐं-** वह भी एक उच्च आवश्यकता होती है जो अन्य सभी आवश्यकताओं में सबसे बड़ी होती है। इसमें व्यक्ति सामाजिक, शैक्षिक, आर्थिक व आध्यात्मिक रूप से समाज के लिये उसके हित में कार्य करना चाहता है जिससे उसके मरने के बाद भी अन्य व्यक्ति उसे याद रखें। अतः इसके अनुसार , एक व्यक्ति को वही होना चाहिए, जो वह हो सकता है। जैसे-कलाकार को चित्रकारी करनी चाहिये, या कवि को कविता लिखनी चाहिये आदि।

13.7 सारांश

- चर प्रेरणा व्यक्ति की ऐसी आन्तरिक अवस्था है जिसके उत्पन्न होने पर वह बैचेनी का अनुभव करता है और इसे दूर करने के लिए एक विशेष प्रकार की क्रिया करता है। इस आन्तरिक अवस्था की उत्पत्ति किसी-न-किसी प्रकार की आवश्यकता की कमी या इच्छा से होती है।
- व्यक्ति जब किसी प्रकार की आवश्यकता से अग्रसर होकर किसी क्रिया को करता है, तब उसकी वह क्रिया आवश्यकता की पूर्ति होने अथवा उद्देश्य को प्राप्त करने की अवस्था तक चलती रहती है और आवश्यकता की पूर्ति होते ही वह क्रिया समाप्त हो जाती है। तथा व्यक्ति की बैचेनी दूर हो जाती है। इसे आवश्यकता प्रणोदन-प्रोत्साहन चक्र के रूप में भी जाना जाता है।

- अभिप्रेरक दो प्रकार के होते हैं-जन्मजात अथवा जैविक तथा अर्जित अथवा समाजजनित। जैविक प्रेरक के अन्तर्गत भूख, प्यास, सेक्स, मातृत्व भाव, मलोत्सर्जन, नींद आदि आते हैं। सामजजनित प्रेरक के अन्तर्गत सामुदायिकता, अर्जनात्मकता, जिज्ञासा, आत्मसम्मान तथा कलह सार्वजनिक अर्जित प्रेरक हैं जबकि उपलब्धि-प्रेरणा, आकांक्षा-स्तर आदत की विवशता, अभिरूचियां, मनोवृत्तियां आदि वैयक्तिक अर्जित प्रेरक हैं।
- अभिप्रेरणा के निम्नलिखित सिद्धान्त लोकप्रिय हैं- मनोविश्लेषणात्मक, ज्ञानवादी, व्यवहारवादी, शारीरिक तथा आवश्यकता पदानुक्रम।

13.8 शब्दावली

- **प्रेरणा:** प्रेरणा व्यक्ति की यह आन्तरिक अवस्था है जो किसी क्रिया को प्रारम्भ करती है और उसे लक्ष्य प्राप्ति तक जारी रखती है।
- **आवश्यकता:** व्यक्ति में आन्तरिक या बाह्य कारणों से उत्पन्न वह अवस्था जिसकी अनुभूति अभाव के रूप में होती है।
- **प्रणोदन:** व्यक्ति की वह आन्तरिक शक्ति जो उसके व्यवहार को लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसारित करती है।
- **प्रोत्साहन:** वैसी वस्तु अथवा लक्ष्य जिसकी ओर व्यक्ति का प्रेरित व्यवहार निर्देशित रहता है।
- **समस्थिति:** व्यक्ति द्वारा शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करके शारीरिक संतुलन बनाये रखने हेतु कार्यशील होने की अवस्था को समस्थिति कहते हैं।

13.9 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) प्राणी की क्रिया को आकर्षित करने वाली वस्तु या लक्ष्य को कहते हैं .... । (प्रणोदन/ प्रोत्साहन)
2) .... खींचते हैं तथा .... ठेलते हैं।
3) ‘‘प्रेरणा प्राणी की वह अवस्था है जिसमें उसकी शारीरिक शक्ति वातावरण में उपस्थित विभिन्न चीजों में से विशेष चीज को प्राप्त करने की ओर चयनात्मक ढंग से अग्रसारित होती है।’’ यह परिभाषा किसने दी? (गिलफोर्ड, न्यूकॉम्ब, कैंलडर)।
4) मातृत्व भाव एक .... प्रेरक है (जैविक /सामाजिक)
5) अर्जनात्मकता एक .... प्रेरक है (जैविक /सामाजिक)
6) इनमें से वैयक्तिक अर्जित प्रेकर कौन है?

   (क) मलोत्सर्जन (ख) सामूहिकता

   (ग) अकांक्षा-स्तर (घ) भूख
7) अभिप्रेरणा के आवश्यकता पदानुक्रम सिद्धान्त के प्रतिपादक कौन है?

उत्तर: 1) प्रोत्साहन 2) प्रोत्साहन तथा प्रणोदन 3) न्यूकॉम्ब 4) जैविक

5) सामाजिक 6) आकांक्षा स्तर 7) मैसलो

13.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान- अरूण कुमार सिंह- मोतीलाल- बनारसी दास
- शारीरिक मनोविज्ञान - ओझा एवं भार्गव- हरि प्रसाद भार्गव, आगरा
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान - सुलैमान एवं खान - शुक्ला बुक डिपो, पटना
- सामान्य मनोविज्ञान- सिन्हा एवं मिश्रा- भारती भवन

13.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अभिप्रेरणा को परिभाषित करें एवं इसकी विशेषताएँ बतायें।
2. अभिप्रेरणा के स्वरूप पर प्रकाश डालें तथा विभिन्न जैविक प्रेरकों का वर्णन करें।
3. प्रणोदन एवं प्रोत्साहन में अन्तर स्पष्ट करें। वैयक्तिक अर्जित प्रेरकों का विवेचन करें।
4. सार्वजनिक सामाजिक प्रेरकों का उदाहरण के साथ व्याख्या करें।
5. टिप्पणी लिखें-
   - क) आवश्यकता-प्रणोदन-प्रोत्साहन
   - ख) उपलब्धि प्रेरक
   - ग) प्रेरणा का आवश्यकता पदानुक्रम सिद्धान्त

इकाई-14 संवेग-स्वरूप, शारीरिक परिवर्तन, सिद्धान्त- जेम्स- लांजे , कैनन-बार्ड एवं क्रियाशीलता

14.1 प्रस्तावना
14.2 उद्देश्य
14.3 संवेग का स्वरूप
14.3.1 संवेग एवं प्रेरणा
14.3.2 संवेग एवं भाव
14.4 संवेग में होने वाले शारीरिक परिवर्तन
14.5 संवेग के सिद्धान्त
14.5.1 संवेग के सम्बन्ध में सामान्य विचार
14.5.2 जेम्स-लांजे सिद्धान्त
14.5.3 कैनन-बार्ड सिद्धान्त
14.5.4 क्रियाशीलता सिद्धान्त
14.6 सारांश
14.7 शब्दावली
14.8 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
14.9 संदर्भ गन्थ सूची
14.10 निबन्धात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में अभिप्रेरणा के स्वरूप, प्रकार व सिद्धान्तों का अध्ययन किया। आपने देखा कि प्रेरणा किस प्रकार व्यक्ति को लक्ष्य-प्राप्ति की दिशा में गतिशील बनाती है तथा लक्ष्य की प्राप्ति के साथ ही प्राणी की गतिशीलता घट जाती है। प्रेरणा के सामान ही संवेग भी व्यक्ति को उत्तेजित करता है और उसे सामान्य से भिन्न प्रकार का व्यवहार करने को बाध्य कर देता है।

प्रस्तुत इकाई में आप संवेग की परिभाषा, उसे स्वरूप संवेग और प्रेरणा में अन्तर, संवेग और भाव में अन्तर, संवेग में सम्पन्न होने वाले शारीरिक परिवर्तन तथा संयोग के विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

इस इकाई के अध्ययन से आपको यह लाभ होगा कि आप संवेग के संप्रत्यय से भली-भाँति अवगत हो पायेंगे तथा उसे भाव एवं प्रेरणा से अलग करने में समर्थ हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त, संवेगावस्था में होने वाले विभिन्न शारीरिक परिवर्तनों एवं संवेग के विभिन्न सिद्धान्तों का पर्याप्त ज्ञान आप इस इकाई का अध्ययन कर प्राप्त कर सकेंगे।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप इस योग्य हो सकेंगे कि आप-

1. संवेग को परिभाषित कर सकें तथा इसके स्वरूप को स्पष्ट कर सकें।
2. संवेग को प्रेरणा एवं भाव से विभेदित कर सकें।
3. संवेग के दौरान सम्पन्न शारीरिक परिवर्तनों का वर्णन कर सकें तथा
4. संवेग के विभिन्न सिद्धान्तों की समीक्ष कर सकें।

14.3 संवेग का स्वरूप

संवेग एक भावात्मक प्रक्रिया है, जिसका प्राणी के जीवन में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। यह अंग्रेजी के 'इमोशन' शब्द का हिन्दी रूपांतर है। 'इमोशन' शब्द की उत्पत्ति लैटिन के इमोवर शब्द से हुई है, जिसका अर्थ उत्तेजित करना या घबड़ा देना होता है। अतः व्युत्पत्ति के आधार पर संवेग से तात्पर्य प्राणी के उस अवस्था विशेष से है जिसमें प्राणी उत्तेजित होकर जोशपूर्ण व्यवहार का प्रदर्शन करता है।

संवेग की संक्षिप्त परिभाषा देना कठिन है, क्योंकि संवेगात्मक तथा असंवेगात्मक व्यवहारों के बीच स्पष्ट अन्तर कर पाना कठिन है। साथ ही, किसी एक संवेग और दूसरे संवेगों के बीच भी स्पष्ट अन्तर करना दुष्कर है, क्योंकि जिस प्रकार रंगपट्ट पर विभिन्न रंग एक-दूसरे से मिले हुए होते हैं, उसी प्रकार विभिन्न संवेग, जैसे-क्रोध, भय, ईर्ष्या , प्रेम, घृणा आदि एक-दूसरे के साथ इस प्रकार मिश्रित होने के फलस्वरूप ही संवेग भाव की अपेक्षा अत्यधिक जटिल स्वरूप का होता है। यहाँ तक कि सुखद एवं दुखद संवेग भी परस्पर मिश्रित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, जब किसी व्यक्ति का ऊँचे ओहदे पर प्रोन्नति के बाद स्थानांतरण होता है, तब उस समय उसे एक और प्रोन्नति होने के

कारण खुशी एवं हर्ष का संवेग होता है तो दूसरी और, उसे अपने मित्रों से बिछुड़ने का दःख या निराशा भी होती है।

संवेग की परिभाषा देने में एक और कठिनाई यह होती है कि संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ सामान्य स्वरूम की होती है। यदि हम किसी व्यक्ति की संवेगात्म अवस्था पर गौर केरें तो स्वष्ट होगा कि उस अवस्था विशेष में प्राणी संपूर्ण रूप से विक्षोम की अवस्था में रहता है। उकसी संपूर्ण शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं में परिवर्तन होता है। और सभी प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक परिवर्ततनों का एक साथ निरीक्षण करना या मापना प्रायः कठिन होता है।

उपर्युक्त कठिनाईयों के बावजूद, मनोवैज्ञानिकों ने और खासकर शरीर क्रिया शास्त्रियों ने अनेक प्रकार के संवेगों का अध्ययन कर प्राणी में होने वाले परिवर्तनों को पहचानने की कोशिश की है तथा संवेग की परिभाषा देने की भी चेष्टा की है। अतः कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाओं पर ध्यान देना आवश्यक है।

संवेग को परिभाषित करते हुए वार्ड ने कहा कि ''संवेग पूर्णरूपेण मनोविकृति की अवस्था है जिससे संज्ञानात्मक, सुख-दुःखात्मक भाव तथा क्रियात्मक वृत्तियाँ सन्निहित होती है''

वुडवर्थ के अनुसर ''प्राणी के उत्तेजित होने की स्थिति को संवेग कहते है''।

वाटसन का कहना है ''संवेग एक प्रकार का अप्रकट व्यवहारों का प्रतिरूप है, जिसमें संपूर्ण शारीरिक तंत्रों और विशेषकर अंतरावयवों एवं ग्रंथियों में भारी परिवर्तन होते है''।

यंग पी0टी0 ने संवेग को निम्न प्रकार परिभाषित किया है- ''संवेग प्राणी में उत्पन्न पूर्णरूप से तीक्षण विक्षोम की अवस्था को कहते हैं जिसकी उत्पत्ति मनोवैज्ञानिक कारणों से होती है तथा जिसमें व्यवहार, चेतन अनुभव और अंतरावयवों की क्रियाएँ सम्मिलित रहती है''

उपर्यक्त सभी परिभाषाओं में पी0टी0 यंग द्वारा दी गई परिभाषा की उपयुक्त मालूम पड़ती है। इस परिभाषा के अनुसार, संवेग की अवस्था में व्यक्ति के व्यवहारों में तीव्र विक्षोम उत्पन्न हो जाता है जिसका प्रभाव व्यक्ति पर पूर्ण रूप से पड़ता है। इसकी उत्पत्ति मानसिक होती है तथा इसके फलस्वरूप व्यक्ति के व्यवहार, चेतन अनुभूति तथा अंतरावयव-संबंधी क्रियाओं में परिवर्तन होते हैं।

संवेग की अवस्था को तीव्र विक्षोम की अवस्था इसलिए कहा गया है कि संवेग प्रायः एकाएक तीव्र रूप से व्यक्ति की मानसिक एवं शारीरिक अवस्था में उपद्रव उत्पन्न करता है। व्यक्ति में उत्पन्न उपद्रव की यह स्थिति उसके संपूर्ण शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं को प्रभावित करती है तथा इस तरह के उपद्रव का कारण मानसिक रूप से संवेगात्मक परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण करने के कारण होता है। इसे स्पष्ट करने हेतु हम एक उदाहरण लें। मान लें, आप किसी सुनसान रास्तें से अंधेरी रात में जा रहे हैं। अचानक आप किसी जंतु के रेंगने की आवाज सुनते हैं और जैसे ही टॉर्च जलाते

हैं, आपकी नजर एक सर्प पर पड़ती है। सर्प को देखते ही आप में भय का संवेग उत्पन्न होता है। यदि आपकी संवेगात्मक स्थिति का विश्लेषण किया जाए तो यह स्पष्ट होगा कि सर्प का एकाएक प्रत्यक्षीकरण होते ही भय का संवेग उत्पन्न होता है और साथ-ही-साथ कुछ आंतरिक और बाह्य शारीरिक परिवर्तन भी होने लगते हैं- रोंगटे खड़े हो जाते हैं, चहरे की भाव-भंगिमाओं में भी परिवर्तन होने लगते हैं, हृदय की धड़कन बढ़ जाती है तथा उस परिस्थिति के साथ सफल अभियोजन हेतु या तो आप भागने लगते हैं अथवा ढेले, पत्थर या डंडे से उसे मारने लगते हैं। इस प्रकार, स्पष्ट है कि संवेग की अवस्था में व्यक्ति की वर्तमान मानसिक तथा शारीरिक स्थिति में एक प्रकार का उपद्रव हो जाता है, जो उसके संपूर्ण शरीर को प्रभावित करता है।

संवेग के संबंध में उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि संवेग की अवस्था में निम्नलिखित तीन प्रकार की क्रियाएँ होती है-

क. चेतन अनुभूति संबंधी क्रियाएँ
ख. व्यवहार संबंधी क्रियाएँ एवं
ग. अंतरावयव-संबंधी क्रियाएँ

अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संवेग की उत्पत्ति में निम्नलिखित बातें पाई जाती है।-

1. संवेग उत्पन्न करने वाली उत्तेजना का उपस्थित होना,
2. उस उत्तेजना या परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण करने के फलस्वरूप व्यक्ति का उत्तेजित होना,
3. इस उत्तेजित अवस्था की चेतना या ज्ञान या अनुभव का होना,
4. इस उत्तेजित अवस्था के फलस्वरूप बाह्य एवं आंतरिक परिवर्तनों, का होना, तथा
5. इस उत्तेजना विशेष के प्रति संगेगात्मक व्यवहार करना।

14.3.1 संवेग एवं प्रेरणा-

यदि हम 'प्रेरणा' और संवेग के स्वरूप पर विचार करें तो मालूम होगा कि इन दानों प्रक्रियाओं में बहुत अधिक सामनताएँ हैं। प्रेरणा की ही तरह संवेग भी लक्ष्य प्राप्ति की ओर निर्देशित होता है। इसलिए, इन दानों के बीच प्रायः अन्तर बताना मुश्किल होता है। उदाहरण स्वरूप, क्रोध उत्पन्न करने वाली वस्तु को नष्ट करना होता है। इसी तरह, भय की अवस्था में व्यक्ति का लक्ष्य सुरक्षित स्थान की खोज करना, प्रेम की अवस्था में प्रेयसी का लक्ष्य अपने प्रेमी के निकट रहना होता है।

प्रेरणा और संवेग में दूसरी समानता यह है कि प्रेरणात्मक प्रतिरूपों में संवेगों का महत्वपूर्ण हाथ रहता है। शायद इसीलिए, ऐसा माना जाता है कि संवेगों के बिना जीवन वस्तुतः गतिविहीन हो जाएगा। 'संवेग' और 'प्रेरणा- दोनों शब्दों की उत्पत्ति लैटिन के शब्दों से हुइ है जिनके अर्थ समान हैं,

अर्थात् 'गतिशील होना' यही कारण है कि हम किसी व्यक्ति को क्रोध की अवस्था में देखकर उसका क्रुद्ध हो जाना अथवा विषाद की अवस्था में उसका अति दुखी हो जाना आदि कहते हैं। इस प्रकार, प्रेरणा की तरह संवेग भी व्यक्ति को कार्यशील बनाता है।

संवेग और प्रेरणा में उपर्युक्त समानताओं के बावजूद दोनो प्रक्रियाएँ एक-दूसरे से भिन्न हैं। इनके बीच प्रधान अन्तर यह है कि संवेग की अवस्था में व्यक्ति संवेगात्मक परिस्थित की अनुभूतियों के भावात्मक पहलुओं, अर्थात् उनसे संबद्ध दुखद या सुखद भावों पर ही जोर देता है। तथा याद रखता है और लक्ष्य-निर्देशन का पक्ष उपेक्षित रह जाता है। जैसे-तब हम अपने कमरे में पढ़ रहे होते हैं और अचानक हमारी दृष्टि एक जीवित सर्प पर पड़ती है, तब उस समय भय का संवेग उत्पन्न हो जाता है। इस अवस्था में सर्प के काटने से मृत्यु की संभावना की अनुभूति एवं संबद्ध दुखद भाव ही अत्यधिक प्रभावी रहता है और भयावह स्थिति से अपने को बचाने का लक्ष्य उतना प्रभावी नहीं रहता। परन्तु प्रेरणा में स्थिति ठीक विपरीत रहती है। प्रेरणात्मक व्यवहार मुख्य रूप से लक्ष्य-निर्देशित रहता है और उससे संबद्ध सुख या दःख के भाव अपेक्षाकृत उपेक्षित रहते हैं। जैसे-भूख से प्रेरित व्यक्ति जब भोजन की तलाश में होटल की ओर जाता है तब उस समय उसका मुख्य उद्देश्य होटल से भोजन प्राप्त करना होता है, भोजन रूचिकर मिलेगा या नहीं-यह भाव प्रधान नहीं रहता।

संवेग और प्रेरणा में दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि बाह्य उत्तेजना (संवेगात्मक परिस्थिति) के उपस्थित होने तथा उक्त उत्तेजना का प्रत्यक्षीकरण करने पर संवेग उत्पन्न होता है। इससें यह अर्थ निकलता है कि संवेग बाह्य उत्तेजना के प्रति की जाने वाली ज्ञानात्मक प्रतिक्रिया से प्रारंभ होता है। लेकिन, प्रेरणा और खासकर जैविक प्रणोदन प्राणी की आंतरिक अवस्थाओं की आवश्यकताओं से उत्पन्न होता है जिनका संबंध तंतुओं की आवश्यकताओं का घोतक होता है, जिसकी पूर्ति स्वतः क्रम के अनुसार हो जाती है, जैसे -प्यास की अवस्था को लें। प्यास की अवस्था में शारीरिक रसायन में जल की मात्रा में कमी हो जाती है, इससे कंठ और मुँह सूखने लगता है। अब इस अवस्था में जैसे ही हम एक ग्लास पानी पी लेते हैं, जल की कमी पूरी हो जाती है और शारीरिक रसायन में पुनः संतुलन कायम हो जाता है। परन्तु संवेग की अवस्था में ऐसी बात नहीं पाई जाती। संवेग की अवस्था प्रायः आपातकालीन स्थिति होती है, जिसमें व्यक्ति के समक्ष कोई स्वतः प्रतिक्रियात्मक क्रम का प्रतिरूप उपलब्ध नहीं रहता। जैसे-जब आप रात में अचानक उठते हैं और देखते हैं कि घर के कोने में आग लग गई है तब यह स्थिति आपातकालीन होती है और भय का संवेग उत्पन्न होता है। इस स्थिति से निबटने के लिए आपके सामने प्रतिक्रिया का कोई स्वतः प्रतिरूप नहीं होता अतः आपको जल्दबाजी में किसी उपयुक्त प्रतिक्रिया की तलाश करनी पड़ती है।

स्पष्ट है कि समानताओं के रहते भी संवेग और प्रेरणा एक-दूसरे से भिन्न प्रक्रियाएँ हैं।

14.3.2 संवेग एवं भाव-

साधारणतः भाव और संवेग में कोई अन्तर नहीं समझा जाता। लेकिन, ऐसा समझना गलत है। यद्यपि, इन दोनो प्रक्रियाओं का संबंध मन के भावात्मक पहलू से है, फिर भी इनमें निम्नलिखित अन्तर है-

1. भाव एक सरल प्राथमिक भावात्मक मानसिक क्रिया है, जबकि संवेग एक जटिल भावात्मक मानसिक क्रिया है।
2. भाव संवेग से पूर्व होन वाली क्रिया है तथा प्रत्येक संवेग में मुख या दुःख के भाव निहित रहते हैं, जैसे- शोक और आनंद के संवेगों में क्रमशः दुख और सुख भाव रहते हैं। इस प्रकार संवेग का भाव के साथ गहरा संबंध रहताहै। कहने का अभिप्राय यह है कि बिना भाव के संवेग का होना संभव नहीं है। लेकिन, भाव में ऐसी बात नहीं पाई जाती । संवेग के अभाव में भाव होते हैं। जब भाव किसी-न-किसी बाह्य या आंतरिक व्यवहारों में प्रकट होने लगता है तब वह भाव न रहकर संवेग हो जाता है। इसलिए कहा जा सकता है कि संवेग एक सक्रिय भावात्मक मानसिक क्रिया है, जबकि भाव एक अपेक्षाकृत कम सक्रिय भावात्मक मानसिक क्रिया है।
3. भाव सदा आत्मगत होता है, पर संवेग आत्मगत और वस्तुगत दोनों होता है। उदाहरणार्थ, हम दूसरे के सुखद या दुखद भावों का बाह्य रूप से निरीक्षण नहीं कर सकते, किन्तु जब कोई क्रोध, भय, प्रेम आदि संवेगात्मक अवस्था में होता है तब उसके संवेगात्मक प्रदर्शनों का निरीक्षण बाह्य रूप से किया जाना संभव है।
4. भाव के केवल दो ही प्रकार-सुख और दुख होते हैं। लेकिन संवेग के दो से अधिक प्रकार होते हैं जैसे- क्रोध, भय, प्रेम, शोक, ईर्ष्या आनंद आदि।
5. भाव के किसी प्रकार का शारीरिक परिवर्तन नहीं होता परन्तु संवेग में अनेक तरह के शारीरिक परिवर्तन होते हैं। अर्थात् भाव में केवल अनुभूति पक्ष रहता है और संवेग में अनुभूति एवं व्यवहार-दोनो पक्ष रहते हैं।
6. भाव की अपेक्षा संवेग की अवस्था में व्यक्ति का संपूर्ण शरीर प्रभावित होता है।
7. संवेग में व्यक्ति पूर्ण रूप से क्षुब्ध या उपद्रव की अवस्था में रहता है, लेकिन भाव में ऐसी बात नहीं पाई जाती ।

अतः स्वष्ट है कि भाव और संवेग दोनो के एक भावात्मक या रागात्मक प्रक्रिया होते हुए भी, इनके स्वरूप एवं व्यवहार-संबंधी प्रदर्शन एक-दूसरे से भिन्न है।

14.4 संवेग में होने वाले शारीरिक परिवर्तन

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है संवेग की अवस्था में व्यक्ति पूर्णरूप से क्षुब्ध या उपद्रव की अवस्था में आ जाता है। उपद्रव की यह स्थिति सामान्य शारीरिक क्रियाओं में परिवर्तन होने के फलस्वरूप होती है। यह परिवर्तन बाह्य एवं आंतरकि दोनों प्रकार का होता है।

बाह्य परिवर्तन से हमारा तात्पर्य शारीरिक अवस्था के वैसे परिवर्तनों से है, जिन्हें हम बाहर से नग्न आँखों द्वारा देख या निरीक्षण कर सकते हैं। ऐसे परिवर्तनों में क) मुखाकृतिक-अभिव्यंजन में परिवर्तन ख) स्वराभिव्यंजन में परिवर्तन, तथा ग) शारीरिक स्थिति में परिवर्तन मुख्य है।

आंतरिक परिवर्तनों से हमारा तात्पर्य शरीर के अन्दर की क्रियाओं में होने वाले परिवर्तनों से है, जैसे-हृदय की गति में परिवर्तन, पाचन-क्रिया में परिवर्तन, रक्तसंचार में परिवर्तन आदि ।

यहाँ इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों का वर्णन संक्षेप में किया जा रहा है।

1) **मुखाकृतिक अभिव्यंजन-** संवेग की अवस्था में होने वाले शारीरिक परिवर्तनों में मौखिक आकृति में परिवर्तनों के लक्षण सर्वाधिक स्वष्ट रूप से देखे जाते हैं। विभिन्न प्रकार के संवेगों में चेहरे की गति, संक्षोम, आदि के लक्षण स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं जिनके आधार पर विभिन्न संवेगात्मक भावों को पहचाना जा सकता है। उदाहरण के लिए, क्रोध की अवस्था में आँखों का लाल होना तथा भवों का चढ़ जाना, दाँतों को पीसना, होठों का फड़फड़ाना आदि परिवर्तन होते हैं। मुखकृतिक अभिव्यंजन संबंधी परिवर्तनों के आधार पर संवेगों की पहचान प्रायः व्यक्ति अपने अनुभव के आधार पर आसानी से कर लेता है।

यद्यपि विभिन्न संवेगात्म अवस्थाओं में खास-खास प्रकार के मुखाकृतिक अभिव्यंजन पाए जाते हैं, तथापि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि विशिष्ट प्रकार के मुखाकृतिक अभिव्यंजन किसी संवेगविशेष में ही पाया जाता है, क्योंकि एक ही तरह के मुखाकृतिक अभिव्यंजन द्वारा एक से अधिक प्रकार के संवेगों का प्रदर्शन अलग-अलग व्यक्तियों, परिस्थितियों और सामाजिक या सांस्कृतिक परिवेशों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ, क्रोध और भय अथवा खुशी एवं विस्मय की अवस्थाओं का प्रदर्शन लगभग एक ही तरह के मुखाकृतिक अभिव्यंजन द्वारा होता है फिर,अलग-अलग संस्कृतियों में भी एक ही प्रकार के मुखाकृतिक अभिव्यंजन का भिन्न-भिन्न संवेगात्मक अर्थ होता है। जैसे कि कुछ संस्कृतियों 'विस्फारित नेत्र' का अर्थ आश्चर्य या विस्मय होता है तो कुछ संस्कृतियों में यह क्रोध अथवा भय का सूचक होता है। इस संबेध में डार्विन तथा फर्नबर्गर ने एक प्रयोग किया। उन्होंने कुछ निर्णायकों के समक्ष विभिन्न संवेगों को प्रकट करने वाले चेहरों के चित्र रखे और उनसे चित्रों को देखकर संवेगात्क भावों का निर्णय करने को कहा। देखा गया कि निर्णायकों के विचारों में काफी विभिन्नता भी । एक ही चित्र को विभिन्न निर्णायकों के विचारों में काफी

विभिन्नता थी। एक ही चित्र को विभिन्न निर्णायकों ने अलग-अलग संवेगों का सूचक बताया। इन मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि चेहरो के चित्र जिन परिस्थितियों में लिए गए है, जब तक उन परिस्थितियों का ज्ञान होगा, केवल चेहरों की आकृति के आधार पर किसी संवेगविशेष का निश्चित रूप से निर्धारण करना संभव नहीं। इसीलिए वुडवर्थ ने मुखाकृतिक अभिव्यंजन के आधार पर संवेगों का अध्ययन करना गलत माना है।

2) **स्वराभिव्यंजन-** संवेग की अवस्था में वाकतंत्र की क्रियाओं में भी विशेष प्रकार के परिवर्तन होते हैं जिससे स्वराभिव्यंजन सामान्य अवस्था से भिन्न स्वरूप का हो जाता है जैसे-रोना, चिल्लाना, हँसना इत्यादि। उदहारण के लिए, चीखने या चिल्लाने जैसी आवाज से भय या विस्मय के संवेग का पता चलता है, विलाप या कराहने जैसी आवाज से पीड़ा या अप्रसन्नता, सिसकने या सुबकने की आवाज से दुख, आवाजों के टूटने या लड़खाने से गहरा दुख जोर-जोर से हँसने की आवाज से आनंद या ऊँची आवाज में चिल्लाने से क्रोध आदि संवेगों का पता चलता है।

परन्तु मुखाकृतिक अभिव्यंजन की ही तरह केवल स्वराभिव्यंजन के आधार पर संवेगों का निश्चित निर्धारण संभव नहीं है, क्योंकि अनेक परिस्थितियों में एक ही प्रकार का स्वराभिव्यंजन दो भिन्न संवेगों में पाया जाता है। अतः यहाँ भी संवेगात्मक परिस्थितियों का ज्ञान होना आवश्यक है।

3) **शारीरिक स्थितियाँ-** संवेग की अवस्था में प्राणी की शारीरिक स्थिति में भी परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए, भय की अवस्था में व्यक्ति भागने जैसी मुद्राओं का प्रदर्शन करता है दुख की अवस्था में व्यक्ति झुका रहता है क्रोध की अवस्था में आक्रामक मुद्राएँ बना लेता है और खुशी की अवस्था में सिर ऊँचा कर लेता है आदि। लेकिन, यहाँ भी निम्नलिखित तीन बाते ध्यान देने योग्य है-

क) एक ही संवेग की अवस्था में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की शारीरिक मुद्राएँ अलग-अलग होती है। उदाहरणार्थ, भय की अवस्था में एक व्यक्ति यदि भागने की मुद्रा का प्रदर्शन करता है, तो दूसरा व्यक्ति मूर्तिवत खड़ा रहता है।

ख) विभिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियों में एक ही प्रकार की शारीरिक मुद्रा अलग-अलग संवेगों का घोतक होता है।

ग) विभिन्न संवेग भिन्न-भिन्न शारीरिक मुद्राओं को उत्पन्न करते हैं।

4) **साँस की गति परिवर्तन-** सामान्य अवस्था में साँस लेने की गति का अनुपात 1:4 रहता है। लेकिन, संवेग की अवस्था में यह अनुपात सामान्य से कम या अधिक हो जाता है। साँस लेने की गति का धीमा या तेज होना विशेष प्रकार के संगेग की अवस्था-स्वरूप एवं तीव्रता पर निर्भर करता है। साँस की गति में होने वाले परिवर्तनों को न्यूमोग्राफ नामक यंत्र की सहायता से मापा

जाता है। इस तंत्र द्वारा प्राणी के साँस लेने और छोड़ने की गति में होने वाले परिवर्तनों को जाना जाता है।

5) **हृदय की गति में परिवर्तन-** साँस लेने की क्रिया और हृदय की क्रिया में गहरा संबंध है। अतः जब किसी संवेगात्मक अवस्था में साँस की गति में परिवर्तन होता है तब उसके साथ-साथ हृदय की गति में भी परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन को इलैक्ट्रोकार्डियोग्राम नामक यंत्र द्वारा मापा जाता है। प्रायः यह देखा जाता है कि क्रोध की अवस्था में हृदय गति सामान्य से बहुत अधिक बढ़ जाती है। भय की अवस्था में भी हृदय की गति बढ़ती हुई देखी जाती है। लेकिन, कभी-कभी इसकी गति धीमी या रुक जाने जैसी भी हो जाती है। कुछ ऐसे भी दृष्टांत देखने को मिलते हैं कि बहुत अधिक डर जाने अथवा किसी प्रकार का अचानक आघात पहुँचने के फलस्वरूपम हृदय की गति बहुत तेज हो जाती है परन्तु कभी-कभी इसकी गति क्षणभर के लिए बहुत अधिक मंद भी पड़ जाती है।

6) **नाड़ी की गति में परिवर्तन-** हृदय की गति के साथ नाड़ी की गति का गहरा संबंध हैं अतः संवेग की अवस्था में हृदय की गति में परिवर्तन होने के फलस्वरूप नाड़ी की गति में परिवर्तन का होना स्वाभाविक ही है। संवेग की अवस्था में नाड़ी की गति भी सामान्य अवस्था की अपेक्षा हृदय की गति के अनुरूप की कम अधिक हो जाती है।

7) **रक्त-संबंधी परिवर्तन-** संवेग की अवस्था में रक्त संचालन में परिवर्तन, रक्तचाप में परिवर्तन तथा रक्त के रासायनिक तत्वों में परिवर्तन होते हैं। प्रायः यह देखा गया है कि क्रोध की अवस्था में रक्तसंचालन की गति एवं रक्तचाप दोनो बढ़ जाते हैं। ऐसी ही बात प्रेम के संवेग में भी पाई जाती है। लेकिन, भय की अवस्था में रक्तसंचालन एवं रक्तचाप दानों की गति धीमी पड़ जाती है। इन परिवर्तनों को हम स्फिग्मोमैनोमीटर नामक यंत्र से मापते हैं। इनके अतिरिक्त रक्त के रासायनिक तत्वों के अनुपात में भी परिवर्तन होते हैं, जिसे रक्त की जाँच करके जाना जा सकता है। इन परिवर्तनों को नैदानिक रूप से डॉक्टरी आला, जिसे स्टेथोस्कोप कहते हैं, द्वारा भी जाना जा सकता है।

8) **रसपाक एवं पाचन क्रिया में परिवर्तन-** संवेग की अवस्था में पाचन-संस्थान से संबंधित अवयवों की क्रियाओं में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन पाए जाते हैं। उदारहण के लिए, क्रोध और भय की अवस्था में लारग्रन्थि द्वारा लार का टपकना बंद हो जाता है, जिससे मुँह सूखने लगता है। लेकिन प्रेम की अवस्था में लार का स्राव बढ़ जाता है।

कैनन ने अपने प्रयोग में पाया कि संवेग की अवस्था में आमाशाय-आंत्रगति घट जाती है तथा आमाशय-रस का निकला भी बंद हो जाता है। प्रायः यह देखा जाता है कि क्रोध एवं चिंता से ग्रस्त व्यक्ति की पाचन क्रिया कमजोर पड़ जाती है जिससे उसमें कब्ज, अजीर्णता आदि की शिकायत लगभग स्थायी रूप से बनी रहती है।

9) **त्वक-प्रतिक्रियाओं तथा मानस तरंगों में परिवर्तन-** प्रयोगां द्वारा पाया गया है कि संवेग की अवस्था में सामान्य अवस्था की अपेक्षा त्वक्-प्रतिक्रिया एवं मानस तरंगों में भी काफी परिवर्तन होते हैं। त्वक्-प्रतिक्रिया में होने वाले परिवर्तनों में त्वचा का शुष्क होना अथवा पसीना काअधिक निकलना, त्वक्-ताप में परिवर्तन का होना, रोंगटे खड़ा होना, शरीर में सिहरन या रोमांच का उत्पन्न होना आदि प्रमुख हैं। इन परिवर्तनों को साइकोगैलवेना मीटर यंत्र से मापा जा सकता है। इस यंत्र द्वारा त्वचा-विद्युत प्रवाह के चालन की क्षमता का अध्ययन किया जाता है। त्वचा की यह क्षमता स्वेदग्रंथि की क्रिया पर निर्भर करती है, जिसका संचालन सहानुभूतिक मंडल द्वारा होता है। स्नायुमंडली के इस भाग की सक्रियता के फलस्वरूप स्वेदग्रंथि से पसीने का स्राव होता है जिससे त्वचा भींग जाती है और त्वचा की विरोधाशक्ति घट जाती है। किन्तु जब स्वेदग्रंथि निष्क्रिय हो जाती है, तब त्वचा सूख जाती है और उसकी विरोधाशक्ति बढ़ जाती है। त्वचा के इस विरोधाशक्ति का अध्ययन फेरे ने त्वचा पर बाहर से बिजली सटाकर, विद्युत -विरोधशक्ति मापकर किया है, जिसे 'फेरे विधि' अथवा 'बाह्य दैहिक विधि' कहते हैं।

त्वचा पर पाए जाने वाले बालों की जड़ो में सूक्ष्म चिकनी मांसपेशियाँ होती है। भय की अवस्था में सहानुभूतिक मंडल के प्रभावों से बालो की जड़े ऊपर की ओर उठ जाती है जिससे बाल खड़े हो जाते हैं। इस क्रिया के परिणामस्वरूप रोंगटे खड़े होने की प्रतिक्रिया होती है।

इसी प्रकार इ0इ0जी, आलेखों द्वारा संवेग की अवस्था में मस्तिष्क तरंगों में भी परिवर्तन के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसे परिवर्तनों में मस्तिष्क विद्युतप्रवाह के चक्र एवं ऊँचाई में परिवर्तन देखे जाते हैं।

10) **ग्रंथियों अथवा पिंडों की क्रियाओं में परिवर्तन-** संवेग की अवस्था में शरीर के अन्दर विभिन्न प्रकार की ग्रथियों जैसे -एड्रिनल ग्रंथि, लारग्रंथि, अश्रुग्रंथि इत्यादि की प्रतिक्रियाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन होते है।

एड्रिनल ग्रंथि आमाशय में स्थित एक छोटी ग्रंथि है जिसका संबंध हमारे जीवन रक्षा-संबंधी कार्यों से है। संवेग की अवस्था में एड्रिनल ग्रंथि की क्रिया तेज हो जाती है जिससे लीवर उत्तेजित होकर चीनीर अधिक मात्रा में छोड़ता है। अतः हवा लगने से रक्त शीघ्र जम जाता है और मांसपेशियों में थकावट देर से आती है। साथ ही, व्यक्ति में अधिक शक्ति का संचार होता है। यही कारण है कि किसी भयानक पशु को देखने पर हमें भय का संवेग होता है और हम उस अवस्था में बादहवास होकर बहुत अधिक तेजी से भागने में समर्थ होते हैं।

संवेग की अवस्था में लाराग्रंथि , अश्रुग्रंथि तथा स्वेदग्रंथि की क्रियाओं में भी परिवर्तन होते हैं। अश्रुग्रंथि के उत्तेजित होने पर अश्रु का बाहव बढ़ जाता है, जैसे कि दुःख या विषाद की अवस्था में जब व्यक्ति रोता है, उस समय देखा जाता है।

11) **अन्यन्य परिवर्तन-** संवेग की अवस्था में उपर्युक्त परिवर्तनों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के परिवर्तन भी होते हैं, मांसपेशियों में तनाव का बढ़ना, पलक मारना, आँखों को घुमाना आदि। मांसपेशियों में तनाव को एलेक्ट्रोमायोग्राफ नामक यंत्र से मापा जा सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि संवेग की अवस्था में अनेक प्रकार के बाह्य एवं आंतरिक शारीरिक परिवर्तन होते हैं, किन्तु यहाँ इन परिवर्तनों के संबंध में अग्रलिखित दो बातों का स्मरण रखना अनिवार्य है- क- प्रायः एक ही प्रकार के आंतरिक शारीरिक परिवर्तन विभिन्न संवेगों में पाए जाते हैं। ख- प्रत्येक संवेग में सदा एक ही तरह के परिवर्तन की श्रृंखला नहीं पाई जाती।

अतएवं, हम केवल शारीरिक परिवर्तनों के आधार पर यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि ये परिवर्तन किस प्रकार के संवेग की ओर इंगित करते हैं। अर्थात् किस संवेगात्मक अनुभव का संबंध किस प्रकार के शारीरिक परिवर्तन के साथ है- ऐसा कहना तब तक संभव नहीं है जब तक उस अनुभव को उत्पन्न करने वाली परिस्थिती का पूर्वज्ञान न हो।

14.5 संवेग के सिद्धान्त

संवेग के अनुभव और व्यवहार के बीच किस प्रकार का संबंध है, संवेग में मस्तिष्क का क्या महत्व है आदि मूलभूत समस्याओं के संबंध में मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययनों के आधार पर, संवेग के विभिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। यहाँ पर कुछ प्रमुख सिद्धांतों की चर्चा एक-एक कर के की गई है।

14.5.1 संवेग के सम्बन्ध में सामान्य विचार-

साधारणत: ऐसा माना जाता हैं कि संवेग में संवेगात्मक अनुभव की प्रधानता रहती है और संवेगात्मक व्यवहार संवेगात्मक अनुभव के बाद ही होता है। अतः सामान्य लोगों के विचार के अनुसार '' हमें जब किसी प्रकार की निराशा या क्षति होती है तब दुःख का अनुभव होता है और हम रोने की क्रिया करते है, जब किसी हिंसक पशु से सामना होता है तब असुरक्षा होता है और हम रोने की क्रिया करते हैं, जब किसी हिंसक पशु से सामना होता है तब असुरक्षा का अनुभव होता है और हम भागने की क्रिया करते हैं, अपने प्रतिद्वंद्वी द्वारा अनादर या तिरस्कृत किए जाने पर क्रोध का अनुभव होता है और तब हम उस पर प्रहार करने की क्रिया करते हैं''। इस प्रकार, संवेग के संबंध में साधारण विचार यही है कि किसी भी संवेगात्मक उत्तेजना या परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण के फलस्वरूप में पहले संवेग की अनुभूति होती है और उसके बाद हम संवेगात्मक व्यवहार करते हैं।

14.5.2 जेम्स -लाँजे सिद्धान्त-

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अमेरिकी मनोवैज्ञानिक जेम्स तथा डेनमार्क निवासी लॉजे ने किया। इन दानों ने संवेग के संबंध में अलग-अलग अध्ययन किया है, परन्तु इनके निष्कर्ष एक ही है,

इसीलिए इनके विचारों को जेम्स-लॉजे सिद्धान्त के नाम से संबोधित किया जाता है। इनके विचार सामान्य विचार के विरुद्ध है। इनका कहना है कि संवेग में पहले संवेगात्मक व्यवहार होता है और तब उस व्यवहार की चेतन अनुभूति होती है। इस प्रकार संवेग के अनुभव का कारण संवेगात्मक व्यवहार है इस विचार के अनुसार किसी संवेगात्मक परिरिथति के प्रत्यक्षीकरण के तत्काल बाद संवेगात्मक व्यवहार होता है और उस व्यवहार के चेतन अनुभव को ही संवेग कहते हैं। उनके अनुसार जब हम किसी चीज को देखकर काँपने लगते हैं तथा भागते हैं तब भय का संवेग नहीं होगा। इसी तरह की बात क्रोध, प्रेम, ईर्ष्या आदि संवेगों के साथ भी पाई जाती है। जेम्स ने अपनी पुस्तक ''प्रिंसपुल्स ऑफ साइकोलॉजी' में लिखा है, ''संवेगात्मक परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण और संवेग के अनुभव के बीच शारीरिक परिवर्तन होते हैं। अतः संवेग के संबंध में तार्किक रूप से यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि हमें दुख या विषाद का संवेग रोनेकी क्रिया करने, क्रोध की उत्पत्ति आक्रामक व्यवहार करने तथा भय का संवेग काँपने जैसा व्यवहार के फलस्वरूप होता है, न कि रोने, आक्रमण करने या काँपने की क्रिया क्रमशः विषाद, क्रोध एवं भय का अनुभव करने के फलस्वरूप होती है''।

जेम्स के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न संवेगों से संबद्ध विशिष्ट संवेगात्मक व्यवहार उस संवेग के फलस्वरूप नहीं होते, बल्कि संवेगों की उत्पत्ति संवेगात्मक व्यवहारों के उपरांत होती है। जेम्स ने अपने इस विचार के समर्थन में अभिनेताओं एवं अभिनेत्रियों के अंतर्निरीक्षण प्रविवेदन को प्रस्तुत किया है । उनका कहना है कि किसी फिल्म का अभिनेता या अभिनेत्री किसी खास तरह के संवेग से संबद्ध शारीरिक व्यवहार को करते या करती है और उस व्यवहार को करते-करते सचमुच उनमें संवेग का अनुभव होने लगता है। जैसे- क्रोध का अभिनय करते समय वे अपनी शारीरिक स्थिति, मुखाकृति-अभिव्यंजन आदि में परिवर्तन लाते हैं और ऐसा करने समय वे सचमुच क्रोध का अनुभव करने लगते हैं । जेम्स के विचारों से मिलता-जुलता कार्ल लाँजे का भी विचार है। इन दोनों में मख्य अन्तर केवल इतना ही है कि जेम्स ने संवेग की अवस्था में उपद्रव का स्थान अंतरावयवों एवं ग्रंथियों को माना है, जबकि लाँजे ने वाहिका गतितंत्र की क्रियाओं को। इसीलिए इन दोनो के विचारों का मनोवैज्ञानिकों ने एक ही सिद्धान्त के अंतर्गत रखा है।

जेम्स-लाँजे सिद्धान्त का शारीरिक आधार-

जेम्स तथा लाँजे के सिद्धान्त पर यदि हम गौर करें तो स्पष्ट होगा कि उनके अनुसार जैसे ही कोई संवेगात्मक परिस्थिति या उत्तेजना उपस्थित होती है, वैसे ही ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तेजित हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप ज्ञानवाही स्नायुप्रवाह निकलकर वृहत मस्तिष्कीय बल्क में जाते हैं । उसके बाद प्राणी को उस परिस्थिति या उत्तेजना का प्रत्यक्षीकरण होता है। उत्तेजना का प्रत्यक्षीकरण होने के साथ-ही-साथ गतिवाही स्नायुप्रवाह अंतरावयवों, मांसपेशियों एवं ग्रंथियों में पहुँचते हैं और उनकी क्रियाओं में परिवर्तन लाते हैं। इसके फलस्वरूप प्राणी संवेगात्मक व्यवहार करता है। फिर, इन

मांसपेशियों, ग्रंथियों या अंतरावयवों में स्थित ज्ञानेन्द्रियों जिन्हें क्रमशः प्रोपरियोसेप्टर्स एवं इंटेरोसेप्टर्स कहते हैं- ज्ञानवाही प्रवाह निकलकर वृहत मस्तिष्कीय वल्क में पहुँचते हैं। फलतः प्राणी को उस परिस्थिति से संबंधित संवेग का अनुभव होता है।

स्पष्ट हे कि जेम्स-लाँजे के सिद्धान्त के अनुसार संवेगात्मक अनुभूति के पहले संवेगात्मक व्यवहार होता है,जिसका आधार स्वतः संचालित स्नायुमंडल होता है तथा संवेगात्मक व्यवहारर की चेतन अनुभूति ही संवेग हे।

जेम्स-लाँज सिद्धान्त की समीक्षा-

यद्यपि संवेग की अवस्था में शारीरिक परिवर्तन की बात सत्य है, तथापि ऐसा कहना कि संवेग के पहले शारीरिक परिवर्तन होता है, पूर्णतः सत्य नहीं प्रतीत होता । इसी आधार पर जेम्स-लाँजे सिद्धान्त की निम्नलिखित आलोचनाएँ की गई है-

1. जेम्स तथा लांजे ने अपने सिद्धान्त के पक्ष में यह तर्क दिया है कि किसी संवेगात्मक परिस्थिति के उपस्थित होने पर प्राणी में होने वाले शारीरिक उपद्रवों को रोक देने पर संवेगात्मक अनुभव रूक जाते हैं । लेकिन, इस तर्क को वुण्ट ने यह कहकर खारिज किया है कि अनेक परिस्थितियों में संवेगात्मक अनुभवों को भी रोक देने से संवेगात्मक व्यवहार रूप जाते हैं। अतः, सवेगात्मक व्यवहार को संवेगात्मक अनुभव का कारण मानना उचित नहीं है|
2. कभी-कभी बिना संवेगात्मक व्यवहार का प्रदर्शन किए बिना ही हमें संवेगात्मक अनुभव होता है। जैसे-माता या पिता द्वारा बच्चे को डाँटते समय क्रोध या गुस्से का अनुभव तो होता है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति व्यवहार के रूप में नहीं होती। इन परिस्थितियों में होने वाले संवेगात्मक अनुभव का कारण शारीरिक परिवर्तन मानना गलत होगा।
3. जेम्स तथा लांजे के अनुसार संवेगात्मक परिस्थिति और संवेगात्मक व्यवहार के बीच सहज क्रियारूपी संबंध पाया जाता है। यदि बात ऐसी होती तो सभी परिस्थितियों में इस प्रकार का संबंध पाया जाता। परन्तु वोरसेस्टर ने बताया है कि सभी परिस्थितियों में ऐसी बात नहीं पाई जाती। उदाहरण के लिए, जंगल में किसी नरभक्षी पशु को देखकर हम डर जाते हैं, जबकि सर्कस या चिड़ियाखाने में उसी पशु को,जो पिंजरे में रहता है, थपथपाने एवं उनके निकट होने की क्रियाएँ करते हैं। स्पष्ट है कि संवेगात्मक परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण मात्र से संवेगात्मक व्यवहार की उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि दूसरी मानसिक प्रक्रियाएँ भी होती है, जो संवेगात्मक व्यवहार को निर्धारित करती है।
4. अनेक विद्वानों ने कुछ ऐसे साक्ष्यों का हवाला दिया है, जिनसे जेम्स-लांजे के विचार खंडित हो जाते हैं। ऐसे कुछ साक्ष्य निम्नलिखित है-
   i) डॉ0 स्ट्रेम्पेल ने एक मोची के बच्चे का उदाहरण दिया है जिसका संपूर्ण शरीर संवेदना शून्य हो गया था। फलतः उसे शारीरिक परिवर्तनों का ज्ञान नहीं होता था। इसके

बावजूद देखा गया कि बिस्तर पर मल-मूत्र हो जाने से उसमें लज्जा या शर्म का संवेगात्मक अनुभव होता था। अतः स्वष्ट है कि संवेगों के अनुभव के लिए शारीरिक परिवर्तनों का ज्ञान होना आवश्यक नहीं है।

ii) डॉ0 डन्ना ने एक महिला का उदाहरण दिया है जिसकी गर्दन के पास सुषुम्ना घोड़े से गिर जाने के कारण टूट गया था। फिर भी उसे सभी प्रकार के सवेगों का अनुभव होता था।

5. जेम्स तथा लांजे के सिद्धान्त को अनेक विद्वानों ने प्रयोगात्मक अध्ययनों द्वारा जाँचने की कोशिश की है तथा उनके विचारों के विरुद्ध प्रमाण जुटाए है। ऐसे अध्ययन कर्ताओं में शेररिंगटन, कैनन, मैरेनन, लिंडस्लेय लेकिस तथा ब्रिटन आदि के नाम उल्लेखनीय है।

शेरिंगटन तथा कैनन ने क्रमशः कुत्ते और बिल्ली पर प्रयोग कर देखा कि जब गर्दन के पास सुषुम्ना के कुछ स्नायुओं को इस प्रकार काट दिया गया, जिससे सहानुभूतिक स्नायुमंडल में उत्पन्न होने वाले स्नायुप्रवाह वृहत मस्तिष्कीय वल्क में नहीं जा सके। तब भी इन पशुओं की संवेगात्मक अनुभूति तथा व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं दिख पड़ा। अर्थात् उनमें पहले जैसे संवेगात्मक अनुभव एवं व्यवहार देखे गए।

परन्तु यहाँ ध्यान देने योग्य एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इन पशुओं के 'वेगस नर्व्स, जो उपसहानुभूति मंडल के क्रैनियल नर्व्स को मस्तिष्क में ले जाते हैं, में कोई क्षति नहीं पहुँची थी। इसके फलस्वरूप आंतरिक अवयवों के स्नायु-प्रवाह मस्तिष्क में पहुँचते रहते हैं। अतः इस प्रयोग के आधार पर जेम्स -लांजे के सिद्धान्त को पूर्णतः गलत नहीं कहा जा सकता। हाँ, यदि संपूर्ण आंतरिक अवयवों और मस्तिष्क के बीच के संबंध को क्षतिग्रस्त कर दिए जाने पर भी प्राणी में संवेदगात्मक व्यवहार पाए जाते तो निःसंदेह जेम्स -लांजे के विरुद्ध जबरदस्त प्रमाण मिलता है।

मैरेनन ने एड्रीनिन की सूई देकर मानव प्राणियों का अध्ययन किया। एडीनिन की सूई देने पर प्राणी के अंतरावयवों की क्रियाओं में उपद्रव, अर्थात् परिवर्तन होता है। लेकिन, देखा गया कि इस सूई के प्रभाव से अंतरावयवों की क्रियाओं में परिवर्तन तो हुए परन्तु संवेगात्मक अनुभूति नहीं उत्पन्न हो सकी । ऐसा ही एक प्रयोग शैश्टर ने भी किया, लेकिन उनके प्रयोज्यों में भी एडीनीन संवेगात्मक अनुभव को उत्पन्न करने में विफल रहे।

किन्तु इस संबंध में जेम्स-लांजे का कहना है कि संवेग के कुछ अंतरावयव एवं धारीदार मांसपेशी-संबंधी ऐसे पहलू है, जो व्यक्ति में एडीनीन की सूई देने से उत्पन्न नहीं होने, लेकिन वे संवेग को उत्पन्न करने के लिए अनिवार्य है। यही कारण है कि एडीनीन की सुई पर भी प्राणी में संवेगात्मक अनुभूति उत्पन्न नहीं होती। साथ ही इस अवस्था में सिकी संवेगात्मक परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण भी नहीं होता। जेम्स-लांजे के अनुसार, संवेगात्मक परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण होने के बाद शरीरिक

परिवर्तन होने पर ही संवेग की अनुभूति होगी। अतः एडीनीन की सूई के आधार पर जेम्स-लांजे सिद्धान्त की जो आलोचना की गई है, उसे पूर्णतया सही नहीं माना जा सकता।

6. शरीरशात्रियों के अनुसार, अंतरावयव अपेक्षाकृत असंवेदनशील एवं धीमी गति से प्रतिक्रिया करती है। संवेगात्मक अनुभव संवेगात्मक परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण के तुरंत बाद ही (एक सेकेंड से भी कम समय में) हो सकती है, जबकि अंतरावयों की क्रिया कुछ समय बाद (एक सेकेंड की अवधि के बाद) ही होती है, न कि संवेगात्मक अनुभूति संवेगात्मक व्यवहार के पहले ही हो जाती है। न कि संवेगात्मक व्यवहार के बाद। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि संवेगात्मक अनुभव संवेगात्मक व्यवहार का कारण होता है। दरअसल कुछ संवेगात्मक अनुभूतियाँ ऐसी भी होती है जिनमें शारीरिक परिवर्तन के लक्षण नहीं दिखाई पड़ते।

14.5.3 कैनन -बार्ड सिद्धान्त-

कैनन तथा बार्ड ने जेम्स-लांजे सिद्धान्त को गलत बताया तथा अपने अध्ययनों के आधान पर एक अलग सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनके सिद्धान्त को हाइपोथैलमिक सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है कैनन तथा वार्ड का कहना है कि संवेगात्मक व्यवहार को संवेगात्मक अनुभूति का कारण मानन गलत है। साथ ही, जैसा कि जेम्स और लांजे ने माना है संवेग में केवल स्वतःसंचालित स्नायुमंडल में सहानुभूतक मंडल और वृहत मस्तिष्क का ही प्रमुख स्थान नहीं है, बल्कि हाइपोथैलेमस का सर्वाधिक महत्व है। उनके अनुसार हाइपोथैलेमस ही संवेग का नियत्रंण करता है इसलिए इसे हाइपोथैल सिद्धान्त की संज्ञा दी जाती हैं।

केनन तथा वार्ड के अनुसार संवेग की क्रिया का क्रम इस प्रकार है- सबसे पहले संवेगात्मक परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण होता है जिसके फलस्वरूप हाइपोथैलेमय उत्तेजित होता है। इसके बाद हाइपोथैलेमस से स्नायुप्रवाह निकलकर एक ही समय में वृहत मस्तिष्क वल्क तथा अंतरावयव एवं मांसपेशियों में जाता है। फलस्वरूप एक ही समय प्राणी में संवेगात्मक अनुभूति और संवेगात्मक व्यवहार दोनों होते हैं। ज्ञानवाही स्नायु-प्रवाह वृहत मस्तिष्क में जाते समय जब हाइपोथैलेमस से गुजरता है तब एक निश्चित और विशेष प्रकार के अर्जित तथा अनर्जित हाइपोथैलेमस से गुजरता है तब एक निश्चित और विशेष प्रकार के अर्जित तथा अनर्जित हाईपोथैलेमस स्राव उत्पन्न करता है। हाईपोर्थलेमास में उत्पन्न होने वाले ये स्नायु-प्रवाह तब तक एक ही समय वृहत मस्तिष्क तथा अंतरावयव एवं धारीदार मांसपेशियों में जाते हैं। वृहत मतिस्तष्क में हाइपोथैलेमस तक का मार्ग है, जहाँ के स्नायु-प्रवाह हाइपोथैलेमस के स्राव को रोकते हैं अथवा उसे नियंत्रित करते हैं।

हाइपोथैलेमिक सिद्धान्त के वर्णन से स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त के अनुसार हाइपोथैलेमस से निकलकर स्नायु-प्रवाह एक ही समय वृहत मस्तिष्क तथा अंतरावयव एवं धारीदार मांसपेशियों में है। इस प्रकार , जेम्स-लांजे सिद्धान्त के विरुद्ध आरोपित आलोचाएँ इस सिद्धान्त पर लागू नहीं होती।

उदाहरण के लिए, अंतरावयव और वृहत मस्तिष्कीय वल्क के बीच संबंध स्थापित करने वाली सहानुभूति स्नायु को काट दिया गया तब भी कुत्ते और बिल्ली में संवेगात्मक अनुभव उत्पन्न हुआ। इस तथ्य की व्याख्या करने में जेम्स-लांजे का सिद्धान्त सफल नहीं है। पर, हाइपोथैलेमस में उत्पन्न स्नायु-प्रवाह एक ही साथ अंतरावयव, धारीदार मांसपेशियों एवं वृहत मस्तिष्कीय वल्क की ओर संवेगात्मक परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण के साथ ही जाते हैं। हाइपोथैलेमस सिद्धान्त के अनुसार अंतरापयव और वृहत मस्तिष्क का संबंध विक्ष्छेद हो जाने पर भी हाइपोथैलेमस और मस्तिष्क का संबंध बना रहता है। यही कारण है कि कुत्ते और बिल्ली में सहानुभूतिक स्नायु के काटे जाने के बावजूद संवेगात्मक अनुभव और व्यवहार दोनो देखा गया। यही बात घोड़े से गिरी हुई महिला, जिसकी मेंरूदंड रज्जु या सुषुम्ना गर्दन के पास टूट गई थी, में उत्पन्न संवेग की व्याख्या हेतु भी लागू होती है।

जेम्स-लांजे सिद्धान्त की आलोचना के क्रम से यह भी कहा गया है कि अंतरावयव आदि के क्रियाशील होने में अपेक्षाकृत थोड़ा समय अधिक लगता है, फिर भी संवेगात्मक परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण होते ही संवेगात्मक अनुभव तत्काल होता है। यदि अंतरावयव के क्रियाशील होने के उपरांत परिस्थिति के अवगमन के कुछ समय बाद होना चाहिए , पर ऐसा होता क्यों नहीं है? इसकी व्याख्या जेम्स-लॉजे सिद्धान्त द्वारा नहीं हो पाती।

हाइपोथैलेमस सिद्धान्त संवेग की उत्पत्ति में अंतरावयव के महत्व को गैण मानता है। यह सिद्धान्त बताता है कि चूँकि संवेग की उत्पत्ति में हाइपोथैलेमस का ही सार्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है और हाइपोथैलेमस के स्नायु प्रवाह को मस्तिष्क में पहुँचने में कुछ भी समय नहीं लगता, इसीलिए संवेगात्मक अनुभव अविलम्ब हो जाता है।

14.5.3.1 कैनन-बार्ड सिद्धान्त का मूल्यांकन-

यह सही है कि कैनन-बार्ड का हाइपोथैलेमस सिद्धान्त जेम्स-लांजे सिद्धान्त की अनेक आलोचनाओं को दूर करने में सफल है, फिर भी यह सिद्धान्त बिलकुल दोषरहित है, ऐसी बात नहीं है। इस सिद्धान्त में भी कुछ त्रटियाँ हैं। जो निम्नलिखित हैं-

1) यह सिद्धान्त संवेग की उत्पत्ति में हाइपोथैलेमस का ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान मानता है, जो सही नहीं है वास्तविकता तो यह है कि हाइपोथैलेमस के अतिरिक्त स्नायुमंडल के अन्य भागों का भी संवेग में महत्वपूर्ण स्थान है। इस बात की पुष्टि इससे जो जाती है कि हाइपोथैलमस को उत्तेजित करने के फलस्वरूप प्राणी में जो संवेगात्मक व्यवहार उत्पन्न होते हैं, वे स्वाभाविक रूप से उत्पन्न संवेगात्मक व्यवहार से निम्नलिखित रूप से भिन्न होते हैं-

कृत्रिम रूप से हाइपोथैलेमा को उत्तेजित करने के फलस्वरूप उत्पन्न संवेगात्मक व्यवहार स्वाभाविक रूप से उत्पन्न संवेगात्मक व्यवहार की अपेक्षा क्षणिक होते हैं, अधिक दृढ़ होते हैं,

अभियोजन की क्षमता के कम तथा अधिक नियंत्रित होते है और किसी परिस्थिति विशेष की ओर कम उन्तुख होते हैं।

उपर्युक्त अंतरों के आलोक में यह स्पष्ट होता है कि स्वाभाविक रूप से उत्पन्न संवेगात्मक व्यवहार के नियम एवं नियतत्रण में स्नायुमंडल के अन्य भाग भी महत्वपूर्ण रूप से क्रियाशील होते है, जबकि कृत्रिम रूप से हाइपोथैलेमस के उत्तेजित होने के फलस्वरूप उत्पन्न व्यवहार के नियम एवं नियंत्रण में स्नायुमंडल के अन्य भाग कार्यशील नहीं रहते। इसीलिए इन दोनो परिस्थितियों में उत्पन्न व्यवहारों में अंतर देखा जाता है। खासकर जहाँ तक अभियोजन क्षमता का प्रश्न है, बृहतमस्तिष्कीय वल्क एक विशेष महत्व रखता है।

2) कैनन तथा वार्ड ने अपने सिद्धान्त में संवेग की उत्पत्ति का मुख्य स्थल हाइपोथैलेमस को माना है। लेकिन लैश्ले, लिंडस्ले, आर्नोल्ड आदि विद्वानों के अध्ययनों से इस बात के स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते कि संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं के सभी प्रतिरूपों एवं अनेंकों प्रकार के संवेगात्मक अनुभवों को उत्पन्न करने में हाइपोथैलेमस सक्षम है। साथ ही, संवेगों से उत्पन्न तनाव को देर तक बनाए रखने में हाइपोथैलेमस समर्थ नहीं है।

इस सिद्धान्त पर आरोपित उपर्युक्त त्रुटियों के कारण कैनन-बार्ड के सिद्धान्त को भी संवेग का एक स्पष्ट सिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

14.5.4 क्रियाशील सिद्धान्त -

क्रियाशीलता सिद्धान्त का प्रतिपादन लिंडस्ले ने किया। इसे संवेग का उत्प्रेरण सिद्धान्त भी कहते हैं।

संवेग के क्षेत्र में किए गए अध्ययनों से यह अच्छी तरह स्पष्ट किया जा सकता है कि संवेग के उपर्युक्त दोनो सिद्धान्तों में कोई सिद्धान्त पूर्णतः सही नहीं है। यद्यपि , कैनन-बार्ड सिद्धान्त के सामान्य प्रारूप या ढाँचा पर मनोवैज्ञानिक सहमत हैं, फिर भी इस क्षेत्र में किए गए अनुसंधानों से स्पष्ट हो चुका है कि इस सिद्धान्त में भी संशोधन की आवश्यकता है। इन अनुसंधानों से एक बात बिलकुल स्पष्ट हुई कि संवेगात्मक और असंवेगात्मक अवस्थाओं में कोई मौलिक भेद नहीं है। शारीरिक सक्रियता के दृष्टिकोण से प्राणी की अति शिथिलता की अवस्था से अति सक्रियावस्था के बीच की विभिन्न अवस्थाओं को क्रमवार श्रृंखता के रूप में यदि सजाया जाए तो उसके एक छोर पर निद्रावस्था और दूसरे छोर पर तीव्र एवं उग्र संवेगात्मक को रखा जा सकता है। इस प्रकार, संवेग का केन्द्रीय विस्तार निद्रावस्था से उत्तेजनावस्था तक है और इसके बीच के विभिन्न बिंदुओं पर शक्ति-गतिशीलनकी मात्राओं में अंतर होता है। इस संबंध में विद्युत मस्तिष्कीय आलेख से स्पष्ट प्रामाण मिलते हैं। ऐसे ही प्रमाणों के आलोक में लिंडस्ले ने 1951 ई0 में संवेग का उत्प्रेरणा सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

लिंडस्ले के अनुसार संवेग स्नायुमंडल और खासकर वृहत मस्तिष्कीय वल्क की अत्यधिक सक्रियावस्था का सूचक हैं। यहाँ अत्यधिक सक्रियावस्था से तात्पर्य स्नायविक प्रवाहों के स्राव में वृद्धि से है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि संवेग की अवस्था में मस्तिष्क-वृन्त में स्थित रेटिकुलर फॉर्मेशन विशेष रूप से बृहतमस्तिष्कीय वल्क को क्रिय बनाता है अथवा उत्तेजित या उत्प्रेरित करता है।

लिंडस्ले ने अपने विचारों को और अधिक विस्तार से स्पष्ट करते हुए कहा है कि मांसपेशियों द्वारा फीडबैक के रूप में प्राप्त ज्ञानवाही प्रवाह केन्द्रीय स्नायुमंडल को और अधिक सक्रिय या उत्प्रेरित करते हैं। उदाहरण के लिए, जब प्राणी घोर नींद की अवस्था में रहता है तब उस समय उसकी सक्रियता का स्तर सबसे न्यूनतम रहता है। बृहतमस्तिष्कीय वल्क अपेक्षाकृत निष्क्रिय रहता है और सहानुभूति स्नायुमंडल से स्राव बहुत ही कम होता है। फलतः मांसपेशियाँ शिथिल रहती है, जिससे वल्क को कोई फीडबैक नहीं मिलता। लेकिन, जैसे ही कोई उत्तेजना, जैसे- घड़ी का एलार्म प्राणी को जागृत करता है, स्नायुमंडल धीरे-धीरे सक्रिय होने लगता है, और जब प्राणी जग जाता है तथा अपने दैनिक क्रियाकलापों को करने लगता है, उसकी मांसपेशियाँ, ग्रंथियाँ अथवा अन्यन्य कर्मेन्द्रियाँ निरंतर गतिशील रहती है जिससे स्नायुमंडल की सक्रियता बढ़ने लगती है। इस कार्यशीलता के क्रम में जब प्राणी की कोई प्रेरणा संतुष्ट नहीं हो पाती अथवा प्रेरणाओं की संतुष्टि बाधित होती है तब वह निराश होता है जिसके फलस्वरूप सहानुभूतिक स्नायुमंडल से अधिक मात्रा में प्रवाह का स्राव होने लगता है और एडेªनलीन का स्राव होने लगता है। इस प्रकार की स्थिति में हाइपोथैलेमस इन क्रियाओं के बीच समन्वय स्थापित करने हेतु अत्यधिक कार्यशील होकर प्रवाह के स्राव को बढाता है। फलतः बृहत मस्तिष्कीय बल्क और अधिक सक्रिय हो जाता है। प्राणी की इसी अवस्था को संवेग कहते हैं। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि संवेग वस्तुतः उच्चस्तरीय कार्यशीलता या उत्प्रेरण की अवस्था को कहते हैं। इस सिद्धान्त में संवेग और प्रेरणा के बीच घनिष्ठ संबंध बताया गया है। यह सिद्धान्त बताता है कि संवेग की ही तरह प्रेरणा की उत्पत्ति भी उत्प्रेरण स्तर के अनुसार की होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार संवेग और प्रेरणा के बीच स्पष्ट भेद बताना मुश्किल है । प्रेरणा और संवेग के अनुभवों के बीच हम रीति-रिवाज या प्रथा के आधार पर भेद करते हैं। हम अपने सामाजिक जीवन में कुछ खास स्तर की सक्रियता तथा उससे संबद्ध भावात्मक अनुभवों को क्रोध, भय, भूख, काम या यौन आदि शब्दों के द्वारा प्रकट करना सीख लेते हैं तथा उसी के अनुरूप उनका नामकरण करते हैं।

क्रियाशीलता सिद्धान्त का मूल्यांकन-

कुछ विद्वानों का विचार है कि संवेग का उत्प्रेरण सिद्धान्त सही अर्थ में संवेग का एक अपूर्ण सिद्धान्त है, क्योंकि, उत्प्रेरण या सक्रियता-संबंधी विचारों से संवेग की अवस्था में मस्तिष्क में होने वाल क्रियाओं के बहुत ही थोड़े अंश का परिचय मिलता है। लेकिन, जैसे कि संवेग के स्वरूप से

स्पष्ट है, संवेग में प्राणी संपूर्ण रूप से कार्यशील होता है। अतः मस्तिष्क का एक भाग अंतरावयवी मस्तिष्क कहलाता है, जिसका मुख्य कार्य बौद्धिक चयन एवं तर्कशीलता के साथ-साथ आंतरिक अवयवों से प्राप्त ज्ञानवाही प्रवाहों के भावों को समझना भी होता है। अतः स्वष्ट है कि संवेग में बृहतमस्तिष्क के अन्य भाग भी सक्रिय रहते हैं, जिनकी चर्चा करना यहाँ अभीष्ट नहीं है।

कुछ विद्वानों ने इस बात की ओर भी संकेत किया है कि शारीरिक सक्रियता अथवा उत्प्रेरण एक अन्यंत विस्तुत एवं बिखरी हुई अस्वथा है, जो सभी प्रकार की मनोवैज्ञानिक क्रियाओं में विद्यमान रहती है। यही कारण है कि उत्प्रेरण पर भरोसा करने के फलस्वरूप संवेग, प्रेरणा, प्रत्यक्षीकरण आदि मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं में अतंर स्पष्ट नहीं होता।

उत्प्रेरण सिद्धान्त केवल संवेग व्यवहार पक्ष की व्याख्या करने में समर्थ है। लेकिन, संवेग का अनुभव पक्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं, जिसकी सफल व्याख्या करने में यह सिद्धान्त कुशल नहीं है। उदाहरणस्वरूप, यदि संवेग का व्यवहार पक्ष ही महत्वपूर्ण होता तो कुछ औषधियों द्वारा उत्पन्न सक्रियाता या उत्प्रेरणा की अवस्था में भी संवेग का अनुभव होता। परन्तु ऐसी बात (कुछ खास प्रकार की औषधियों का छोड़कर) नहीं पाई जाती। ऐसा इसलिए होता है कि संवेग का ज्ञानात्मक पक्ष भी महत्वपूर्ण होता है जिसकी कुशल व्याख्या उत्प्रेरण सिद्धान्त से नहीं हो पाती। इस सिद्धान्त के इसी दोष को ध्यान में रखते हुए शैश्टर एवं सिंगर ने 1962 ई0 में संवेग का एक नया सिद्धान्त-'ज्ञानात्मक सिद्धान्त' प्रतिपादित किया।

14.6 सारांश

- संवेग एक भावात्मक प्रक्रिया है जिसका अर्थ प्राणी के उस अवस्था विशेष से है जिसमें प्राणी उत्तेजित होकर जोशपूर्ण व्यवहार का प्रदर्शन करता है।
- सवेंग की अवस्था में तीन क्रिया सम्पन्न होती है-
    1. चेतन अनुभूति सम्बन्धी क्रियाएँ
    2. व्यवहार सम्बन्धी क्रियाएँ तथा
    3. अंतरावयव सम्बन्धी क्रियाएँ
- संवेग में बाह्य एवं आन्तरिक अंगां में परिवर्तन होते हैं। बाह्य अंगों में होने वाले परिवर्तन निम्नलिखित हैं- मुखाकृतिक अभिव्यंजन, स्वरामिव्यंजन, शारीरि स्थितियां, आन्तरिक अंगों में होने वाले परिवर्तन निम्नलिखित हैं- संसगति में परिवर्तन, हृदय गति में परिवर्तन, नाड़ी की गति में परिवर्तन, रक्त संबंधी परिवर्तन, रसपाक एवं पाचनक्रिया में परिवर्तन, त्वक्-प्रतिक्रियाओं तथा मानस तरंगों में परिवर्तन, ग्रंथियों अथवा पिंडों की क्रियाओं में परिवर्तन, अन्यन्य परिवर्तन।
- संवेग के अनुभव और व्यवहार के बीच सम्बन्ध की व्याख्या करने हेतु संवेग में मस्तिष्क का महत्व प्रतिपादित करने हेतु मनोवैज्ञानिकों द्वारा कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया। इनमे से

कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्त है- जेम्स-लांजे, सिद्धान्त कैनन बार्ड सिद्धान्त तथा क्रियाशीलता सिद्धान्त।

14.7 शब्दावली

- **संवेगः** संवेग प्राणी के अन्दर एक संक्षोम की अवस्था है जिसकी उत्पत्ति मनोवैज्ञानिक कारणों से होती है तथा जिसमें व्यवहार, चेतन अनुभव और अन्तरावयवों की क्रियाएँ सम्मिलित रहती है।
- **भावः** भाव एक सरल एवं प्राथमिक भावात्मक मानसिक क्रिया है जो हमेशा आत्मगत होता है।
- **संवेगात्मक अनुभवः** संवेगात्मक परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण से उत्पन्न चेतना अनुभव को संवेगात्मक अनुभव कहते हैं।
- **संवेगात्मक व्यवहारः** संवेगात्मक परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण या संवेगात्मक अनुभूति के फलस्वरूप उत्पन्न विभिन्न तरह की शारीरिक क्रियाओं को संवेगात्मक व्यवहार कहते हैं।

14.8 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) ....प्राणी की आन्तरिक अवस्थाओं की आवश्यकताओं से उत्पन्न होता है जबकि................... बाह्य उत्तेजनाओं के प्रति की जाने वाली ज्ञानात्मक प्रतिक्रिया से प्रारम्भ होता है।
2) संवेग .... सिद्धान्त के अनुसार संवेगात्मक अनुभव संवेगात्मक व्यवहार का प्रतिफल है।
3) संवेग के दौरान पाचन-क्रिया में होने वाला परिवर्तन एक........... परिवर्तन है।

उत्तर: 1) अभिप्रेरणा, संवेग 2) जेम्स-लांजे 3) आन्तरिक

14.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान - अरूण कुमार सिंह- मोतीलाल - बानारसी दास?
- शारीरिक मनोविज्ञान - ओझा एवं भार्गव- हर प्रसाद भार्गव, आगरा।
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान - सुलैमान एवं खान-शुक्ला बुक डिपो, पटना।
- सामान्य मनोविज्ञान - सिन्हा एवं मिश्रा - भारती भवन

14.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संवेग को परिभाषित करें। इसकी विशेषताओं का उल्लेख करें।
2. भाव और संवेग में अन्तर स्वष्ट करें। संवेग में होने वाले आन्तरिक शारीरिक परिवर्तनों का वर्णन करें।
3. संवेग के जेम्स-लांजे सिद्धान्त का मूल्यांकन करें।
4. संवेग में हाइपोथैलेमस की भूमिका का उल्लेख करें।
5. टिप्पणी लिखें-
   - क. प्रेरणा एवं संवेग में अन्तर
   - ख. संवेग में बाह्य शारीरिक परिवर्तन
   - ग. संवेग का क्रियाशीलन सिद्धान्त

इकाई-15 संवेग में स्वतःसंचालित स्नायुमंडल की भूमिका

15.1 प्रस्तावना
15.2 उद्देश्य
15.3 संवेग में स्वतः संचालित स्नायुमंडल की भूमिका
15.4 स्वतः संचालित स्नायुमंडल की रचना एवं कार्य
15.5 स्वतः संचालित स्नायुमंडल एवं संवेग
15.6 सारांश
15.7 शब्दावली
15.8 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
15.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
15.10 निबन्धात्मक प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने संवेग के स्वरूप एवं सिद्धान्त का अध्ययन किया तथा संवेगात्मक अवस्था में होने वाले शारीरिक परिवर्तनों की जानकारी भी हासिल की। आपने यह भी देखा कि संवेग की अवस्था में व्यक्ति में चेतन अनुभूति सम्बन्धी, व्यवहार सम्बन्धी तथा अंतरावयव सम्बन्धी क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं और अन शारीरिक परिवर्तनों में व्यक्ति के स्नायुमंडल की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

प्रस्तु इकाई में आव संवेग में स्वतः संचालित स्नायुमंडल की भूमिका का अध्ययन करेंगे, साथ ही, स्वतः संचालित स्नायुमंडल के सहानुभूतिक एवं उपसहानुभूति तंत्रों की बनावट एवं कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में भी जानकारी हासिल कर पायेंगे।

इस इकाई के अध्ययन से आपको यह लाभ होगा कि आप संवेग के तंत्रिका-तंत्रीय आधार से परिचत हो जायेगे और संवेगात्म अवस्था में होने वाले विभिन्न शारीरिक परिवर्तनों की व्याख्या स्वतः संचालित स्नायुमंडल के परिप्रेक्ष्य में कर सकेंगें।

15.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन में पश्चात् आप इस योग्य हो जायेगे कि आप-

- संवेग में तंत्रिका-तंत्र का महत्व प्रतिपादित कर सकें।
- सहानुभूति और उपसानुभूतिक तंत्रिका-तंत्र की कार्यप्रणाजी में अन्तर बता सकें।
- संवेग और स्वतः संचालित स्नायुमंडल के सम्बन्ध पर प्रकाश डाल सकें तथा
- संवेगात्मक में होने वाले विभिन्न शारीरिक परिवर्तनों की व्याख्या स्वतः संचालित स्नायुमंड ल के प्ररिप्रेक्ष्य में कर सकें।

15.3 संवेग में स्वतः संचालित स्नायुमंडल की भूमिका

संवेग का स्वरूप, इसकी विभिन्न परिभाषाओं एवं संवेग की अवस्था में होने वाले विभिन्न शारीरिक परिवर्तनों पर पिछली इकाईयों में जो चर्चा हुई उससें इतना तो स्पष्ट है कि संवेग की अवस्था में प्राणी का सम्पूर्ण शरीर प्रभावित होता है। यानी संवेग को हम शरीर के किसी भी भाग में निरूपित नहीं कर सकेते। संवेग में नाड़ी-तंत्रों की भूमिका पर किए गए शोधों से यह भी स्पष्ट हुआ है कि संवेग की उत्पत्ति एवं नियंत्रण में केन्द्रीय स्नायुमंडल के सेरेब्रल कॉर्टेक्स एवं हाइपोथैलेमस की भेमिका तो महत्वपूर्ण ही ही, स्वतः संचालित स्नायुमंडल भी संवेग की अवस्था में उत्पन्न अनेक शारीरिक परिवर्तनों के लिए जिम्मेदार होता है।

स्वतः संचालित स्नायुमंडल किस प्रकार संवेगिक अवस्था में होने वाले आन्तरिक शारीरिक परिवर्तनों का आधार बनता है, इसके लिए आवश्यक हैं कि पहले आप स्वतः संचालित स्नायुमंडल की रचना एवं कार्योंक से भली-भाँति परिचित हों। आइये पहले हम लोग स्वतः संचालित स्नायुमंडल की बनावट एवं उसके कार्यों पर चर्चा करें।

15.4 स्वतः संचालित स्नायुमंडल की रचना एवं कार्य

स्वतः संचालित स्नायुमंडल का स्मबन्ध प्राणी की वैसी क्रियाओं के संचालन एवं नियंत्रण से रहता है जो स्वतः होती है। अर्थात उन क्रियाओं पर प्राणी नका न तो कोई नियंत्रण रहता है और न उनके बारे में उसे कोई जानकारी रहती है। सही अर्थ में स्वतः संचालित एक भ्रामक शब्द है क्योंकि स्नायुमंडल का यह भाग न तो पूर्णतः स्वायत्तशासी आर्थत स्वनियमित है और न इसकी क्रियाएँ आप होती है। इसमें प्रतिवर्त धनु या सहजक्रिया धनु के समूह होते हैं, जिनाक नियंत्रण मस्तिष्क के किसी केन्द्र के अधानी उसी प्रकार से होता है जैसे दैहिक स्नायुमंडल की सहत क्रियाओं का नियंत्रण होता है।

दैहिक स्नायुमंडल की क्रियाएँ मस्तिष्क एवं सुषुम्ना के अधीन होती है तथा इनका सम्बन्ध शरीर के परिधीय भागों में स्थित अवयवों में क्रियाओं की नियंत्रित एवं संचालित करने से रहता है। दैहिक एवं स्तःचालित स्नायुमंडलों में निम्नलिखित मुख्य अन्तर पाए जाते हैं।

1) इन दानों प्रकार के स्नायुमंडलों में पहला मुख्य अन्तर यह है कि स्वतः संचालित स्नायु मंडल केन्द्र मस्तिष्क के केन्द्र मस्तिष्क का कॉर्टेक्स में न होकर पृष्ठ मस्तिष्क में होने हैं। इसीलिए इनकी क्रियाओं पर प्राणी का कोई ऐच्छिक नियंत्रण नहीं होता।
2) दैहिक स्नायुमंडल और स्वतः चालित स्नायुमंडल में दूसरा अन्तर यह है कि दैहिक मंडल के संथिस्थल केन्द्रीय स्नायुमंडल में पाए जोते हैं, जबकि स्वतः चालित मंडल के संथिस्थल केन्द्रीय स्नायुमंडल के बाहर होते हैं।
3) इनके बीच एक और अन्तर यह पाया जाता है कि दैहिक स्नायुमंडल का सम्बन्ध बाह्य अभियोजन से सम्बन्धित क्रियाओं के संचालन और नियंत्रण से रहता है, लेकिन स्वतः चालित स्नायुमंडल का सम्बन्ध आंतरिक अभियोजन से सम्बन्धित क्रियाओं से रहता है।
4) दैहिक स्नायुमंडल में ज्ञानवाही एवं गतिवाही दोनों प्रकार की क्रियाएँ होती है। जबकि स्वतःचालित स्नायुमंडल मुख्य रूप से गतिवाही क्रियाएँ ही करता हैं।
5) इन दोनों प्रकार के स्नायुमंडलों में अन्तिम यह भी है कि स्वतःचालित स्नायुमंडल की कोशिका गुच्छिकाएँ एवं तंतु सुषुम्ना के समांतर दोनों ओर ऊपद से नीचे फैली हई है। इसकी विभिन्न इकायों में दैहिक स्नायुमंडल की तरह अलग-अलग क्रियाएँ नहीं होती, बल्कि इसके किसी भी भाग के उत्तेजित होने पर सम्पूर्ण स्वतःचालित तंत्र क्रियाशील हो उठता है। यह विशेषता उपसहानुभूतिक मंडल में विशेष रूप से पाई जाती है। यह विशेषता उपसहानुभूतिक मंडल में विशेष रूप से पाई जाती है। सहानुभूतिक मंडल में कुछ वैयक्तिक क्रियाएँ भी होती है, जैसे-पेशाब एवं पैक्षाना का एक साथ होना और, इन दोनों में से किसी को रोका भी जा सकता है। ये क्रियाएँ स्वतः चालित हतो हैं, लेकिन इनके नियंत्रण पर व्यक्ति विशेष की इच्छशक्ति का प्रभाव पड़ता है। आर्थात् व्यक्ति अपनी इच्छा से इन क्रियाओं को थोड़े समय के लिए रोक भी सकता है। इससवे स्पष्ट है कि इन क्रियाओं को नियंत्रिता करने वाला केन्द्र करने के क्रम में ऊपर यह बताया गया है कि स्वतः चालित स्नायुमंडल का सम्बन्ध प्राणी के आतंरिक अभियोजनों से संबंधित क्रियाओं के संचालन एवं निंत्रण से हे। अतः स्वतःचालित स्नायुमंडल से स्नायुओं का संबंध प्राणी की पाचनक्रिया, रक्तसंचार क्रिया, पेलकिस आदि अवयवों से रहता है। इसलिए इसे अतंरावयवी स्नायुमंडल भी कहते हैं।

स्वतःचालित स्नायुमंडल को इसकी बनावट एवं कार्यवाही के आधार पर प्रायः दो वर्गों में विभाजित किया जाता है-

1. सहानुभूति मंडल एवं 2. उपसहानुभूति मंडल

1) **सहानुभूतिक मंडल-** सहानुभूतिक मंडल का निर्माण सुषुम्ना नाड़ी की जड़ों से निकल स्नायुतंतुओं के छोटे पुलिदों से हुआ है। ये स्नायुतंतु सुषुम्ना के दोनों ओर को गुच्छिाकाओं से निकलते हैं था ऊपर और नीचे की ओर गतिवाही स्नायुकोशों के साथ संधिस्थलीय सम्बन्ध बनाते हुए अंतरंगों की चिकनी मांसपेशियों एवं ग्रन्थियों में जाते हैं। इसे थैरोसिक लंबीर सिस्टम

भी कहते हैं, क्योंकि इसके सभी स्नायु - छाती एवं पेछ की सुषुम्ना स्नायुओं से निकले हैं। अर्थात्, छाती और पेट के सुषुम्ना स्नायुओं द्वारा इस भाग का निर्माण हुआ है।

इस भाग के स्नायु सीधे अंतरावयवों में नहीं जाते। ये सुषुम्ना से निकल कर पहले स्वतःचालित गुच्छिका में जाते हैं और जब वहाँ से अतंरावयवों में। इस प्रकार, इसके दो भाग हुए - वह भाग जो सुषुम्ना से निकलकर गुच्छिका में जाते हैं, जिसे प्राक्-गुच्छिका स्नायु कहते हैं तथा वह भाग जो गुच्छिका से निकलकर अंतरावयवों में जोते हैं, जिसे उत्तर-गुच्छिका स्नायु कहते हैं। सहानुभूति मंडल के अन्तर्गत जिन प्रमुख अवयवों का उल्लेख किया जाता है, वे अग्रलिखित- यकृत, हृदय , आमाशय , प्लीहा एवं एड्रिनल ग्लैण्ड।

2) **उपसहानुभूतिक मंडल-** सुषुम्ना के निचले खंड, जिसे सैक्रल कहते हैं और मस्तिष्क वृत से कुछ स्नायु निकलकर सीधे अंतरावयवों में जाते हैं। स्नायुओं से बने इसी स्नायुमंडल को उपसहानुभूतिक मंडल कहते हैं। ये देखने में साधारणतः सुषुम्ना नाड़ी की ही तरह प्रतीत होते हैं। लेकिन, वास्तव में अपने उद्गम स्थान से सीधे अंतरावयवों में जाते हैं तथा सहानुभूतिक मंडल की तरह ये भी केन्द्रीय स्नायुमंडल के बाहर ही संधिस्थलीय संपर्क बनाते हैं। चूंकि उपसानुभूति मंडल के स्नायु क्रेनियल एवं सैक्रल क्षेत्रों से निकलते हैं, अतत् इसे क्रैनियों - सैक्रेल सिस्टम भी कहते हैं और चूंकि और नीचे से गुजरती हैं, अतः इसे उपसहनुभूतिक मंडल कहते हैं। स्वतः संचालित स्नायुमंडल के इस भाग के अंतर्गत निम्नलिखित अवयवों का समावेश होता है- आँख का तारा, लार ग्रंथि, स्वेद ग्रंथि, अंतड़ियां, मूत्राशया इत्यादि।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी अवयव हैं, जिसका संबंध स्वतःचालित स्नायुमंडल के दोनों भागों में रहता है, जैसे- हृदय स्वेद ग्रंथि इत्यादि। इन दोनों भागों के कार्यों की एक प्रधान विशेषता यह होती है जो अवयव दोनों भागें के स्नायुतंतुओं से सम्बद्ध होते हैं, वहाँ इनकी क्रियाएँ परस्परविरोधी होती है। अर्थात् जब एक के कार्य में वृद्धि होती है तब दूसरा अपेक्षकृत शिथिल पड़ जाता है। इस प्रकार, स्वतःचालित स्नायुमंडल द्वारा अंतरावयवों की क्रियाओं का प्रभावकारी नियंत्रण होता है। लेकिन, इनमं किस भाग द्वारा कार्य में वृद्धि होगी और किस भाग द्वारा उसमें शिथिलता आएगी, यह उस अवयव द्वारा संपादित कार्य के स्वरूप पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, संवेगात्मक परिस्थिति में सहानुभूतिकक मंडल क्रियाशील होता है, जिससे हृदय की गति तीव्र हो जाती है, रक्तचाप बढ़ जाता है, एड्रिनल ग्रंथि का स्राव बढ़ जाता है, पसीना अधिक निकलता है इत्यादि। उसी समय उपसहानुभूतिक मंडल अपनी क्रिया स हृदय की गति को मंद कर देता है।, रक्तचाप को घटा देता है तथा पाचन क्रिया को बढ़ा देता है। इस प्रकार स्वतःचालित स्नायुमंडल उपर्युक्त विरोधी क्रियाओं द्वारा अतिरिक्त ऊर्जा का संचय कर शारीरिक क्रियाओं को नियंत्रित करता है।

3) **स्वतःचालित स्नायुमंडल में श्रम कार्य विभाजन-** महत्वपूर्ण जीवनोपयोगी क्रियाओं के संचालन एवं नियंत्रण का भार उपसहानुभूतिक मंडल पर रहता है। इन क्रियाओं के संचालन में

सहानुभूतिक मंडल की भूमिका उतनी महत्वपूर्ण नहीं होती है। प्रयोगों द्वारा देखा गया है कि पशुओं में से सम्पूर्ण सहानुभूतिक मंडल को हटा देने पर भी उनके जीवन की सामान्य क्रियाएँ बिना किसी प्रकार की बाधा के चलती रहती है। उदाहरणस्वरूप, उपसहानुभूतिक मंडल तीव्र प्रकाश मिलने पर आँख की पुतली को छोछ कर आँख की रक्षा करता है, निकट की चीजों को देखने हेतु लेंस को अभियोजित कतरा है तथा पाचन एवं मलोत्सेर्जन कि क्रिया को भी नियंत्रित करता है। यौन-उत्तेजना के समय यौनेन्द्रियों में इस विभाग द्वारा अधिक मात्रा में रक्त की आपूर्ति होती है, जिससे वे फैल जाते हैं और यौन आनंद की चरम सीमा की अवस्था में सहानुभूतिक मंडल नियंत्रण में रहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वतःचालित स्नायुमंडल के दोनों विभागों की क्रियाएँ सदा विरोधी स्वरूप की नहीं होती।

सहानुभूतिक मंडल की क्रियाएँ उस समय प्रधान होती है, जब प्राणी तीव्र मानसिक तनाव में रहता है या किसी प्रकार से उसका जीवन खतरे में रहता है, जैसे - किसी दुर्घटना के समय, परीक्षा भवन में जाते समय परीक्षा के भय से आक्रांत रहने पर, सिकी शल्यक्रिया से उत्पन्न भय की अवस्था में या क्रोध की अवस्था में। इन स्थितियों में सहानुभूतिक मंडल से सक्रिय होने पर फलस्वरूप रक्तचाप में वृद्धि रक्त में लाल कर्णों की गति में वृद्धि इत्यादि क्रियाएँ होती है।

उपसहानुभूतिक एवं सहानुभूतिक मंडलों की क्रियाओं में उपर्युक्त अंतरों के आधार पर कहा जा सकता है कि यदि उपसहानुभूतिक मंडल जीवनरक्षा सम्बन्धी दैनिक क्रियाओं के संचालन और संकट की स्थितियों से निबटने के लिए अतिरिक्त ऊर्जा संचित करने का कार्य करता है तो सहानुभूतिक मंडल आपातकालीन परिस्थितियों में जीवनरक्षक के रूप में कार्य करता है। जब प्राणी के सामने कोई गंभीर खतरा या संकटपूर्ण परिस्थिति उत्पन्न होती है तब सहानुभूतिक मंडल उपसहानुभूतिक मंडल द्वारा संचित ऊर्जा को बटोरकत उस परिस्थिति से निबटने में खर्च करता है और उपसहानुभूतिक मंडल को आपातकालीन परिस्थिति की अवधि में शिथिल रखता है। प्रायः निम्नलिखित तीन अवसरों पर यह अधिक सक्रिय होता है-

1. अति ठंड या सर्दी की स्थिति में,
2. जब उग्र रूप से कोई क्रिया करनी पड़ती है और
3. भय अथवा क्रोध की अवस्था में

क्रोध की अवस्था में जब उपसहानुभूति मंडल क्रियाशीलता होता है तब अग्रलिखित शारीरिक परिवर्तन होते हैं- आँखों की पुतलियां चौड़ी हो जीती है, पुतलियाँ उठी हुई और चौड़ी हो जाती है और नेत्रगोलक आगे की ओर निकला हुआ और उभरा हुआ प्रतीत होता है। हृदय की धड़कन बढ़ जाती है, रक्तचाप में वृद्धि हो जीती है, यकृत अधिक क्रियाशीलता हो उठता है, जिससे मांसपेशियों को अधिक मात्रा में चीनी मिलती है, प्लीहा की कार्यशीलता भी बढ़ जाती है, जिससे रक्तकोशिकाओं में अधिक मात्रा में हवा प्रवेश करती है और प्राणी जोर-जोर से सांस लेने लगता है, पाचन-क्रिया मंद पड़ जीती है, क्योंकि आतिक्रोध की अवस्था में अमाशय की तरंगवत गतियां रुक

जाती है या शिथिल पड़ जाती है और चाचन रस का स्राव भी ठहर जाता है। साथ ही, एड्रिनल ग्रंथि से एड्रेनलाइन स्राव की मात्रा बड़ जाती है, जिससे उपर्युक्त क्रियाएँ प्रबलित होती है।

4) **अतंरावयवी संवेदनाएँ-** स्वतः चालित स्नायुमंडल का सम्बन्ध अंतरावयवी संवेदनाओं से भी रहता है। इनके स्नायुओं में ही कई ऐसे मुख्य तंतु पाए जाते हैं, जो अतंरावयवों से सम्बद्ध होते हैं। सहानुभूतिक स्नायुमंडल के मुख्य तंतुओं का सम्बन्ध अंतरावयवों से होने वाली दर्द की संवेदनाओं से रहता है। स्नायुमंडल के इस भाग की सहायता में हमें पेट, छाती आदि आंतरिक अंगों में होने वाले दर्द की अनुभूति होती है। उपसहानुभूतिक मंडल का संबंध आमाशय, बड़ी आंत, मूत्राशय आदि अवयवों की संवेदनाओं से रहता है। इन्हीं संवेदनाओं द्वारा हमें वमन एवं पेशाब की संवेदना होती है तथा इन सजह क्रियाओं के नियंत्रण में सहायता मिलती है।

साधारणतः हमें अतंरावयवों में होने वाल गतियों या उत्तेजनाओं की चेतना का ज्ञान नहीं हो पता। लेकिनं कभी-कभी हमें अंतरावयवों की गतियों या परिवर्तनों का अनुभव होता है, जैसे-हृदय की धड़कन के तेज होने की अनुभूति या पेछ में दर्द की अनुभूति इत्यादि । ये अनुभव वस्तुतः सम्बद्ध अवयवों की दीवारों की मांसपेशियों से उत्तेजित होने से होते हैं न कि होने की अनुभूति सीधे अंतरावयवों से ही होती हैं असहाय दर्द की स्थिति में यह अनुभूति स्नायुओं में सिकुड़न या तीव्र भूख की अवस्था में आमाशय में संकुचन के रूप में होती है।

अतंरावयवों एवं बाह्य ज्ञानेन्द्रियों से उत्पन्न संवेदनाओं में एक मुख्य अन्त यह है कि अतंरावयवों की संवेदनाओं का सही-सही स्थान निरूपण प्रायः नहीं हो पाता लेकिन बाह्य ज्ञानेन्द्रिय से उत्पन्न संवेदनाओं का स्थान-निरूपण सही होता है।

स्वतःचालित स्नायुमंडल के बारे में ऊपर के वर्णन से ये स्पष्ट हो जाता है कि इसका सम्बन्ध मुख्य रूप से आंतरिक अभियोजन-सबन्धी व्यवहारों से रहता है तथा संवेग की अवस्थाओं में यह अधिक प्रधान रूप से कार्यशील रहता है।

15.5 स्वतः संचालित स्नायुमंडल एवं संवेग

संवेग में होने वाले शारीरिक परिवर्तनों के सम्बन्ध में किए गए अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि संवेग की अवस्था में अनेक शारीरिक परिवर्तन स्वतःसंचालित स्नायुमंडल के कारण होते हैं। इन्हें हम स्वतःसंचालित परिवर्तन कहते हैं। संवेग की उत्पत्ति एवं नियंत्रण में स्वतःसंचालित स्नायुमंडल के दोनों मुख्य भागों सहानुभूतिक मंडल एवं उपसहानुभूतिक मंडल की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

संवेग की अवस्था मे होने वाला विभिन्न आंतरिक परिवर्तनों का आधार स्वतःसंचालित स्नायुमंडल का सहानुभूतिक भाग ही हैं। खासकर, जेम्स जथा लॉजे ने संवेग का आधार सहानुभूतिक मंडल को ही माना है। उदाहरण्र के लिए भय का संवेग होने पर रक्तवाहिनी नाड़ियां-जिनेस आमाशय, अंतड़ी तथा अन्य आन्तरिक अवयवों को रक्त की पूर्ति होती हैं, सिकुड़ जाती है और जो रक्तवाहिनी

नाड़ियां बाहर की ओर मांसपेशियों में जाती है, वे फैलकर बढ़ जाती है। इसी प्रकार-पाचन-संस्थान की ओर से रक्त का प्रवाह मांसपेशियों की ओर मुड़ जाता है, जिनसे शरीर उस संवेगात्मक परिस्थिति के प्रति अत्यधिक सक्रियात के साथ स्नायविक प्रतिक्रिया करने हेतु तत्पर या तैयार हो जाता है। साथ-साथ हृदय की गति बढ़ जाती है, रक्तसंचार बढ़ जाता है तथा नाड़ी की गति भी जल्दी-जल्दी होने लगती है। इस प्रकार, रक्त संचार के माध्यम से मांसपेशियों को अधिक मात्रा में रैत की आपूर्ति होने लगती है। इसके अतिरिक्त मुंह का सूखना (लार के रूक जाने से) आँखो की पूतलियों का फैल जाना एवं आमाशय तथा अंतड़ी में गति का होना आदि परिवर्तन भी होते हैं।

हाल तक मनोवैज्ञानिकों का मत था कि सवंग में स्वतः संचालित स्नायुमंडल के उपसहानुभूति मंडल का कोई महत्व नहीं है। परन्तु पशुओं पर हुए प्रयोगों से ज्ञान हुआ है कि संवेग की अवस्था में केवल सहानुभूतिक मंडल ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण स्वतः संचालित स्नायुमंडल कार्यशील होता है। अतः कहा जा सकता है कि संवेग की अवस्था में स्वतः संचालित स्नायुमंडल का सम्पूर्ण भाग प्रभावति होता है।

15.6 सारांश

- स्वतः संचालित स्नायुमंडल का सम्बन्ध प्राणी की वैसी क्रियाओं के संचालन और नियंत्रण से रहता है, जो स्वतः होती है। उन क्रियाओं पर प्राणी का न तो कोई नियंत्रण रहता है और न उनके बारे में उसे कोई जानकारी रहती है।
- स्वतः संचालित स्नायुमंडल के दो भाग हैं- सहानुभूतिक मंडल एवं उपसहानुभूतिक मंडल । ये दोनों सिस्टम मिल-जुलकर कार्य करते हैं तथा आपातकाल में प्राणी रक्षा करते हैं।
- सहानुभूतिक मंडल के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रमुख अवयव आते हैं- यकृत , हृदय, आमाशय, प्लीहा एवं एड्रिनल ग्लैंड।
- उपसहानुभूतिक मंडल के अन्तर्गत आँख का तारा, लारग्रंथि, स्वेद ग्रंथि, अंतड़ियां, मूत्राशय आदि अवयव आते हैं।
- महत्वपूर्ण जीवनोपयोगी क्रियाओं के संचालन एवं नियंत्रण का भार उपहानुभूतिक मंडल पर रहता है। इन क्रियाओं के संचालन में सहानुभूतिक मंडल की भूमिका उतनी महत्वपूर्ण नहीं होती। सहानुभूतिक मंडल की क्रियाएँ उस समय प्रधान होती है जब प्राणी तीव्र मानसिक तनाव में रहता है या किसी प्रकार से उसका जीवन खतरे में रहता है।
- यदि उपसहानुभूतिक मंडल जीवन रक्षा सम्बन्धी दैनिक क्रियाओं के संचालन और संकट की स्थितियों से निबटने के लिए अतिरिक्त ऊर्जा संचित करने का कार्य करता है तो सहानुभूतिक मंडल आपातकालीन परिस्थितियों ने जीवन-रक्षा के रूप में कार्य करता है।
- संवेग की उत्पत्ति एवं नियंत्रण में स्वतः संचालित स्नायुमंडल के दोनो ही मुख्य भागों- सहानुभूतिक एवं उपसहानुभूतिक मंडल की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। वैसे संवेगात्मक

अवस्था में होने वाले विभिन्न आन्तरिक परिवर्तनों का आधार सहानुभूतिक तंत्र है, परन्तु आधुनिक शोधों से प्रमाणित हुआ है कि संवेग में दोनो ही सिस्टम मिल जुल कर कार्य करते हैं।

15.7 शब्दावली

- **सहानुभूतिक मंडलः** स्वतः संचालित स्नायुमंडल का वह भाग जिसका निर्माण सुषुम्ना नाड़ी से निकले स्नायुतंतुओं के छोटे पुलिंदों से हुआ है तथा जिसकी क्रियाएँ उस समय प्रधान होती है जब प्राणी तीव्र मानसिक तनाव में रहता है या किसी प्रकार से उसका जीवन खतरे में रहता है।
- **उपसहानुभूति मंडलः** स्वतः संचालित स्नायुमण्डल का वह भाग जिसका निर्माण क्रेनियल एवं सैक्रोल क्षेत्रों के स्नायुओं द्वारा होता है तथा जिसकी क्रियाएँ संकट की स्थितियों सें निबटने लिए अतिरिक्त ऊर्जा का संचयन एवं जीवन रक्षा संम्बन्धी दैनिक क्रियाओं का संचालन है।

15.8 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) स्वतः संचालित स्नायुमंडल का कौन-सा भाग उस स्थिति में जाग्रत होता है जब प्राणी का जीवन खतरे में रहता है?
2) स्वतः संचालित स्नायुमण्डल के किस भाग द्वारा संकट की स्थितियों में निबटने के लिए अतिरिक्त ऊर्जा का संचयन होता है?
3) संवेग की स्थिति में सहानुभूतिक मंडल की कार्यशीलता के कारण एड्रिनल ग्रंथि से .... एवं .... नामक हार्मोन्स का स्राव बढ जाता है।

उत्तरः 1) सहानुभूतिक मंडल 2) उपसहानुभूतिक मंडल 3) एपिनेफ्रिन एवं नॉरेपाइनेफ्रिन

15.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान- अरूण कुमार सिंह- मोतीलाल- बनारसी दास
- शारीरिक मनोविज्ञान - ओझा एवं भार्गव- हर प्रसाद भार्गव, आगरा
- आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान - सुलैमान एवं खान- शुक्ला बुक डिपो, पटना
- सामान्य मनोविज्ञान- सिन्हा एवं मिश्र - भारती भवन

15.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संवेग में स्वतः संचालित स्नायुमंडल की भूमिका का वर्णन करें।
2. सहानुभूति एवं उपसहानुभूति मंडल की कार्यप्रणाली में अन्तर बतायें।
3. संवेग में स्वतः संचालित स्नायुमंडल का कौन-सा भाग अधिक सक्रिय रहता है और क्यों?

ईकाई-16 बुद्धि की परिभाषा और स्वरूप, बुद्धि के सिद्धान्त

16.1 प्रस्तावना
16.2 उद्देश्य
16.3 बुद्धि की परिभाषा और स्वरूप
16.4 बुद्धि के सिद्धान्त
16.5 सारांश
16.6 शब्दावली
16.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
16.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
16.9 निबन्धात्मक प्रश्न

16.1 प्रस्तावना

बुद्धि के कारण ही मनुष्य सभी प्राणियों में श्रेष्ठ समझा जाता है। बुद्धि शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से ही प्रचलित है। प्रत्येक व्यक्ति बौद्धिक क्षमता के साथ जन्म लेता है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और सभी अवस्थाओं में यह क्षमता विद्यमान रहती है। शिक्षक, विद्यार्थी, अभिभावक तथा अधिकांश नागरिक बुद्धि से सम्बन्धित निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर जानने के लिए उत्सुक रहते हैं -

(1) बुद्धि क्या है ?

(2) इसका स्वरूप कैसा है ?

(3) इसकी मनोवैज्ञानिक परिभाषाएँ क्या हैं ?

अगले पृष्ठों में मैंने जो वर्णन प्रस्तुत किया है, उनको पढ़कर आप इन प्रश्नों के उत्तर देने में सक्षम हो जायेगे।

16.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप -

- बुद्धि की परिभाषाओं तथा स्वरूप को जान सकेंगे।
- बुद्धि के सिद्धान्तों का वर्गीकरण कर सकेंगे।

- बुद्धि के विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन कर सकेंगे।

16.3 बुद्धि की परिभाषा एवं स्वरूप

परिभाषा एवं स्वरूप-

बुद्धि के स्वरूप को समझने के लिए समय-समय पर मनोवैज्ञानिकों ने अपने विचार व्यक्त किये, परन्तु इस सम्बन्ध में वे एकमत नहीं हैं। उनके विचारों में असमानताएँ हैं। बुद्धि की प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं -

1) **स्पीयरमैन (1904, 1923)** - सामान्य योग्यता में मुख्यतः सम्बन्धों और सहसम्बन्धों की शिक्षा शामिल रहती है।
2) **बिने और साइमन (1905)** ने बुद्धि को अच्छी तरह निर्णय करने, अच्छी तरह समझने और अच्छी तरह तर्क के रूप में परिभाषित किया है।
3) **टरमन (1916)** ने बुद्धि को अमूर्त संप्रत्ययों और उनकी सार्थकता को पूर्ण रूप से समझ लेने की क्षमता कहा है।
4) **थॉर्नडाइक (1921)** के अनुसार ''उत्तम अनुक्रिया करने एवं नवीन परिस्थितियों के साथ समायोजन करने की योग्यता को बुद्धि कहते हैं।''
5) **वेश्लर (1939)** के अनुसार ''बुद्धि किसी व्यक्ति के उद्देश्यपूर्ण कार्य, विवेकपूर्ण चिन्तन तथा वातावरण के साथ प्रभावपूर्ण समायोजन करने की योग्यताओं का योगफल या सार्वभौम क्षमता है।''
6) **पियाजे (1972)** ने लिखा कि ''बुद्धि एक व्यापक शब्द है जो शारीरिक एवं सामाजिक पर्यावरण के अनुकूलन के लिए संज्ञानात्मक संरचना के सन्तुलन या संगठन के उच्च प्रारूप के उपयोग का संकेत होता है।''
7) **स्टर्नवर्ग (1985, 1986)** के अनुसार ''बुद्धि स्वचालित सूचना संसाधन की मानसिक क्षमता और नवीनता की अनुक्रिया में प्रासंगिक उपयुक्त व्यवहार का उत्सर्जन है; इसमें शामिल है मेंटाअवयव (जैसे नियोजन), निष्पादन अवयव (जैसे न्यायबद्ध तर्क), और ज्ञान-अर्जन अवयव (जैसे शब्द भण्डार के शब्दों के अर्जन की योग्यता)।''
8) **आइजिंक (1986)** ने बुद्धि को समस्याओं को हल करने की योग्यता या कौशल कहा।
9) **सैटलर (2001)** ने कहा कि ''बौद्धिक व्यवहार प्राणियों के उत्तरजीविता कौशलों से प्रतिबिम्बित होता है, जो मूल शारीरिक प्रक्रियाओं के साहचर्य से अलग होता है।''

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बुद्धि की उक्त परिभाषाओं में भिन्नताएँ हैं। बुद्धि की परिभाषाओं में दो बातें स्पष्ट हुई हैं- (1) यह अनुभव से सीखने की क्षमता है, और (2) यह अपने

पर्यावरण से अनुकूलन की योग्यता है। यह भी स्पष्ट है कि बुद्धि विभिन्न मूल योग्यताओं का समुच्चय है।

अतः यह कहा जा सकता है कि बुद्धि मूल योग्यताओं का संगठन है जिससे व्यक्ति को अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने का अवसर मिलता है। यह नवीन परिस्थितियों में व्यक्ति को समायोजन स्थापित करने में सहायता करती है। इसका सम्बन्ध अनुभवों के विश्लेषण एवं आवश्यकताओं के नियोजन तथा पुनर्संगठन से होता है।

16.4 बुद्धि के सिद्धान्त

अब हम बुद्धि के स्वरूप को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए बुद्धि सिद्धान्तों का उल्लेख करेंगे। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि बुद्धि के स्वरूप और सिद्धान्त में मूल रूप से क्या अन्तर है। इसका उत्तर यह है कि जहाँ बुद्धि के स्वरूप द्वारा इसके कार्यो पर प्रकाश डाला जाता है वहीं बुद्धि के सिद्धान्त द्वारा इसकी संरचना को स्पष्ट किया जाता है।

बुद्धि की संरचना कैसी है ? इसके कौन-कौन से तत्त्व हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए समय-समय पर मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि के अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। बुद्धि के प्रमुख सिद्धान्तों का क्रमवर वर्णन निम्नलिखित है –

1) स्पीयरमैन और सामान्य तत्त्व (Spearman, C. and the g Factor)-

बौद्धिक और संवेदी योग्यता के विभिन्न परीक्षणों के बीच सहसम्बन्ध प्रतिरूपों के गहन अध्ययन के आधार पर स्पीयरमैन (1904, 1923, 1927) ने यह प्रतिपादित किया कि बुद्धि दो प्रकार के कारकों से बना होता है एक एकल सामान्य कारक (g) और विभिन्न विशिष्ट कारक (S_1, S_2, S_3, ...) ।

सामान्य कारक (g) व्यक्ति की सभी मानसिक एवं बौद्धिक क्रियाओं में पाया जाता है। यह जन्मजात होता है तथा सभी व्यक्तियों में पाया जाता है। इस पर शिक्षण तथा प्रशिक्षण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। समस्त मानसिक क्रियाएँ कुछ सीमा तक सामान्य कारकों पर निर्भर रहती हैं। स्पष्ट है कि समस्त प्रकार की मानसिक क्रियाओं में सामान्य कारक (g) की आवश्यकता होती है।

विशिष्ट कारक व्यक्ति की किसी विशेष क्रियाओं में पाया जाता है। स्पष्ट है कि व्यक्ति के विभिन्न प्रकार की क्रियाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के विशिष्ट कारकों की आवश्यकता होती है। विशिष्ट कारक जन्मजात न होकर अधिकांशतः अर्जित होते हैं।

स्पीयरमैन ने अपने सिद्धान्त में सामान्य कारक (g) को अधिक महत्त्व दिया है। सामान्य तत्त्व स्थाई होता है जबकि विशिष्ट तत्त्व परिवर्तनशील होता है। स्पीयरमैन (1923) यह विश्वास करते

थे कि g में व्यक्तिगत विभिन्नता संज्ञान के तीन नियमों के उपयोग की योग्यता द्वारा प्रत्यक्षतः प्रतिबिम्बित होता है। ये तीन नियम हैं - अनुभव की समझ, सम्बन्धों की पश्चातवर्ती घटना की कल्पना कर लेने की प्रक्रिया, और सहसम्बन्धों का अनुमान लगा लेना।

स्पीयरमैन के दो कारक सिद्धान्त की अत्यन्त कठिन समस्या समूह कारक का अस्तित्व है। समूह कारक स्वयं में कोई अस्तित्व नहीं रखते, बल्कि विभिन्न विशिष्ट कारकों एवं सामान्य कारक के मिश्रण से अपना एक समूह निर्मित करते हैं।

2) थर्स्टन और प्राथमिक मानसिक योग्यताएँ (Thurston, L.L. and Primary Mental Abilities)-

थर्स्टन (1938) ने समूह कारकों के अस्तित्व के लिए सहसम्बन्ध आधारों की खोज में समर्थ कारक-विश्लेषण प्रक्रियाओं का विकास किया। थर्स्टन ने यह निष्कर्ष निकाला कि कुछ व्यापक समूह कारकों - न कि एकल सामान्य कारक - आनुभविक परिणामों की अच्छी व्याख्या करते हैं। अपने अनुसंधान जीवन अवधि में वे लगभग एक दर्जन विभिन्न कारकों को प्रस्तावित किए। उन कारकों में से केवल सात का प्रायः पुष्टि किया है। (थर्स्टन, 1938; थर्स्टन एवं थर्स्टन, 1941) और उन्हें प्राथमिक मानसिक योग्यताएँ (PAMs) कहा। वे निम्नलिखित हैं -

- वाचिक बोध **(Verbal Comprehension)**- यह शब्द ज्ञान का अच्छा मापक है, लेकिन इसमें पठन बोध और वाचिक समानार्थी की योग्यता भी सम्मिलित रहती है।
- शब्द प्रवाह **(Word Fluency)**- यह वर्ण विपर्यय (शब्द प्रवाह) या दी गई श्रेणियों में तीव्र गति से शब्दों के नामकरण का मापन करता है।
- संख्या **(Number)**- साधारण गणितीय परिगणन की गति एवं शुद्धता से सम्बन्धित है।
- दैशिक/स्थान **(Space)**-आयामीय वस्तुएँ यदि वे घूम रही हैं या आंशिक रूप से अलग-अलग कर दी गई हैं तो किस प्रकार प्रत्यक्षीकरण करेंगे की योग्यता से सम्बन्धित है।
- साहचर्यात्मक स्मृति **(Associative Memory)**- आदतजन्य पुनरावृत्तिक स्मृति कौशल।
- प्रात्यक्षिक गति **(Perceptual Speed)**- साधारण लिपिकीय कौशल में सम्मिलित रहना जैसे दृश्य विस्तार में समानताओं और विभिन्नताओं की जाँच करना।
- तर्क **(Reasoning)**- यह कारक नियमों को प्राप्त करने का उत्कृष्ट मापक है।
- थर्स्टन (1938) ने ''प्राथमिक मानसिक योग्यता परीक्षण'' जिसमें पृथक उपपरीक्षण सम्मिलित थे, प्रत्येक का उद्देश्य एक प्राथमिक मानसिक योग्यता (PMA) का मापन था का निर्माण किया।

3) वर्नन (1950, 1960) का पदानुक्रमिक समूह कारक सिद्धान्त (Vernon, P.F. (1950, 1960) Hierarchical Group Factor Theory)-

वर्नन के दृष्टिकोण से (g) एकल कारक है जो पदानुक्रम में सबसे ऊपर रहता है। पुनः (g) दो प्रमुख समूह कारकों में बँट जाता है -

(1) वाचिक शैक्षणिक और (2) व्यावहारिक-यांत्रिक-दैशिक-शारीरिक उक्त दो प्रमुख समूह कारकों के निचले भाग में कुछ छोटे समूह कारक होते हैं जो थर्स्टन के 'प्राथमिक मानसिक योग्यताओं' के समान होते हैं। यह निम्न चित्र से स्पष्ट है।

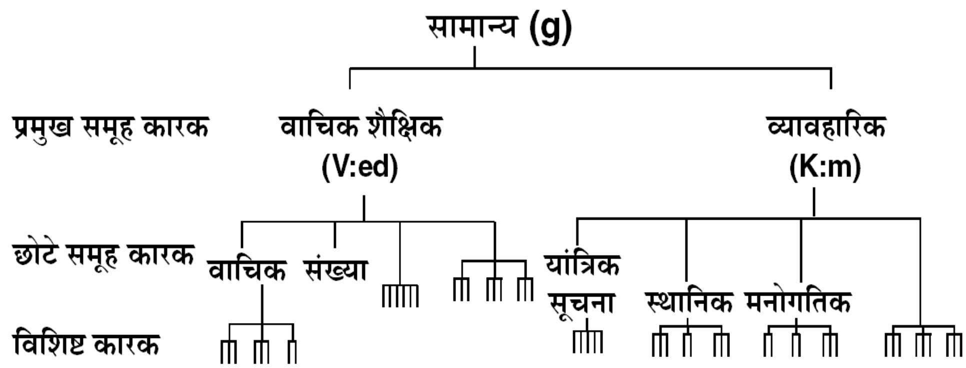

4) **कैटेल और तरल/ठोस विभेद (Cattel, R. (1941, 1971) and the Fluid/Crystallized Distinction)-**

कैटेल ने बुद्धि की संरचना का अध्ययन कारक विश्लेषण विधि के द्वारा किया। कैटेल ने दो प्रमुख कारकों की पहचान की -

1) **तरल बुद्धि (Fluid Intelligence g_f)-** तरल बुद्धि अवाचिक होती है। यह व्यक्ति की सीखने और समस्याओं को हल करने की वंशानुगत क्षमता से सम्बन्धित होती है। इस प्रकार तरल बुद्धि का उपयोग नई स्थिति में अनुकूलन के लिए आवश्यक होता है।
2) **ठोस बुद्धि (Crystallized Intelligence g_c)-** ठोस बुद्धि उच्च रूप से संस्कृति पर निर्भर रहती है। यह अनुभवों, सीखने तथा वातावरण कारकों के परिणामस्वरूप होती है।

तरल बुद्धि को बनाने वाली योग्यताएँ अवाचिक होती हैं और विशिष्ट सांस्कृतिक पक्षों पर आधारित नहीं होती। इसी कारण कैटेल (1940) यह विश्वास करते थे कि तरल बुद्धि का मापन संस्कृति-मुक्त (culture-free) है। अपने इस धारणा के आधार पर वे संस्कृति निष्पक्ष बुद्धि परीक्षण (Culture Fair Intelligence Test) का निर्माण किया।

5) पियाजे और अनुकूलन (Piaget, J. and Adaptation)-

पियाजे (1926, 1952, 1972) ने बच्चों पर साक्षात्कार और अनौपचारिक परीक्षण का उपयोग कर बौद्धिक विकास के बारे में प्रेरक और क्रान्तिकारी दृष्टिकोणों को एक श्रृंखला के रूप में विकसित किया। उनके नये परिप्रेक्ष्य में निम्नलिखित बिन्दु शामिल हैं -

- बच्चों के विचार प्रौढ़ों के विचार से गुणात्मक रूप से भिन्न होता है।
- मनोवैज्ञानिक संरचनाओं को स्कीमा (Schemas- रूपरेखा) कहा है जो विश्व के बारे में नवीन ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राथमिक आधार प्रदान करते हैं।
- संज्ञानात्मक विकास के चार अवस्थाओं की पहचान की।
- प्रक्रिया जिसके द्वारा स्कीमा अत्यधिक परिपक्व होता है उसे साम्यधारण की प्रक्रिया कहा है। साम्यधारण (equilibration) को समझने के लिये पियाजे के तीन सम्प्रत्ययों को समझना होगा-आत्मसात्करण (assimilation) अनुकूलन (accommodation) और साम्य/सन्तुलन (equilibration)

पियाजे के अनुसार बच्चा प्रारम्भ से ही अपने कार्यों एवं अनुभवों के द्वारा नवीन तथ्यों को ग्रहण एवं व्यवस्थित करता है जिसको पियाजे ने आत्मसात्करण (assimilation)कहा। यह सीखने की आधारभूत प्रक्रिया है जो जीवन पर्यन्त चलती है। आत्मसात्करण की प्रक्रिया अनुकूलन (accommodation) के द्वारा परिमार्जित होती रहती है। कई स्थितियाँ बच्चों को क्रियाएँ करने में अवरोध उत्पन्न करती हैं। बच्चा उन स्थितियों के साथ अनुकूलन का प्रयास करता है। स्पष्ट है आत्मसात्करण की प्रक्रिया से बच्चे के अनुभव में वृद्धि होती है और अनुकूलन की प्रक्रिया उसे नवीन स्थितियों में सामंजस्य बनाने में सहायता करती है। इस प्रकार यह दोनों प्रक्रियाएँ बौद्धिक विकास को नियंत्रित करती हैं।

पियाजे यह विश्वास करते थे कि साम्य/सन्तुलन (equilibration) का प्रयास मानव प्रजाति की आनुवांशिक विशेषता है।

पियाजे ने संज्ञानात्मक विकास की चार अवस्थाओं को प्रस्तावित किया। उनके विचार से प्रत्येक अवस्था एक दूसरे से गुणात्मक रूप से अलग होती है और विचार के विशिष्ट प्रतिरूपों के द्वारा विशेषीकृत होती है।

6) गिल्फोर्ड और बौद्धिक संरचना प्रतिरूप (Guilford, J.P. and the Structure of Intellect Model)-

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद गिल्फोर्ड (1967, 1985, 1988) ने बुद्धि के तत्वों के लिए खोज जारी रखा। गिल्फोर्ड ने यह निष्कर्ष निकाला कि ज्ञात मानसिक योग्यताओं की संख्या थर्स्टन

द्वारा प्रस्तावित सात से कहीं अधिक है। गिल्फोर्ड ने बुद्धि की परिष्कृत संरचना प्रतिरूप को प्रस्तावित किया। इस प्रतिरूप में बौद्धिक योग्यताओं को तीन आयामों में वर्गीकृत किया। तीन आयाम निम्न हैं -

(1) संक्रियाएँ (Operations)
(2) विषयवस्तुओं (Contents)
(3) उत्पादनों (Products)

संक्रियाएँ (Operations) - गिल्फोर्ड के अनुसार परीक्षण में कुछ बौद्धिक संक्रिया की आवश्यकता होती है। अधिकांश परीक्षण एकांश निम्नलिखित छः संक्रियाओं में से एक पर जोर देती हैं।

1- संज्ञान (cognition), 2- स्मृति धारणा (memory retention), 3- स्मृति अभिलेखन (memory recording), 4- अपसारी चिन्तन (divergent thinking), 5- अभिसारी चिन्तन (convergent think), तथा 6- मूल्यांकन (evaluation).

विषयवस्तुएँ (Contents)- विषयवस्तु परीक्षक द्वारा प्रस्तुत सूचना या सामग्रियों के स्वरूप से सम्बन्धित होती हैं। पाँच विषयवस्तु श्रेणियाँ निम्नलिखित हैं -

दृष्टि (visual), श्रवण (Auditory), सांकेतिक (symbolic), शाब्दिक (semantic), और व्यावहारिक (behavioural)।

उत्पाद (Products)- उत्पाद गिल्फोर्ड के मॉडल का तीसरा आयाम है। यह शुद्ध उत्तर प्राप्त करने के लिए मस्तिष्क द्वारा प्रस्तुत विभिन्न प्रकार की मानसिक संरचना से सम्बन्धित होता है। छः प्रकार के उत्पादन निम्नलिखित हैं - इकाई, वर्ग, सम्बन्ध, तंत्र, रूपान्तरण तथा आशय।

गिल्फोर्ड (1985) ने छः प्रकार की संक्रियाएँ, पाँच प्रकार की विषयवस्तु और छः प्रकार के उत्पादों, 6x5x6 या 180 बुद्धि के कारकों की पहचान की है। संक्रिया (जैसे स्मृति), विषयवस्तु (जैसे सांकेतिक), और उत्पादन (जैसे इकाई) का प्रत्येक सम्मिश्रण बुद्धि के भिन्न कारक को प्रस्तुत करता है। गिल्फोर्ड ने अपने अनुसंधान में 100 से अधिक कारकों को प्रमाणित करने का दावा किया है।

7) समकालिक और आनुक्रमिक संसाधन का सिद्धान्त (Theory of Simultaneous and Successive Processing)-

यह सिद्धान्त लूरिया (1966) के स्नायुमनोवैज्ञानिक खोज पर आधारित है। सूचना का समकालिक संसाधन, कुछ विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं के एक साथ निष्पादन के द्वारा विशेषीकृत होता है। स्थानिक (spatial) विश्लेषण में आवश्यक प्रत्यक्षीकरण और चिंतन के प्रारूपों (जैसे धन

(cube) का चित्रांकन) के लिए सहसामयिक सूचना संसाधन आवश्यक होता है। लूरिया ने यह खोज किया कि सहसामयिक संसाधन मस्तिष्क के पश्च (occipital) और मध्य (parietal) खण्ड से साहचर्यित होता है।

संक्रियाओं के उपयुक्त अनुक्रम की मानसिक गतिविधियों के लिए सूचना का आनुक्रमिक संसाधन आवश्यक होता है। स्पष्ट है कि आनुक्रमिक संसाधन अंकों की श्रृंखला, शब्दों के आवर्ती फैलाव और हाथ गति की श्रृंखला के अनुकरण से सम्बन्धित है। लूरिया आनुक्रमिक संसाधन के मस्तिष्क के शंख खण्ड (temporal lobe) और अग्रखण्ड (frontal lobe) को स्थानीकृत किया है।

8) बुद्धि के सूचना संसाधन सिद्धान्त (Information Processing Theories of Intelligence)-

बुद्धि के सूचना संसाधन सिद्धान्त ने यह प्रस्तावित किया कि व्यक्ति किस प्रकार सूचना को मानसिक रूप से प्रस्तुत और संसाधित करता है।

कैम्पिओन और ब्राउन (Campion and Brown), 1978; बोरकोवस्की (Borkowski), 1985 ने कम्प्यूटर के प्रकार्य के आधार पर बौद्धिक प्रकार्यों को दो भागों में बाँटा है -

(1) वास्तुशिल्पीय तन्त्र (Architectural System)- वास्तुशिल्पीय तन्त्र सूचना संसाधन के लिए आवश्यक जैविक आधारित विशेषताएँ हैं, जैसे स्मृति विस्तार और सूचना का (encoding/decoding) । वास्तुशिल्पीय तंत्र में क्षमता (जैसे-अल्पकालिक स्मृति, दीर्घकालिक स्मृति), स्थायित्व (जैसे सूचना क्षति की दर), और संक्रिया की क्षमता (जैसे-स्मृति की दर) सम्मिलित है।

(2) कार्यकारी तन्त्र (Executive System)- कार्यकारी तन्त्र-समस्या समाधान का मार्ग दिखलाने वाले पर्यावरणीय अधिगमित अवयवों, प्रकार्यत्मक अवयवों में निर्देशन प्रदान करने वाले तत्वों से सम्बद्ध होता है। कार्यकारी तन्त्र के तत्वों में सम्मिलित हैं- ज्ञान आधार (दीर्घकालिक स्मृति से ज्ञान की पुनःप्राप्ति), स्कीमा (चिंतन के नियमों), नियंत्रण प्रक्रियाएँ (नियमों और कौशलों जैसे स्वजाँच एवं अभ्यास), और संज्ञानात्मक प्रकार्यों का नियम (अपने स्वयं की विचार प्रक्रियाओं की आत्म जागरुकता)।

9) गार्डनर और विविध बुद्धि सिद्धान्त (Gardner, H. and the Theory of Multiple Intelligence)-

गार्डनर (1983, 1993) ने मस्तिष्क-व्यवहार सम्बन्ध अध्ययनों के आधार पर बहुबुद्धि के सिद्धान्त को प्रस्तावित किया। गार्डनर ने सात प्रकार की प्राकृतिक बुद्धि को बतलाया। सात बुद्धि है-

(1) भाषाविषयक बुद्धि (Linguistic intelligence)

(2) तार्किक गणितीय बुद्धि (Logical mathematical intelligence)
(3) स्थानिक बुद्धि (Spatial intelligence)
(4) संगीतपरक बुद्धि (Musical intelligence)
(5) शारीरिक गति बुद्धि (Bodily kinesthetic intelligence)
(6) अन्तर्वैयक्तिक बुद्धि (Interpersonal intelligence)
(7) अन्तरावैयक्तिक बुद्धि (Intrapersonal intelligence)

भाषा बुद्धि कार्य के वाचिक भाषा बोध से सम्बन्धित है जिसमें बोलने, सुनने, पढ़ने और लिखने का कौशल शामिल है। तार्किक गणितीय बुद्धि अमूर्त चिंतन कौशल के लिए आवश्यक है। स्थानिक बुद्धि वस्तुओं की कल्पना करने, स्थान में अपनी स्थिति निर्धारण, एक स्थान से अन्य स्थान का मार्गनिर्देशन की योग्यता है। संगीतपरक बुद्धि सभी संस्कृतियों में पाई जाती है। यह लय (rhythm) तारता (pitch), ध्वनि की स्वर सम्बन्धी गुण से सम्बन्धित है। शारीरिक गति बुद्धि शरीर की गति को नियंत्रित करने की योग्यता है। अन्तर्वैयक्तिक बुद्धि अन्य व्यक्तियों के समझने की योग्यता से सम्बद्ध है। अन्तरावैयक्तिक बुद्धि अपने स्वयं के विचारों और भावनाओं की समझ, अपने स्वयं के क्रियाओं के कारण एवं परिणाम की समझ की योग्यता है।

गार्डनर (1998) ने बुद्धि के उपरोक्त सूची में तीन नाम जोड़े जो इस प्रकार है-

(1) प्रकृतिवादी बुद्धि (naturalistic intelligence)
(2) आध्यात्मिक बुद्धि (spiritual intelligence)
(3) अस्तित्वात्मक बुद्धि (existential intelligence)

सामान्य रूप से विविध बुद्धि सिद्धान्त अपनी सरलता में सम्मोहक है, लेकिन इसकी वैधता में बहुत कम आनुभविक अध्ययन हुए हैं। गार्डनर का यह सिद्धान्त विवादास्पद भी है।

10) स्टर्नबर्ग और बुद्धि का त्रितन्त्र सिद्धान्त (Sternberg, R.J. and the Triarchic Theory of Intelligence)-

स्टर्नबर्ग (1985, 1986, 1996) ने पूर्व सिद्धान्तवादियों की अपेक्षा बुद्धि के स्वरूप का व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने प्रस्तावित किया कि बौद्धिक व्यवहार के लिए निश्चित मानसिक तन्त्र की आवश्यकता होती है। वे इस बात पर भी बल दिये कि वास्तविक विश्व पर्यावरण के अनुकूलन में बुद्धि शामिल रहती है।

स्टर्नबर्ग के सिद्धान्त को त्रितन्त्र कहा जाता है, क्योंकि इसमें बुद्धि के तीन पक्षों का वर्णन है:

(1) संघटकीय बुद्धि (componental intelligence)
(2) अनुभवजन्य बुद्धि (experimental intelligence)

(3) प्रासंगिक बुद्धि (contextual intelligence)

उपरोक्त बुद्धि के प्रकारों में दो या अधिक उपअवयव हैं। इनका वर्णन निम्नलिखित है -

(अ) संघटकीय बुद्धि

1. मेंटाघटक या कार्यकारी प्रक्रियाएँ (जैसे- नियोजन)
2. निष्पादन घटकों (जैसे - न्यायबद्ध तर्क)
3. ज्ञान-अर्जन घटकों (जैसे- शब्द भण्डार के लिए शब्दों के अर्जन की योग्यता)

(ब) अनुभवजन्य बुद्धि

1. नवीनता का सामना करने की योग्यता
2. स्वायत्त सूचना संसाधन की योग्यता।

(स) प्रासंगिक बुद्धि

1. वास्तविक विश्व पर्यावरण का अनुकूलन
2. अनुकूल पर्यावरण का चुनाव
3. पर्यावरण के अनुकूल करना।

इस सिद्धान्त के सभी पक्षों का सत्यापन अभी तक नहीं हो पाया है।

इस प्रकार आपने देखा कि बुद्धि के स्वरूप को समझने के लिए समय-समय पर मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययनों के आधार पर सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। वे सभी सिद्धान्त अपने-अपने ढंग से बुद्धि को समझाने का प्रयास किया है।

16.5 सारांश

1. विद्वानों के अनुसार बुद्धि में दो बातें सम्मिलित होती हैं - अनुभव से सीखने की क्षमता और अपने पर्यावरण में अनुकूलन की क्षमता।
2. स्पीयरमैन ने प्रस्तावित किया कि बुद्धि में दो प्रकार के कारक पाये जाते हैं- एकल सामान्य कारक 'g' और विभिन्न विशिष्ट कारक, S_1, S_2, S_3, ... S_n ।
3. थर्स्टन ने कहा कि बुद्धि में एकल सामान्य कारक की अपेक्षा सात समूह कारक होते हैं। वे सात हैं वाचिक बोध, शब्द प्रवाह, संख्या, स्थान, साहचर्यात्मक स्मृति, प्रात्यक्षिक गति और तर्क। अन्ततः, थर्स्टन 'g' को एक उच्च क्रम के कारक के रूप में स्वीकार किया।
4. वर्नन ने बुद्धि को पदानुक्रमिक समूह कारक के रूप में बतलाया है। पहले क्रम में एकल कारक 'g' है। द्वितीय क्रम में दो कारक हैं- (1) वाचिक-शैक्षणिक, और (2) व्यावहारिक-यांत्रिक-

दैशिक-शारीरिक। निचले क्रम में कुछ छोटे समूह कारक होते हैं जो थर्स्टन के 'प्राथमिक मानसिक योग्यताओं' के समान होते हैं।

5. कैटेल ने प्रस्तावित किया कि बुद्धि दो प्रमुख कारकों से बना है, तरल बुद्धि (g_f) और ठोस बुद्धि (g_c)। तरल बुद्धि विस्तृत रूप से अवाचिक और संस्कृति मुक्त होती है। ठोस बुद्धि उच्च रूप से संस्कृति पर निर्भर होती है और यह आदतजन्य अनुक्रिया या सीखने से प्रभावित होती है।
6. पियाजे ने अपने बुद्धि के सिद्धान्त में विकासात्मक विचार को प्रस्तावित किया। उन्होंने निम्नलिखित तीन बातों पर प्रकाश डाला -
    a. बच्चों के विचार प्रौढ़ों के विचार से गुणात्मक रूप से अलग होते हैं।
    b. मनोवैज्ञानिक संरचनाओं को स्कीमा कहा। स्कीमा विश्व के बारे में नया ज्ञान प्राप्त करने के लिए आधार प्रदान करते हैं।
    c. बौद्धिक विकास चार अवस्थाओं में पूर्ण होता है।
7. गिल्फोर्ड ने बौद्धिक-संरचना प्रतिरूप में बुद्धि के बहुकारक स्वरूप का वर्णन किया है। वह बौद्धिक योग्यताओं को तीन आयामों के साथ वर्गीकृत किया, जिन्हें संक्रियाएँ (6 प्रकारों), विषयवस्तुओं (5 प्रकारों), और उत्पादनों (6 प्रकारों) कहा। इस प्रकार गिल्फोर्ड बुद्धि के 180 विभिन्न कारकों को प्रस्तावित किया।
8. समकालिक और आनुक्रमिक संसाधन सिद्धान्त के अनुसार मानव मस्तिष्क दो अलग प्रारूप की सूचना संसाधन रखते हैं: समकालिक, जिसमें प्राथमिक रूप से सूचना के स्थानिक समूहों का संसाधन एक ही बार में होता है, और आनुक्रमिक, जिसमें सूचनाएँ अनुरेखीय क्रम में अस्थाई रूप से संगठित होती हैं।
9. बुद्धि का सूचना संसाधन सम्प्रत्यय कम्प्यूटर के प्रकार्यों पर आधारित है। इसके दो भाग हैं -
    a. वास्तुशिल्पीय तन्त्र (hardware) की विशेषताओं में स्मृति विस्तार और सूचना का कूटसंकेत/कूटानुवाद प्रमुख है, इसमें क्षमता, स्थायित्व और संक्रिया की क्षमता सम्मिलित है।
    b. कार्यकारी अवयव - इसमें समस्या समाधान का मार्ग दिखलाने वाले पर्यावरणीय अधिगमित अवयव सम्मिलित रहता है।
10. गार्डनर ने मस्तिष्क-व्यवहार सम्बन्ध के अध्ययन पर आधारित बहुल बुद्धि सिद्धान्त को प्रस्तावित किया। वह कुछ सम्बद्ध स्वतन्त्र बुद्धि के अस्तित्व के लिए तर्क दिये, जिसमें सम्मिलित हैं - भाषाविषयक, तार्किक-गणितीय, स्थानिक, शारीरिक गति, संगीतपरक और व्यक्तिगत।
11. स्टर्नबर्ग ने बुद्धि के त्रितन्त्र सिद्धान्त को प्रस्तावित किया जिसमें निम्न पक्ष हैं: संघटकीय बुद्धि (आन्तरिक मानसिक तन्त्र जो बौद्धिक व्यवहार के लिए उत्तरदायी होती हैं), अनुभवजन्य बुद्धि (नवीन कार्यों के साथ प्रभावपूर्ण कार्य करने की योग्यता), और प्रासंगिक बुद्धि (वास्तविक विश्व पर्यावरण के चयन एवं अनुकूलन की क्षमता)।

16.6 शब्दावली

- **बुद्धि(Intelligence):** बुद्धि मूल योग्यताओं का संगठन है जिससे व्यक्ति को अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने का अवसर मिलता है। यह नवीन परिस्थितियों में व्यक्ति को समायोजन स्थापित करने में सहायता करती है। इसका सम्बन्ध अनुभवों के विश्लेषण एवं आवश्यकताओं के नियोजन तथा पुनर्संगठन से होता है।
- **वाचिक बोध (Verbal Comprehension):** यह शब्द ज्ञान का अच्छा मापक है, लेकिन इसमें पठन बोध और वाचिक समानार्थी की योग्यता भी सम्मिलित रहती है।

16.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. गिल्फोर्ड के बौद्धिक संरचना प्रतिरूप में बुद्धि के कितने कारक हैं ?
   a) 165 b) 160 c) 180 d)175
2. स्टर्नबर्ग के सिद्धान्त में कितने घटक हैं ?
   a) 4 b) 3 c) 5 d) 6

उत्तर: 1) c 2) b

16.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- Anastasi, A. and Urbina, S. (1997). Psychological Testing (7th ed.), Pearson Education.
- Cassin, S. (1998). Psychology (2nd ed.). Prentice Hall, New Jersey.
- Gregory, R.J. (2004). Psychological Testing : History, Principles, and Applications (4th ed.). Pearson Education.
- Murphy, K.D. - Davidshofer, C.O. (1998). Psychological Testing : Principles and Application (4th ed.). Upper Saddle River, N.J. : Prentice Hall.

16.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3. बुद्धि की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर इसके स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
4. कारक विश्लेषण पर आधारित बुद्धि के सिद्धान्तों का वर्णन करें।
5. पियाजे के अनुकूलन सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं ?
6. बुद्धि के सूचना संसाधन सिद्धान्त को स्पष्ट करें।
7. समकालिक और आनुक्रमिक संसाधन सिद्धान्त का क्या आधार है?
8. विविध बुद्धि सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं ?

ईकाई–17 बुद्धि का मापन, बुद्धि मापन का उपयोग

17.1 प्रस्तावना
17.2 उद्देश्य
17.3 बुद्धि का मापन
17.3.1 नवजात शिशु योग्यता का मापन
17.3.2 पूर्व विद्यालय बुद्धि मापन
17.3.3 बच्चों की बुद्धि का मापन
17.3.4 प्रौढ़ बुद्धि मापन
17.3.5 अन्य बुद्धि मापन परीक्षण
17.4 बुद्धि परीक्षणों का उपयोग
17.5 सारांश
17.6 शब्दावली
17.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
17.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
17.9 निबन्धात्मक प्रश्न

17.1 प्रस्तावना

व्यक्ति में बौद्धिक क्षमताएँ जन्म से ही विद्यमान रहती हैं। जीवन के प्रत्येक अवधि और मानव के प्रत्येक कार्यों में इसकी क्षमता प्रदर्शित होती है। इसलिए इसके मापन में नवजात शिशु के बुद्धि मापन से लेकर प्रौढ़ावस्था तक के व्यक्तियों की बुद्धि मापने के लिए समय-समय पर परीक्षणों का विकास किया गया है। बुद्धि के मापन से आशय बुद्धि के विभिन्न तत्वों का मापन है। बुद्धि परीक्षणों का अत्यन्त व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में इसकी आवश्यकता होती है।

17.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप -

- बुद्धि के मापन को जान सकेंगे।

- बुद्धि मापन के परीक्षणों का वर्गीकरण कर सकेंगे।
- विभिन्न बुद्धि परीक्षणों के बारे में जान सकेंगे।
- बुद्धि परीक्षणों के उपयोग का वर्णन कर सकेंगे।

17.3 बुद्धि का मापन

यहाँ पर नवजात शिशु के बुद्धि मापन परीक्षणों से लेकर प्रौढ़ व्यक्तियों की बुद्धि मापन के प्रमुख परीक्षणों का वर्णन किया जा रहा है।

17.3.1 नवजाता शिशु योग्यता का मापन (Assessment of Infant Ability)-

क. नवजाता शिशु व्यवहार मूल्यांकन मापनी (Brazelton - Nugent)
(Neonatal Behavioural Assessment Scale - NBAS)

इस मापनी का विकास ब्रेजिल्टन और नूजीन्ट (1995) ने किया। यह मापनी जन्म से लेकर 2 माह की आयु के लिए उपयोगी है, लेकिन सामान्यतः जीवन के प्रथम सप्ताह में प्रशासित की जाती है। यह मापनी नवजाता शिशु के व्यावहारिक रंगपटल का मापन 28 व्यवहार एकांशों के द्वारा करती है, प्रत्येक एकांश का अंकन 9 बिन्दु मापनी के अनुसार करते हैं।

इसके अतिरिक्त नवजात के स्नायुविक स्थिति का मूल्यांकन 18 प्रतिवर्ती क्रिया एकांशों पर करते हैं, प्रत्येक एकांश को 4 बिन्दु मापनी पर प्राप्तांक दिया जाता है।

इस मापनी में 7 पूरक एकांश भी है जो नवजात के प्रतिक्रिया शीलता के गुणों को मापती हैं।

ख. मनोवैज्ञानिक विकास की क्रमिक मापनी (Uzgiris and Hunt, 1989)
(Ordinal Scales of Psychological Development)

इस मापनी का निर्माण उजगिरिस और हण्ट(1989) ने किया। इस मापनी को क्रमिक मापनी कहते हैं। यह दो सप्ताह से दो वर्ष की आयु के बच्चों की बौद्धिक विकास का मापन के लिए बनाया गया है। यह मापनी पियाजे के सिद्धान्त पर आधारित है।

क्रमिक मापनी में छः मापनियाँ हैं, प्रत्येक मापनी पियाजे द्वारा वर्णित विकास की प्रथम अवस्था-संवेदीगतिक बुद्धि अवस्था-में विकसित होने वाली विशिष्ट योग्यता के मापन हेतु अभिकल्पित किया गया है। प्रत्येक मापनी 5 से 15 पृथक क्रमिक चरणों की है, जिसके एकांश सामान्यतः अपरिवर्तनीय विकासात्मक क्रम में व्यवस्थित हैं। मापनियां निम्नलिखित हैं:

1) वस्तु निष्पादन (Object Performance)

2) इच्छित पर्यावरणीय अन्त प्राप्त करने के लिए अर्थों का विकास (Development of Means for achieving desired environmental ends) - बच्चा अपने हाथ और अन्य अर्थों, जैसे रस्सी, छड़ी, सहारा इत्यादि का उपयोग वस्तुओं तक पहुँचने के लिए करता है।
3) अनुकरण (Imitation) - इसमें सांकेतिक और वाचिक दोनों अनुकरण सम्मिलित रहते हैं।
4) संक्रियात्मक दुर्घटना (Operational Casuality) - इसमें बच्चा वस्तुगत दुर्घटना की पहचान करता है और उनसे अनुकूलन करता है। (यांत्रिक खिलौनों के द्वारा)
5) स्थान में वस्तु सम्बन्धों (Object Relations in Space) -बच्चा स्थान में वस्तुओं के जगह निर्धारण और सूचीबद्ध करने के लिए स्कीमा का समन्वय करता है (जैसे कुछ सम्बन्ध है - डिब्बा, सन्तुलन, गुरुत्वाकर्षण)।
6) वस्तुओं के वर्णन के लिए योजनाओं का विकास (Development of Schemata for relating to objects)

17.3.2 पूर्व विद्यालय बुद्धि का मापन (Assessment of Preschool Intelligence)-

क- बच्चों की योग्यताओं का मेंक्कार्थे मापनियाँ (McCarthy Scales of Children's Abilities) - MSCA एक व्यक्तिगत प्रशासित बुद्धि परीक्षण है जो 2.5 से 8.5 वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिए निर्मित की गयी है। इसका निर्माण मेंक्कर्थे (McCarthy) ने 1972 में किया। इस परीक्षण में 18 पृथक उपपरीक्षण हैं। उपपरीक्षण पाँच मापनियों पर प्राप्तांक प्रदान करते हैं। प्रत्येक मापनी का सम्बन्ध तीन से सात उपपरीक्षणों से हैं। मापनियाँ और उससे सम्बन्धित उपपरीक्षणों का वर्णन निम्नलिखित है -

1) वाचिक (Verbal) - चित्रात्मक स्मृति, शब्द ज्ञान, वाचिक स्मृति, विपरीत साम्यानुमान।
2) प्रात्यक्षिक निष्पादन (Perceptual Performance) - गुटका निर्माण, पहेली हल करना, निकासी अनुक्रम, दाहिना-बाया उन्मुखता, आकृति का निर्माण, बच्चे की आकृति निर्माण, सम्प्रत्यायात्मक समूहीकरण।
3) परिमाणात्मक (Quantitative) - आंकिक प्रश्न, संख्यात्मक स्मृति, गिनना और छाँटना।
4) स्मृति (Memory) - वाचिक मापनी का पहला और तीसरा उपपरीक्षण, प्रात्यक्षिक निष्पादन, मापनी का तीसरा उपपरीक्षण, परिमाणात्मक मापनी का दूसरा उपपरीक्षण।
5) गतिक (Motor) - प्रात्यक्षिक निष्पादन मापनी का पाँचवां और छठां उपपरीक्षण, इसके अतिरिक्त तीन अन्य उपपरीक्षण हैं - पैर समन्वयवन, हाथ समन्वयन एवं अनुकरणात्मक क्रिया।

उक्त पाँच मापनियों के अतिरिक्त 'सामान्य संज्ञानात्मक सूचकांक' (जिसका मध्यमान 100 और मानक विचलन 16 होता है) की भी गणना की जाती है। इस परीक्षण के द्वारा सामान्य बच्चों और अधिगम अयोग्यताओं दोनों का मापन होता है।

ख- नवजात विकास की बेले मापनियाँ–II -(Bayley Scales of Infant Development-II)

BSID का विकास बेले ने 1969 में किया। इसका संशोधित प्रारूप (BSID-II) 1993 में आया। Bayley-II के द्वारा एक माह से 42 माह तक के बच्चों की बौद्धिक क्षमता का मापन किया जाता है। इस परीक्षण में तीन मापनी सम्मिलित हैं:

1. मानसिक मापनी (Mental Scale)- इसके द्वारा मापी जाने वाली योग्यताएँ हैं- सांवेदिक/प्रात्यक्षिक तीक्ष्णता, वस्तुस्थिरता का अर्जन, स्मृति-अधिगम और समस्या समाधान, उच्चारण-वाचिक सम्प्रेषण, अमूर्त चिंतन का प्रारम्भिक प्रमाण, आदत, मानसिक मानचित्रण, जटिल भाषा और गणितीय संप्रत्यय का निर्माण।
2. गतिक मापनी (Motor Scale)- निम्नलिखित कौशलों को मापती है- शारीरिक नियंत्रण की मात्रा, मांसपेशीय समन्वय, हाथ और अंगुलियों का उत्कृष्ट गतिक नियंत्रण, सक्रिय गति, सक्रिय आचरण, भाव भंगिमा का अनुकरण।
3. व्यवहार श्रेणीकरण मापनी (Behavior Rating Scale)- यह मापनी व्यक्तित्व विकास के विभिन्न पक्षों के मापन के लिए है - जैसे, सांवेगिक और सामाजिक व्यवहार, अवधान-विस्तार और उत्तेजना, दृढ़ता और लक्ष्य निर्देशिता।

ग- विभेदक योग्यता मापनियाँ (Differential Ability Scales)

इस मापनी का निर्माण 1990, 1997 में इलियट (Elliott, C.D.) द्वारा किया गया जो 'ब्रिटिश योग्यता मापनी (BAS) का संशोधन व विस्तार है। यह मापनी 2.5 वर्ष से 17 वर्ष 11 माह तक के बच्चों की योग्यता का मापन करती है। इसमें तीन आच्छादित परीक्षणमाला है - निम्न पूर्व स्कूल आयु (2 वर्ष छः माह से तीन वर्ष 5 माह), उच्च पूर्वस्कूल आयु (3 वर्ष 6 माह से 5 वर्ष 11 माह), और स्कूल आयु (6 वर्ष से 17 वर्ष 11 माह)।

इस मापनी (DAS) में 20 उपपरीक्षण हैं जो तीन प्रमुख अवयवों में संगठित हैं - (1) प्रमुख उपपरीक्षण, (2) निदानात्मक उपपरीक्षण और (3) उपलब्धि परीक्षण। 12 केन्द्रीय (Core) उपपरीक्षणों और पाँच निदानात्मक उपपरीक्षणों से संज्ञानात्मक परीक्षणमाला का निर्माण होता है। उपलब्धि उपपरीक्षणों की संख्या तीन हैं। पूर्वस्कूल परीक्षणमाला के केवल केन्द्रीय और नैदानिक उपपरीक्षण सम्मिलित होते हैं।

पूर्वस्कूल आयु के लिए चार केन्द्रीय उपपरीक्षण 2 वर्ष 6 माह से तीन वर्ष 5 माह की आयु के लिए और 6 केन्द्रीय उपपरीक्षण 3 वर्ष 6 माह से पाँच वर्ष 11 माह की आयु के लिए है। स्कूल आयु स्तर (6 वर्ष से 17 वर्ष 11 माह) के लिए छः केन्द्रीय उपपरीक्षण हैं। प्रत्येक आयु स्तर में केन्द्रीय उपपरीक्षणों का उपयोग 'सामान्य संप्रत्ययात्मक योग्यता'(General Conceptual Ability) प्राप्तांक की गणना करने के लिए किया जाता है जो इस मापनी का सम्पूर्ण सारांश प्राप्तांक होता है। यह मध्यमान प्राप्तांक 100 और मानक विचलन 15 पर आधारित है। इस परीक्षणमाला के केन्द्रीय उपपरीक्षणों से बुद्धि के सामान्य कारक 'g' का मापन होता है।

निदानात्मक उपपरीक्षणों का सम्बन्ध ‘g’ कारक से बहुत कम होता है जिससे स्पष्ट है कि इसके द्वारा सम्बन्धित रूप से स्वतंत्र योग्यताओं का मापन होता है।
तीन उपलब्धि परीक्षणों का उपयोग सामान्यतः छः वर्ष की आय के बाद किया जाता है।

उपपरीक्षणों का वर्णन निम्नलिखित है -

1. केन्द्रीय उपपरीक्षण (Core subtests)- इनकी संख्या 12 है - ब्लॉक निर्माण, वाचिक बोध, चित्र समानता, शब्द ज्ञान का नामकरण, प्रारम्भिक संख्या संप्रत्यय, नकल, प्रतिरूप निर्माण, अभिकल्पना का प्रत्याह्वान, शब्द परिभाषाएँ, मैट्रिक्स, समानताएँ, और आनुक्रमिक और परिमाणात्मक तर्क।
2. निदानात्मक उपपरीक्षण (Diagnostic subtests)- इनकी संख्या पाँच हैं- अक्षर के समान प्रारूपों की मैचिंग, अंकों का प्रत्याह्वान, वस्तुओं का प्रत्याह्वान, चित्रों की पुनर्पहचान, सूचना संसाधन की गति।
3. उपलब्धि परीक्षण (Achievement Tests)- इसमें तीन परीक्षण हैं - मूल संख्या योग्यताएँ, वर्णविन्यास (spelling) और शाब्दिक तर्क।

घ- बच्चों के लिए कुफमैन मापन परीक्षणमाला - (Kaufman Assessment Battery for Children (K-ABC)

यह परीक्षणमाला बुद्धि और उपलब्धि का सम्मिलित मापक है जो आधुनिक स्नायु मनोवैज्ञानिक सैद्धान्तिक ढाँचे पर आधारित हैं। इसका निर्माण कुफमैन (1983) ने प्राथमिक रूप से मनोशैक्षिक मापन और शैक्षिक नियोजन के लिये किया।

इस परीक्षणमाला से 2 वर्ष 6 माह से 12 वर्ष 6 माह तक के बच्चों की जाँच की जाती है। इसमें 16 उपपरीक्षण हैं, लेकिन किसी भी बच्चे पर 13 से अधिक का उपयोग नहीं करते। 10 उपपरीक्षणों से ’मानसिक संसाधन यौगिक‘ प्राप्त होता है जिसका मानक 100 मध्यमान और 15 मानक विचलन पर आधारित है। अन्य छः उपपरीक्षण उपलब्धि मापनी से सम्बन्धित है।

यह परीक्षण सूचना संसाधन पर केन्द्रित है। दस मानसिक संसाधन उपपरीक्षण दो मापनियों में विभक्त है: सहसामयिक संसाधन मापनी (7 उपपरीक्षण) और आनुक्रमिक संसाधन मापनी (3 उपपरीक्षण)।

सहसामयिक और आनुक्रमिक मापनियां बच्चे के समस्या समाधान और सूचना संसाधन की शैली को प्रतिबिम्बित करती हैं। आनुक्रमिक संसाधन उपपरीक्षणों के लिए वाचिक, आंकिक या दृष्टिप्रात्यक्षिक सामग्री के आनुक्रमिक या कालिक व्यवस्था की योग्यता आवश्यक है। सहसामयिक संसाधन उपपरीक्षण के लिए बच्चे की दृष्टिगतिक सामग्री को तात्कालिक रूप से संगठित और संश्लेषण करने की योग्यता आवश्यक है।

कुफमैन के K-ABC परीक्षण के उपपरीक्षणों का वर्णन निम्नलिखित हैं -

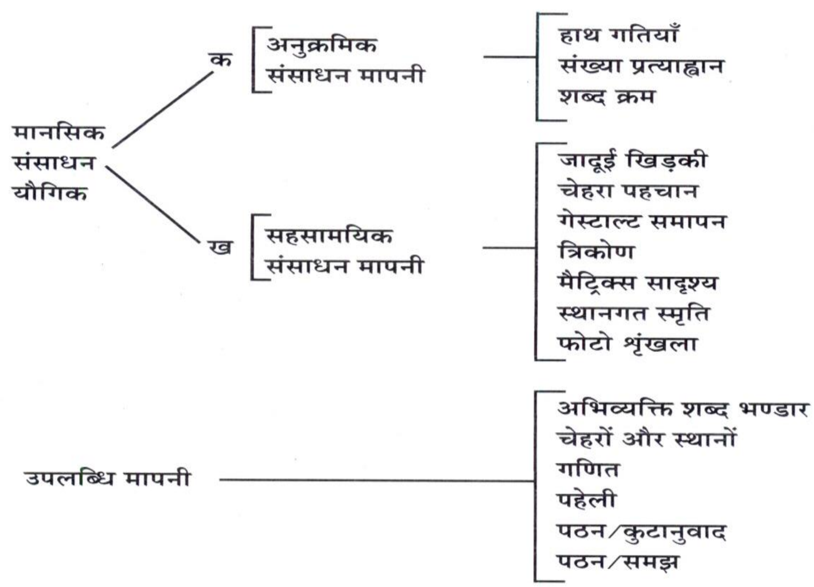

ड- वेश्लर पूर्वस्कूल और प्राथमिक बुद्धि मापनी-III- (Wechler Preschool and Primary Scale of Intelligence-III)

वेश्लर ने इस परीक्षण का निर्माण 1967 में किया जिसे WPPSI कहा जाता है। इस परीक्षण में 1987 में संशोधन हुआ (SPPSI-R)। इसका वर्तमान संस्करण 2002 में आया जिसे WPPSI-III कहा जाता है।

यह एक व्यक्तिगत प्रशासित बुद्धि परीक्षण है जिसके द्वारा दो वर्ष दो माह से सात वर्ष तीन माह तक के बच्चों की बुद्धि का मापन होता है। इस परीक्षण के प्रशासन के लिए पठन या लेखन कौशल की आवश्यकता नहीं होती। वाचिक उपपरीक्षणों में वाचिक एकांश होते हैं जिसके लिए समय सीमा नहीं होती। निष्पादन उपपरीक्षणों में अवाचिक समस्याएँ होती हैं, उनमें से कुछ के लिए निश्चित समय सीमा होती है। परीक्षण का मानक 1700 बच्चों से प्राप्त आँकड़ों के आधार पर बना है।

इस परीक्षण से निम्नलिखित प्राप्तांक प्राप्त होते हैं:

1. वाचिक बुद्धि लब्धि- वाचिक बुद्धि लब्धि तीन उपपरीक्षणों पर आधारित हैं- सूचना, शब्द भण्डार और शब्द तर्क। बोध और समानताएँ दो सम्भावित वैकल्पिक उपपरीक्षण हैं।
2. निष्पादन (तरल) बुद्धि लब्धि- निष्पादन बुद्धि लब्धि गुटका अभिकल्प, मैट्रिक्स तर्क और चित्र संप्रत्यय उपपरीक्षण पर आधारित है। चित्र पूर्ति और वस्तुसंग्रह वैकल्पिक उपपरीक्षण हैं।
3. गति संसाधन बुद्धि लब्धि- इससे सम्बन्धित दो उपपरीक्षण कूट संकेतन और चिन्ह खोज हैं।
4. सामान्य भाषा यौगिक- यह ग्रहणशील शब्दभण्डार और चित्र नामकरण उपपरीक्षण पर आधारित है।

इस प्रकार इस परीक्षण में कुल चौदह उपपरीक्षण हैं जिनमें से चार उपपरीक्षण वैकल्पिक हैं। स्पष्ट है बच्चे पर केवल 10 उपपरीक्षणों का प्रशासन होता है।

5. सम्पूर्ण मापनी बुद्धि लब्धि- वैश्लर के इस मापनी (WPPSI-III) में सम्पूर्ण मापनी बुद्धि लब्धि ज्ञात करने के लिए सात उपपरीक्षणों को आधार बनाया जाता है- तीन वाचिक उपपरीक्षण, तीन निष्पादन (तरल) उपपरीक्षण, और एक गति संसाधन उपपपरीक्षण।

17.3.3 बच्चों की बुद्धि का मापन (Assessment of Children Intelligence)-

क- बच्चों के लिए वेश्लर बुद्धि मापनी-IV- (Wechsler Intelligence Scale for Children-Fourth Edition)

वैश्लर ने 1949 में बच्चों की बुद्धि मापने के लिए एक बुद्धि मापनी का निर्माण किया जिसे WISC कहा गया। इसमें 1974 (WISC-R) 1991 (WISC-III) और 2003 WISC-IV) में संसोधन हुआ। इस परीक्षण के द्वारा 6 वर्ष से 16 वर्ष 11 माह तक के बच्चों की बुद्धि मापी जाती है।

WISC-IV (2003)- इस संस्करण में पूर्ववर्ती संस्करणों के वाचिक बुद्धि लब्धि और निष्पादन बुद्धि लब्धि को हटा दिया गया है। 10 उपपरीक्षणों से सम्पूर्ण मापनी बुद्धि लब्धि (IQ) प्राप्तांक और चार यौगिक प्राप्तांकों की गणना होती है। चार यौगिक प्राप्तांक हैं- (1) वाचिक बोध, (2) प्रात्यक्षिक तर्क, (3) कार्यकारी स्मृति, और (4) गति संसाधन।

वाचिक बोध और प्रात्यक्षिक तर्क यौगिक का संयुक्त प्राप्तांक प्रतिभाशीलता (Giftedness) का अच्छा सूचकांक है। कार्यकारी स्मृति और गति संसाधन प्रतिभाशीलता से कम सम्बन्धित हैं।

इस परीक्षा में पाँच पूरक उपपरीक्षण हैं। इस परीक्षण से प्राप्त होने वाले प्राप्तांक हैं - (1) सम्पूर्ण मापनी बुद्धि लब्धि, (2) सूचकांक प्राप्तांक, और (3) सामान्य योग्यता सूचकांक।

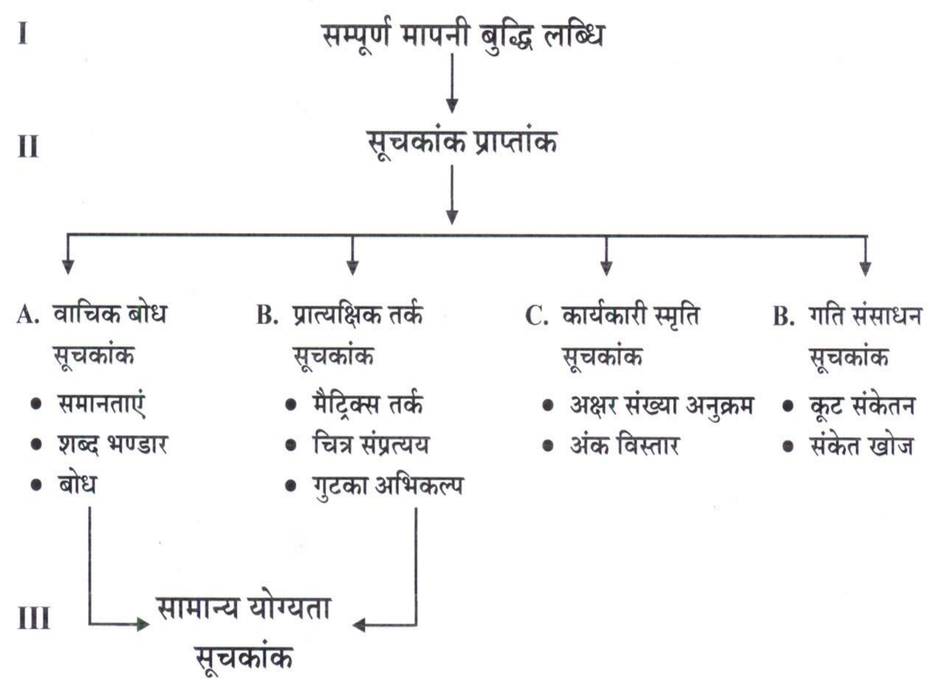

चारों सूचकांक प्राप्तांकों में वाचिक बोध सूचकांक स्पष्टतः बौद्धिक प्रतिभाशीलता का सूचक है और प्रात्यक्षिक तर्क सूचकांक दूसरा अच्छा संकेतक है।

ख- स्टैनफोर्ड-बिने 5 (Stanford-Binet : Fifth Edition)

वास्तव में मानव बुद्धि के मापन का इतिहास बिने मापनी से प्रारम्भ होता है। अल्फ्रेड बिने ने थियोडोर साइमन के साथ मिलकर 1905 में फ्रांस में मानसिक रूप से दुर्बल बच्चों की पहचान के लिए एक व्यक्तिगत बुद्धि परीक्षण का निर्माण किया। इस परीक्षण में 30 शाब्दिक एकांश थे, जो कठिनाई स्तर के आरोही क्रम में थे। बिने एवं साइमन ने 1908 में इसमें संशोधन किए, एवं एकांशों की संख्या 58 रखी। इस मापनी से तीन वर्ष से तेरह वर्ष तक के बच्चों की बुद्धि मापा जाता था। इस परीक्षण में 'मानसिक आयु' के संप्रत्यय का उपयोग किया गया। 1911 में बिने-साइमन मापनी का तीसरा संसोधन हुआ, उसी वर्ष बिने का असामयिक निधन हो गया। इस परीक्षण में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ, बल्कि कुछ अन्य स्तरों को जोड़ा गया और परीक्षण का विस्तार प्रौढ़ स्तर तक किया गया।

इस परीक्षण में सबसे महत्त्वपूर्ण संशोधन टरमन द्वारा स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय में 1916 में किया गया और इस परीक्षण को स्टैनफोर्ड-बिने परीक्षण कहा गया। इसमें बुद्धि लब्धि के संप्रत्यय को जोड़ा गया। इस परीक्षण में आगे चलकर अनेक संशोधन हुए।

स्टैनफोर्ड-बिने और पूर्ववर्ती परीक्षण के विकास के मील का पत्थर

वर्ष	परीक्षण/रचनाकार	टिप्पणी
1905	बिने और साइमन	30 साधारण एकांशों का परीक्षण
1908	बिने और साइमन	मानसिक आयु के संप्रत्यय का उपयोग
1911	बिने और साइमन	प्रौढ़ों तक विस्तार
1916	स्टैनफोर्ड-बिने / टरमन और मेंरिल	बुद्धि लब्धि संप्रत्यय का उपयोग $[I.Q. = \frac{\text{Mental age}}{\text{Chronological age}} \times 100]$
1937	स्टैनफोर्ड-बिने-2/ टरमन और मेंरिल	पहली बार समानान्तर प्रारूप (L-M) का उपयोग
1960	स्टैनफोर्ड-बिने-3/ टरमन और मेंरिल	आधुनिक एकांश विश्लेषण विधियों का उपयोग।
1972	स्टैनफोर्ड-बिने-3/ थार्नडाइक	स्टैनफोर्ड-बिने-3 का 3100 व्यक्तियों पर पुनर्प्रमाणीकरण किया गया।
1986	स्टैनफोर्ड-बिने-4/ थार्नडाइक एवं अन्य	15 उपपरीक्षणों में पुनर्संगठित किया गया। प्रमाणिक आयु प्राप्तांक की गणना की जाती है।
2003	स्टैनफोर्ड-बिने-5/रोयड	बुद्धि के आधुनिक पाँच कारकों का उपयोग किया गया। विचलन बुद्धि लब्धि की गणना की जाती है।

स्टैनफोर्ड-बिने-5

स्टैनफोर्ड बिने बुद्धि परीक्षण का यह संस्करण बुद्धि के पाँच कारकों पर आधारित है। बुद्धि के पाँच कारक आधुनिक संज्ञानात्मक सिद्धान्तों की देन है, जैसे केरोल (1993), बैडले (1986)। पाँच कारक हैं - तरल तर्कणा, ज्ञान, मात्रात्मक तर्कना, दृष्टि-स्थानिक संसाधन, और कार्यकारी स्मृति।

स्टैनफोर्ड-बिने-5 के द्वारा दो वर्ष के बालकों से 85वर्ष के प्रौढ़ों की बुद्धि का मापन होता है। यह परीक्षण परीक्षार्थी के संज्ञानात्मक प्रकार्यों के विभिन्न पक्षों के लिए प्राप्तांक प्रदान करता है। जैसे- 10 उपपरीक्षण प्राप्तांक (मध्यमान 10, मानक विचलन 3), तीन बुद्धि लब्धि प्राप्तांक (सम्पूर्ण बुद्धि लब्धि, वाचिक बुद्धि लब्धि, अवाचिक बुद्धि लब्धि), और पाँच कारक प्राप्तांक (तरल तर्कणा, ज्ञान, मात्रात्मक तर्कणा, दृष्टि स्थानिक संसाधन, कार्यकारी स्मृति)। बुद्धि लब्धि और कारक प्राप्तांकों के मानकीकरण में मध्यमान 100 तथा मानक विचलन 15 है।

स्टैनफोर्ड-बिने-5 की संरचना

कारक

तरल तर्कणा	अवाचिक	वाचिक
ज्ञान	अवाचिक तरल तर्कणा	वाचिक तरल तर्कणा
कार्यकारी स्मृति	अवाचिक ज्ञान	वाचिक ज्ञान
मात्रात्मक तर्कणा	अवाचिक मात्रात्मक तर्कणा	वाचिक मात्रात्मक तर्कणा
दृष्टि-स्थानिक संसाधन	अवाचिक दृष्टि-स्थानिक संसाधन	वाचिक दृष्टि-स्थानिक संसाधन
	अवाचिक कार्यकारी स्मृति	वाचिक कार्यकारी स्मृति
	अवाचिक बुद्धि लब्धि	वाचिक बुद्धि लब्धि

कारकों और उससे सम्बन्धित क्रियाएँ:

कारक			क्रियाएँ
तरल तर्कणा (FR)	अवाचिक वाचिक	→ →	वस्तु श्रृंखला/मैट्रिक्स प्रारम्भिक तर्कणा, वाचिक विसंगति, वाचिक सादृश्यता
ज्ञान (KR)	अवाचिक वाचिक	→ →	प्रक्रियात्मक ज्ञान, चित्र विसंगति शब्द भण्डार
मात्रात्मक तर्कणा (QR)	अवाचिक वाचिक	→ →	मात्रात्मक तर्कणा मात्रात्मक तर्कणा
दृष्टि स्थनिक संसाधन (VS)	अवाचिक वाचिक	→ →	आकार बोर्ड, आकार प्रतिरूप स्थिति और दिशा
कार्यकारी स्मृति (WM)	अवाचिक वाचिक	→ →	अनुक्रिया विलम्बन, गुटका विस्तार वाक्यों की स्मृति, अन्तिम शब्द

स्टैनफोर्ड-बिने-5 की विशिष्ट विशेषताएँ -

I. बुद्धि, सम्पूर्ण मापनी बुद्धि लब्धि, वाचिक बुद्धि लब्धि और अवाचिक बुद्धि लब्धि में विभक्त है।

II. (1) प्रतिभाशाली निष्पादन के उच्च स्तर को मापने के लिए व्यापक रूप से उच्च- अन्त एकांशों को सम्मिलित किया गया है।

(2) छोटे बच्चों, कमजोर प्रकार्यों के बड़े बच्चों अथवा मानसिक रूप से मंद प्रौढ़ों के लिए सम्मिलित निम्न-अन्त एकांशों में सुधार किया गया है।

III. अवाचिक बुद्धि लब्धि से सम्बद्ध एकांशों और उपपरीक्षणों के लिए अभिव्यक्त भाषा की आवश्यकता नहीं होती।

IV. इस परीक्षण में धार्मिक एवं परम्परा पर आधारित निष्पक्षता के लिए परीक्षण एकांशों की छंटनी किया गया है। बुद्धि परीक्षणों के इतिहास में पहली बार धार्मिक परम्परा को परीक्षण विकास में शामिल किया गया।

17.3.4 प्रौढ़ बुद्धि मापन (Adult Intelligence Assessment)-

वेश्लर वयस्क बुद्धि मापनी- IV (Wechsler Adult Intelligence Scale-IV, 2008)

वेश्लर ने 1939 में प्रौढ़ों की बुद्धि मापने के लिए वेश्लर बेल्यू (Wechsler-Bellevue) का निर्माण अन्य बुद्धि परीक्षणों के एकांशों को मिलाकर किया। वेश्लर ने 1955 में एक बुद्धि परीक्षण का निर्माण किया जिसे वेश्लर वयस्क बुद्धि मापनी (WAIS) कहा गया। इसमें कुल 11 उपपरीक्षण (6 वाचिक और 5 निष्पादन) थे। इस परीक्षण (WAIS) में संसोधन 1981 (WAIS-R), 1997 (WAIS-III) और 2008 (WAIS-IV) में हुए हैं।

WAIS-IV (2008)-WAIS परीक्षण का वर्तमान संस्करण 2008 में प्रकाशित हुआ। इस परीक्षण में 10 उपपरीक्षण और पाँच पूरक उपपरीक्षण हैं। 10 उपपरीक्षण के प्राप्तांकों से सम्पूर्ण मापनी बुद्धि लब्धि की गणना की जाती है। परीक्षण के इस संस्करण में पूर्ववर्ती संस्करणों के वाचिक/निष्पादन बुद्धि लब्धि के संप्रत्यय को हटा दिया गया है, इसकी जगह पर सूचकांक प्राप्तांकों

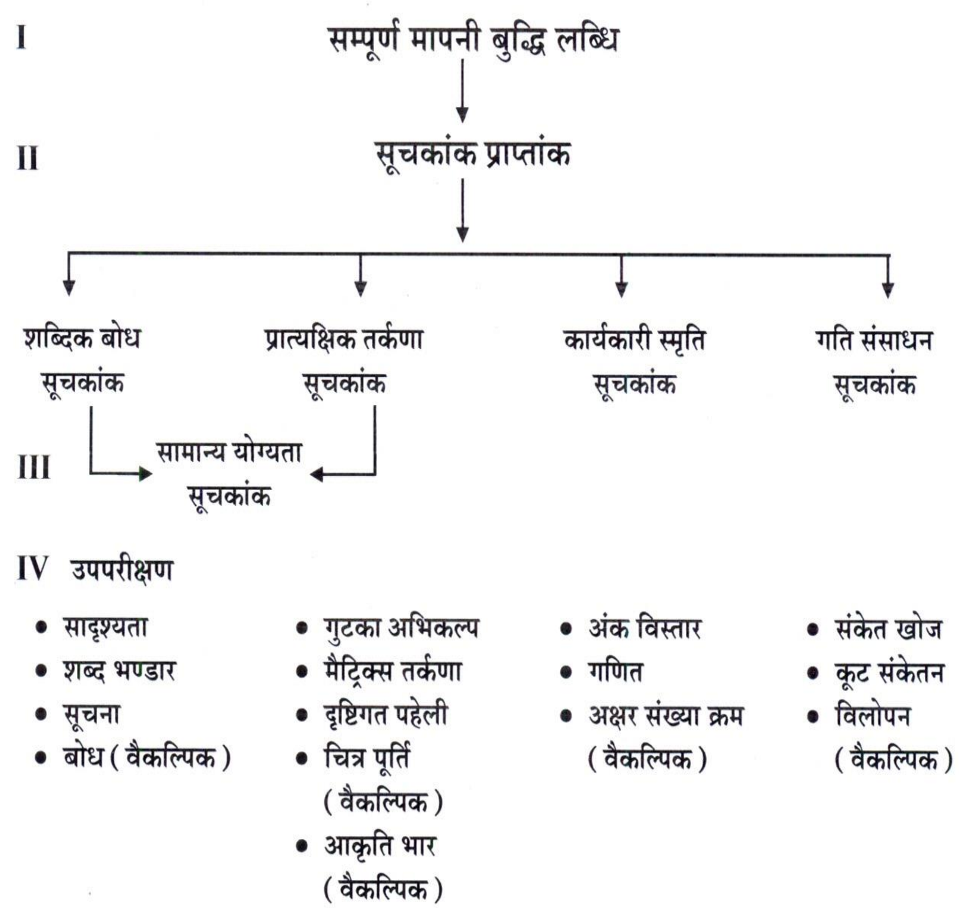

की गणना की जाती है, जिनकी संख्या चार है। इस संस्करण में चार सूचकांक प्राप्तांकों के अतिरिक्त 'सामान्य योग्यता' सूचकांक की भी गणना की जाती है, जिसे पहली बार इसमें सम्मिलित किया गया है।

वैश्लर वयस्क बुद्धि मापनी-IV की संरचना

सामान्य योग्यता सूचकांक- यह प्रतिभाशीलता का उत्कृष्ट मापक है। इस सूचकांक की गणना में वाचिक बोध सूचकांक और प्रात्यक्षिक तर्कणा सूचकांक के उपपरीक्षणों को सम्मिलित किया जाता है। यह ऐसी संज्ञानात्मक योग्यताओं का मापन करता है जो संज्ञानात्मक क्षति के प्रति कम संवेदनशील होती हैं।

इस परीक्षण का मानकीकरण 2200 व्यक्तियों पर किया गया है, जिनकी आयु 16 से 90 वर्ष थी। सम्पूर्ण मापनी बुद्धि लब्धि का मध्यांक 100 तथा मानक विचलन 15 है। सामान्य वितरण में बुद्धि लब्धि विस्तार मध्यांक से एक मानक विचलन ऊपर और नीचे (85-115) लगभग 68% प्रौढ़ आ जाते हैं।

इस परीक्षण में विचलन बुद्धि लब्धि की गणना की जाती है।

$$\text{बुद्धि लब्धि (I.Q.)} = \frac{\text{प्राप्त या वास्तविक प्राप्तांक}}{\text{आयु के लिए प्रत्याशित मध्यमान प्राप्तांक}}$$

17.3.5 अन्य बुद्धि मापन परीक्षण-

बुद्धि मापन के अन्य परीक्षण हैं -

1. कैटेल का संस्कृति मुक्त बुद्धि परीक्षण (Cattell's Culture Fair Intelligence Test - CFIT, 1940, 1973)
2. रेवेन प्रोग्रेसिव मैट्रिक्सेज (Raven's Progressive Matrices - RPM, 1938).

भारत में समय-समय पर विभिन्न बुद्धि परीक्षणों का विकास किया गया है। कुछ परीक्षणों का भारतीय अनुकूलन भी किया गया है। अनुकूलित किये गये परीक्षणों में प्रमुख हैं -

i. एस0के0 कुलश्रेष्ठ द्वारा स्टेनफोर्ड - बिने, 1937 का 1960 में भारतीय अनुकूलन।
ii. मनोविज्ञानशाला, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद द्वारा रेवेन प्रोग्रेसिव मैट्रिक्स तथा पिजन के अशाब्दिक परीक्षण का भारतीय अनुकूलन।
iii. प्रभा रामलिंगास्वामी द्वारा वेश्लर वयस्क बुद्धि मापनी, 1955 का 1975 में भारतीय अनुकूलन।

शाब्दिक बुद्धि परीक्षणों में मोहनचन्द्र जोशी (1960) का 'सामान्य मानसिक योग्यता परीक्षण' प्रमुख है।

17.4 बुद्धि परीक्षणों का उपयोग

बुद्धि परीक्षणों का अत्यन्त व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में इसकी आवश्यकता होती है। अब हम इसके उपयोगों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

1. व्यक्तिगत विभिन्नताओं के अध्ययन में सहायक- बुद्धि परीक्षणों की सहायता से व्यक्ति की मानसिक योग्यताएँ एवं व्यक्तिगत विभिन्नताओं का अध्ययन संभव होता है। बौद्धिक योग्यताओं के आधार पर व्यक्ति के वर्गीकरण एवं अध्ययन में सहायता मिलती है।
2. शैक्षिक उपयोग- बुद्धि परीक्षणों का शिक्षा में व्यापक उपयोग किया जाता है। बच्चों की क्षमताओं, प्रतिभाशाली एवं बुद्धि-दौर्बल्य का पता लगाने, अधिगम अयोग्यताओं को समझने में इसका उपयोग प्रमुख रूप से होता है।
3. व्यावसायिक उपयोग- उद्योग तथा व्यवसाय के क्षेत्र में निम्नलिखित स्थितियों में इसका व्यापक उपयोग होता है। किसी निश्चित व्यवसाय के लिए व्यक्ति की योग्यताओं एवं क्षमताओं को ज्ञात करने में, कर्मचारियों के चयन में, इत्यादि।
4. चिकित्सा क्षेत्र में उपयोग- बुद्धि परीक्षणों का उपयोग आंगिक मस्तिष्क क्षति, अधिगम अयोग्यताएँ, मनोविक्षिप्तता, और संवेगात्मक परेशानियों के निदान में सहायक होते हैं।
5. सेना में उपयोग- बुद्धि परीक्षणों का सेना में उपयोग सैनिकों एवं सेना अधिकारियों के चयन एवं पदोन्नति में किया जाता है।
6. अनुसंधानों में उपयोग- मनोवैज्ञानिक, शैक्षिक एवं सामाजिक शोधों में बुद्धि परीक्षणों का उपयोग उपकरण के रूप में किया जाता है।

17.5 सारांश

- नवजात और पूर्वस्कूल अवधि का विस्तार जन्म से 6 वर्ष तक होता है। अधिकांश नवजात परीक्षण (जन्म से 2.5 वर्ष) संवेदी और गतिक कौशलों से सम्बन्धित होते हैं। पूर्वस्कूल परीक्षण (2.5 से 6 वर्ष की आयु) सार्थक मात्रा में संज्ञानात्मक कौशलों का मापन करते हैं।
- नवजाता व्यावहारिक मूल्यांकन मापनी नवजाता शिशु के व्यावहारिक रंगपटल का मापन 28 व्यवहार एकांशों, 18 प्रतिवर्ती क्रियाओं और 7 प्रतिक्रियाशीलता के गुणों को मापती है।
- मनोवैज्ञानिक विकास की क्रमिक मापनी पियाजे के बौद्धिक विकास के मापन पर आधारित है। मापनी द्वारा दो माह से दो वर्ष के बच्चों के वस्तु निष्पादन, इच्छित पर्यावरणीय अन्त प्राप्त करने के लिए अर्थों, वाचिक और सांकेतिक अनुकरण, संक्रियात्मक दुर्घटना के ज्ञान, स्थान में वस्तु सम्बन्धों, योजनाओं के विकास का मापन होता है।

- मैक्कार्थे मापनी 2.5 से 8.5 वर्ष के बच्चों के लिए है। इसमें 18 उपपरीक्षण हैं जो पाँच विभिन्न उपप्राप्तांकों और एक सामान्य संज्ञानात्मक सूचकांक की गणना करते हैं। उपप्राप्तांकों में सम्मिलित हैं वाचिक, प्रात्यक्षिक निष्पादन, मात्रात्मक, स्मृति ओर गतिक।
- नवजाता विकास की बेले मापनी-।। एक माह से 42 माह तक के बच्चों के मानसिक और गतिक विकास का मापन करती है। इस परीक्षण में तीन मापनियॉं हैं - मानसिक मापनी, गतिक मापनी, और व्यवहार श्रेणीकरण मापनी।
- विभेदक योग्यता मापनी दो वर्ष 6 माह से लेकर 17 वर्ष 11 माह तक के बच्चों के लिए है। इसमें 17 संज्ञानात्मक उपपरीक्षणों और 3 उपलब्धि परीक्षण हैं।
- कुफमैन मापन परीक्षणमाला 2.5 वर्ष से 12.5 वर्ष के बच्चों के लिए है। यह परीक्षण बुद्धि और उपलब्धि का सम्मिलित परीक्षण है जो सहसामयिक संसाधन और आनुक्रमिक संसाधन सिद्धान्त पर आधारित है।
- वेश्लर पूर्वस्कूल और प्राथमिक बुद्धि मापनी-।।। दो वर्ष दो माह से लेकर सात वर्ष तीन माह तक के बच्चों की बुद्धि मापन के लिए बनी है। इस मापनी से वाचिक बुद्धि लब्धि, निष्पादन बुद्धि लब्धि, गति संसाधन बुद्धि लब्धि, सामान्य भाषा यौगिक, और सम्पूर्ण मापनी बुद्धि लब्धि प्राप्तांक प्राप्त होता है।
- बच्चों के लिए वेश्लर बुद्धि मापनी-IV का निर्माण छः वर्ष से 16 वर्ष 11 माह तक के बच्चों की बुद्धि मापने के लिए किया गया है। इस मापनी से एक सम्पूर्ण मापनी बुद्धि लब्धि, चार सूचकांक प्राप्तांक, एक सामान्य योग्यता सूचकांक की गणना की जाती है। इस मापनी में 10 उपपरीक्षण हैं।
- स्टैनफोर्ड-बिने-5 बुद्धि परीक्षण दो वर्ष के बच्चों से लेकर 85 वर्ष तक के प्रौढ़ों की बुद्धि को मापता है। इसमें 10 उपपरीक्षण हैं। इन उपपरीक्षणों के प्राप्तांकों से तीन बुद्धि लब्धि प्राप्तांकों (वाचिक बुद्धि लब्धि, अवाचिक बुद्धि लब्धि और सम्पूर्ण मापनी बुद्धि लब्धि) और पाँच कारक प्राप्तांकों (तरल तर्कणा, ज्ञान, मात्रात्मक तर्कणा, दृष्टि-स्थानिक संसाधन, और कार्यकारी स्मृति) की गणना होती है।
- वेश्लर वयस्क बुद्धि मापनी-IV का निर्माण वयस्कों की बुद्धि मापने के लिये हुआ है। इस परीक्षण में कुल 15 उपपरीक्षण हैं जिसमें से पाँच वैकल्पिक उपपरीक्षण हैं। 10 उपपरीक्षण प्राप्तांकों से सम्पूर्ण मापनी बुद्धि लब्धि, चार सूचकांक प्राप्तांकों, और एक सामान्य योग्यता सूचकांक की गणना की जाती है।
- बुद्धि परीक्षणों का मानव जीवन में विविध उपयोगिताएँ हैं। इनका उपयोग व्यक्तिगत विभिन्नताओं के अध्ययन, शिक्षा, व्यवसाय, नैदानिक चिकित्सा, सेना, अनुसंधानों में विस्तृत रूप से होता है।

17.6 शब्दावली

- **मानसिक मापनी(Mental Scale):** इसके द्वारा मापी जाने वाली योग्यताएँ हैं- सांवेदिक/प्रात्यक्षिक तीक्ष्णता, वस्तुस्थिरता का अर्जन, स्मृति-अधिगम और समस्या समाधान, उच्चारण-वाचिक सम्प्रेषण, अमूर्त चिंतन का प्रारम्भिक प्रमाण, आदत, मानसिक मानचित्रण, जटिल भाषा और गणितीय संप्रत्यय का निर्माण।

17.7 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1. वेश्लर पूर्वस्कूल और प्राथमिक बुद्धि मापनी-III में कितने बुद्धि लब्धि प्राप्तांक प्राप्त होते हैं ?
   a) 5 b) 4 c) 6 d) 3
2. WAIS परीक्षण का वर्तमान संस्करण किस सन् में प्रकाशित हुआ?
   a) 2010 b) 2007 c) 2009 d) 2008

उत्तर: 1) a 2) d

17.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- Anastasi, A. and Urbina, S. (1997). Psychological Testing (7th ed.), Pearson Education.
- Gregory, R.J. (2004). Psychological Testing : History, Principles and Applications (4th ed.). Pearson Education.
- Groth-Marnat, G. (2009). Handbook Psychological Assessment (5th ed.). John Wiley - Sons.
- Murphy, K.D. - Davidshofer, C.O. (1998). Psychological Testing : Principle and Application (4th ed.). Upper Saddle River, N.J. : Prentice Hall.

17.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3. नवजात शिशु के बौद्धिक मापन के प्रमुख परीक्षणों का वर्णन कीजिए।
4. मेंक्कार्थे मापनी पर एक टिप्पणी लिखिए।
5. इलियट के विभेदक योग्यता मापनी की विवेचना करें।
6. कुफमैन परीक्षणमाला से आप क्या समझते हैं ?
7. बच्चों के लिए वेश्लर बुद्धि मापनी से आप क्या समझते हैं ? इसके द्वारा मापे जाने वाले तत्वों का वर्णन करें।
8. स्टैनफोर्ड-बिने बुद्धि परीक्षण के ऐतिहासिक विकास का वर्णन करते हुए इसकी संरचना की विवेचन करें।
9. वेश्लर वयस्क बुद्धि मापनी-चतुर्थ पर एक लेख लिखें।
10. बुद्धि परीक्षणों की विभिन्न उपयोगिताओं का संक्षिप्त वर्णन करें।

ईकाई-18 व्यक्तितत्व का स्वरूप, प्रकार, निर्धारक, व्यक्तितत्व के शीलगुण और व्यक्तितत्व का मापन

18.1 प्रस्तावना
18.2 उद्देश्य
18.3 व्यक्तित्व का स्वरूप
18.4 व्यक्तित्व के प्रकार
18.5 व्यक्तित्व के निर्धारक
18.6 व्यक्तित्व के शीलगुण
18.7 व्यक्तित्व का मापन
18.8 सारांश
18.9 शब्दावली
18.10 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न
18.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची
18.12 निबन्धात्मक प्रश्न

18.1 प्रस्तावना

व्यक्तित्व एक जटिल संप्रत्यय है। सामान्यतः हम सभी यह जानने का प्रयास करते हैं कि व्यक्तित्व क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? आगे मैंने जो वर्णन प्रस्तुत किया है उसको पढ़कर आप इन प्रश्नों का उत्तर देने में सक्षम हो जायेंगे।

18.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित तथ्यों को समझ सकेंगे -

- व्यक्तित्व क्या है इसके स्वरूप को समझ सकेंगे।
- व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक प्रकारों को जान सकेंगे।
- व्यक्तित्व के विकास को कौन-कौन से तत्व प्रभावित करते हैं इसको समझ सकेंगे।

- व्यक्तित्व के विभिन्न शीलगुणों की सूची बना सकेंगे।
- व्यक्तित्व की विशेषताओं को मापने वाले विभिन्न तरीकों की व्याख्या कर सकेंगे।

18.3 व्यक्तित्व का स्वरूप

व्यक्तित्व के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए अनेक मनोवैज्ञानिकों ने इसे परिभाषित किया है। यहाँ पर हम कुछ परिभाषाओं का वर्णन करेंगे।

आलपोर्ट (Allport, G.W.) के अनुसार, ''व्यक्तित्व व्यक्ति के भीतर उन मनोदैहिक तंत्रों का गत्यात्मक संगठन है जो वातावरण में उसके अनोखे समायोजन को निर्धारित करते हैं (1937)।'' आलपोर्ट की इस परिभाषा में अनोखे समायोजन को लेकर मनोवैज्ञानिकों में विवाद रहा। अध्ययनों से यह प्रमाणित हुआ कि व्यक्तित्व की सभी विशेषताएँ अनोखी नहीं होतीं। आलपोर्ट ने 1961 में अपनी परिभाषा में संशोधन किया। अपनी परिभाषा में से ''वातावरण में उसके अनोखे समायोजन'' को हटाकर ''विशिष्ट व्यवहार एवं विचार'' कर दिया। इस प्रकार 1961 की बादली हुई परिभाषा इस प्रकार है ''व्यक्तित्व व्यक्ति के भीतर उन मनोदैहिक तंत्रों का गत्यात्मक संगठन है जो उसके विशिष्ट व्यवहार एवं विचार को निर्धारित करते हैं (1961)।''

आलपोर्ट ने व्यक्तित्व के स्वरूप को स्पष्ट किया। उनके अनुसार व्यक्तित्व में व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक विशेषताएँ सम्मिलित रहती हैं। उक्त दोनों विशेषताएँ परिवर्तनशील रहती हैं और व्यक्ति के व्यवहार एवं विचार को निर्धारित करती हैं।

आइजिंक (Eysenck, H. 1947) आइजिंक ने व्यक्ति की आनुवांशिकता तथा उसके पर्यावरण को महत्वपूर्ण माना है। व्यक्तित्व को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने कहा कि ''आनुवंशिकता तथा परिवेश द्वारा निर्धारित प्राणी के वास्तविक या सक्षम व्यवहार प्रारूपों का समग्र योग व्यक्तित्व है।'' चार प्रमुख क्षेत्रों के प्रकार्यात्मक अन्तर्क्रिया से इसका विकास संगठित व्यवहार प्रारूपों में होता है। चार क्षेत्र हैं संज्ञानात्मक (बुद्धि), क्रियात्मक (चरित्र), भावात्मक (चित्त प्रकृति) तथा कायिक (संरचना)।

आइजिंक ने आनुवांशिकता को अधिक महत्व दिया है। उनके अनुसार व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषताओं के विकास में आनुवांशिक कारकों की भूमिका दो तिहाई होती है। स्पष्ट है व्यक्ति की आनुवांशिकता तथा उसके पर्यावरण की अन्तर्क्रिया के फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व का विकास होता है।

लेविन (Kurt Lewin, 1935) - लेविन ने आन्तरिक मनोवैज्ञानिक संरचना और बाह्य पर्यावरण दोनों को व्यक्तित्व के लिए महत्त्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार, ''व्यवहार व्यक्ति के आन्तरिक मनोवैज्ञानिक संरचना, बाह्य पर्यावरण के बलों, और व्यक्ति तथा वातावरण के

संरचनात्मक सम्बन्धों के बीच जटिल अन्तर्क्रिया के द्वारा निर्धारित होता है।'' इस प्रकार लेविन ने स्पष्ट किया कि हमारा व्यवहार व्यक्तिगत विशेषताओं और तात्कालिक सामाजिक परिस्थिति दोनों का प्रतिफल होता है।

उपरोक्त मनोवैज्ञानिकों के अतिरिक्त अनेक अन्य विद्वानों द्वारा भी व्यक्तित्व के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। फ्रायड ने व्यक्ति के व्यवहार को समझने के लिए व्यक्तित्व के अचेतन पक्षों पर अत्यधिक बल डाला है। उनके अनुसार हमारा अचेतन ही हमारे व्यवहार का निर्धारक है। व्यक्ति अहं (ego) बलों द्वारा प्रभावित होता है।

रोजर्स ने व्यक्ति और उसके आत्म को महत्त्वपूर्ण माना है। व्यक्ति का व्यवहार उसके प्रात्यक्षिक आत्म (self as perceived) और वास्तविक अनुभव (actual experience) के बीच समानता ओर असमानता पर आधारित होता है। दोनों में समानता होने पर व्यक्ति का व्यक्तित्व संतुलित रहता है एवं असमानता के कारण व्यक्ति मनोवैज्ञानिक रूप से बीमार हो जाता है।

अधिगमवादी मनोवैज्ञानिक व्यक्ति के पर्यावरण और अनुभव को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। यही दोनों तत्त्व व्यक्तित्व को एक आकार देते हैं।

उपरोक्त वर्णन से व्यक्तित्व स्वरूप के विभिन्न पक्ष स्पष्ट होते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व में मानसिक और शारीरिक दोनों गुण होते हैं। यह गुण परिवर्तनशील होते हैं। इन गुणों के विकास में आनुवांशिकता की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। व्यक्ति का व्यवहार उसकी आन्तरिक मनोवैज्ञानिक संरचना और उसके आसपास के पर्यावरण के बीच अन्तर्क्रिया का प्रतिफल होता है।

18.4 व्यक्तित्व के प्रकार

व्यक्तित्व के एक दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्तियों को निश्चित व्यक्तित्व प्रकारों में बाँटा जा सकता है और उसके आधार पर उनके शीलगुणों का वर्णन किया जाता है। व्यक्तित्व प्रकार का तात्पर्य व्यक्तियों के एक ऐसे वर्ग से होता है जिनके गुण एक दूसरे के समान होते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्त्वि को अनेक प्रकारों में बाँटने का प्रयास किया है। प्रमुख वर्गीकरण निम्नलिखित हैं –

1) **क्रेश्मर (1925)**- क्रेश्मर ने शारीरिक गुणों के आधार पर व्यक्तित्व के चार प्रकार बतलाये हैं।
   (क)**स्थूलकाय-** ऐसे व्यक्ति का कद छोटा होता है। शरीर भारी एवं गोलाकार होता है। ऐसे व्यक्ति सामाजिक, आराम पसन्द, हंसमुख होते हैं। इस प्रकार के स्वभाव को क्रेश्मर ने 'सायक्लॉयड' की संज्ञा दी है।
   (ख)**कृशकाय-** इस प्रकार के व्यक्ति लम्बे, दुबले-पतले होते हैं। इनकी मांसपेशियाँ विकसित नहीं होती। उनका वजन सामान्य से कम होता है। ऐसे लोगों का स्वभाव चिड़चिड़ा होता है।

उनमें सामाजिक उत्तरदायित्व से दूर रहने की प्रवृत्ति अधिक रहती है और काल्पनिक दुनिया में जीने वाले होते हैं। ऐसे स्वभाव को क्रेश्मर ने 'स्कीजॉयड' कहा है।

(ग) **पुष्टकाय-** ऐसे व्यक्तियों का शारीरिक गठन अच्छा होता है। इनका कन्धा चौड़ा तथा मांसपेशियाँ मजबूत होती हैं। ऐसे व्यक्ति शक्तिशाली, साहसी, निर्भीक, प्रभुत्व की इच्छा रखने वाले तथा समाज में अधिक सफल होते हैं।

(घ) **मिश्रकाय-** इस प्रकार के व्यक्तियों में उपरोक्त तीनों प्रकार के मिश्रित शीलगुण पाये जाते हैं।

2) **शेल्डन (1940, 1942)-** शेल्डन ने शरीर की बनावट तथा स्वभाव के अनुसार व्यक्तियों को तीन प्रकारों में बाँटा है -

(क) **गोलाकृतिक-** इस प्रकार के व्यक्ति मोटे एवं नाटे होते हैं और इनका शरीर गोलाकार दिखता है। ऐसे व्यक्ति आरामपसंद, खुशमिजाज, सामाजिक तथा खाने-पीने में अधिक रुचि रखते हैं। ऐसे स्वभाव को शेल्डन ने 'किससिरोटोनिया' कहा है।

(ख)**आयताकृतिक-** ऐसे व्यक्तियों के शरीर की हड्डियाँ एवं मांसपेशियाँ अत्यधिक विकसित होती हैं। इनका शारीरिक गठन सुडौल होता है। ऐसे व्यक्ति के स्वभाव को 'सोमैटोटोनिया' कहा है। इनमें जोखिम तथा बहादुरी का कार्य करने की तीव्र प्रवृत्ति, दृढ़ कथन, आक्रामकता का गुण पाया जाता है।

(ग) **लम्बाकृतिक-** इस प्रकार के व्यक्ति का कद लम्बा होता है। उनका शरीर दुबला-पतला होता है, मांसपेशियाँ अविकसित होती हैं। ऐसे व्यक्ति अकेले रहना पसन्द करते हैं। वे संकोचशील एवं लज्जालु होते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति के चित्त प्रकृति को 'सेरीब्रोटोनिया' कहा जाता है।

3) **युंग (Jung,C.)-** युंग ने व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक विशेषता के आधार पर 1910 में दो प्रकारों का वर्णन किया है -

(क)**अन्तर्मुखी-** इस प्रकार के व्यक्ति आत्मकेन्द्रित, संकोची, विचारप्रधान, कल्पनाशील, रुढ़िवादी, सामाजिक सम्पर्कों से दूर रहने वाले और वास्तविकता से दूर रहने की प्रवृत्ति रखते हैं।

(ख)**बहिर्मुखी-** ऐसे व्यक्ति सामाजिक, मिलनसार, व्यवहारकुशल, चिंतन की अपेक्षा क्रिया करने वाले, यथार्थवादी, संकोचरहित, वर्तमान को महत्त्व देने वाले होते हैं।

युंग ने अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी की चार क्रियाओं की कल्पना की है –

अन्तर्मुखी	**बहिर्मुखी**
1. अन्तर्मुखी चिन्तन प्रकार	बहिर्मुखी चिन्तन प्रकार
2. अन्तर्मुखी भाव प्रकार	बहिर्मुखी भाव प्रकार
3. अन्तर्मुखी संवेदना प्रकार	बहिर्मुखी संवेदना प्रकार

4. अन्तर्मुखी अन्तर्दर्शी प्रकार बहिर्मुखी अन्तर्दर्शी प्रकार

बाद में युंग ने अपने विचारों में संशोधन किया और कहा कि ''प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्मुखता तथा बहिर्मुखता के अंश रहते हैं और किसी व्यक्ति में इन दोनों में से एक की सापेक्ष प्रधानता से ही प्रकार बनता है।''

4) **आइजिंक (Eysenck, H.J.)-** आइजिंक (1947) ने मनोवैज्ञानिक गुणों के आधार पर

व्यक्तित्व के तीन प्रकार बतलाया है। व्यक्तित्व के तीनों प्रकार द्विध्रुवीय स्वरूप के होते हैं। दोनों छोर एक दूसरे के विपरीत विशेषताओं से सम्बन्धित होते हैं। आइजिंक ने दोनों छोरों को अलग न मानकर एक ही सांतत्यक पर रखा है।

(क) **बहिर्मुखता-** बहिर्मुखी व्यक्ति की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं- सामाजिक, निश्चिन्त, सक्रिय, प्रभुत्व, कार्यशील, उद्वेगी, निश्चयात्मक, साहसिक और संवेदनशील। इसकी विरोधी विशेषताएँ अन्तर्मुखी में पायी जाती हैं।

(ख) **स्नायुविकृतता-** आइजिंक ने स्नायुविकृतता की नौ विशेषताएँ बतलाई हैं- चिंतित, अतार्किक, विषादी, शर्मीला, अपराध भावना, चिड़चिड़ा, संवेगात्मक, आत्मसम्मान में कमी, और तनाव। इसके ठीक विपरीत विशेषताएँ स्थिरता आयाम में रहती हैं।

(ग) **मनोविक्षिप्तता-** आइजिंक ने इस प्रकार को 1952 में जोड़ा है। मनोविक्षिप्तता की निम्न विशेषताएँ होती हैं - आक्रामक, भावशून्य, समाजविरोधी, असहानुभूतिक, अहंकेन्द्रिता, सर्जनात्मक, अमिलनसार, निष्ठुर और आवेगी। आवेग नियंत्रण में इसके विपरीत विशेषताएँ होती हैं।

18.5 व्यक्तित्व के निर्धारक

व्यक्तित्व के निर्धारकों से अभिप्राय ऐसे कारकों से होता है जो व्यक्तित्व विकास को प्रभावित करते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने इन कारकों को तीन सामान्य भागों में बाँटा है - जैविक निर्धारक, पर्यावरणीय निर्धारक व समाज-सांस्कृतिक निर्धारक।

अब हम उक्त कारकों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे –

1) **जैविक निर्धारक (Biological determinants)-** व्यक्तित्व के जैविक निर्धारकों में आनुवांशिकता और हार्मोन की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है।

(अ) **आनुवांशिकता-** मानव शरीर में अरबों की संख्या में कोशिकाएँ होती हैं। प्रत्येक कोशिका में केन्द्रक होता है (लाल रुधिर कोशिकाओं को छोड़कर)। प्रत्येक केन्द्र में 46 क्रोमोजोम्स होते हैं जो 23 जोड़ों में संगठित रहते हैं। प्रत्येक जोड़े का एक क्रोमोजोम माता से और एक पिता से

प्राप्त होता है। क्रोमोजोम्स DNA रज्जुओं से भरे होते हैं। जीन DNA का एक भाग है जिस पर प्रोटीन निर्माण से सम्बन्धित निर्देश लिखे रहते हैं।

मानव जीनोम में तीस हजार से पचास हजार के बीच जीन पाये जाते हैं। जिनमें से लगभग बीस हजार पहचाने जा चुके हैं। जीन क्रोमोजोम्स में स्थित रहता है। एक ही क्रोमोजोम में सौकड़ों या हजारों जीन्स हो सकते हैं। प्रत्येक जीन का सम्बन्ध एक निश्चित व्यक्तित्व गुण के निर्धारण से होता है। कुछ शीलगुण केवल एक जीन द्वारा निर्धारित होते हैं तो अन्य सैकड़ों जीन्स के अन्तर्क्रिया से उत्पन्न होते हैं। व्यवहार उत्पन्न होने में हजारों जीन्स एक साथ सक्रिय रहते हैं।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के शीलगुणों के निर्धारण में आनुवांशिकता की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है।

(ब) हारमोन्स- हारमोन का स्राव अन्तःस्रावी ग्रंथियों से होता है जो सीधे रक्त में मिल जाता है। हारमोन व्यक्तित्व विकास और व्यवहार पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं। प्रमुख अन्तःस्रावी ग्रंथियों से स्रवित होने वाले हारमोन का व्यक्ति पर निम्नलिखित प्रभाव पड़ता है- हाइपोथैलेमस से स्रावित हारमोन से पीयूष ग्रंथि को निर्देश मिलता है। पीयूष ग्रंथि का हारमोन अन्य ग्रंथियों, शारीरिक एवं यौन विकास को नियंत्रित करता है। थायरायड से स्रावित हारमोन चयापचय को नियंत्रित करता है। पैराथायरायड के हारमोन कैल्सियम और फास्फोरस को नियमित करते हैं। पैंक्रियाज इन्सुलीन उत्पन्न करता है और शर्करा चयापचय को नियंत्रित करता है। जनन ग्रंथियाँ शारीरिक विकास, यौन और पुनरोत्पादन को नियंत्रित करते हैं। स्पष्ट है हमारे शील गुणों के विकास में हारमोन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है।

2) **पर्यावरणीय निर्धारक (Environmental determinants)-** व्यक्तित्व के पर्यावरणीय निर्धारक में मुख्यतः तीन प्रकार के निर्धारकों का वर्णन किया जाता है -

(क) भौतिक पर्यावरण (Physical Environment)- भौतिक पर्यावरण मानव व्यक्तित्व के निर्धारण में एक कारकीय तत्त्व है। इसमें मुख्यतः तीन तत्त्व आते हैं- जलवायु एवं भूस्थलाकृति, उपलब्ध संसाधन तथा परिसीमाएँ और जनसंख्या घनत्व।अलग-अलग जलवायु और भूस्थलाकृति में मनुष्य का व्यवहार भिन्न हो जाता है (जैसे ठंडा और गर्म प्रदेश, पहाड़ी और मैदानी क्षेत्र)। संसाधनों की प्रचुरता और इसकी कमी भी हमारे व्यवहारों में भिन्नता उत्पन्न करती हैं। जनसंख्या घनत्व का तात्पर्य प्रतिवर्ग कि0मी0 क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों की संख्या से है। जनसंख्या घनत्व अधिक रहने पर संसाधन सीमित होने लगते हैं। फलस्वरूप हमारे व्यक्तित्व में प्रतिद्वन्द्विता की विशेषता बढ़ने लगती है।

(ख़) पारिवारिक पर्यावरण (Family Environments)- परिवार का प्रभाव व्यक्तित्व विकास पर सबसे अधिक पड़ता है। बच्चों की प्रारम्भिक आयु में जब व्यक्तित्व का निर्माण तीव्र गति से

होता है। परिवार समाजीकरण के एक प्रधान अभिकर्ता के रूप में कार्य करता है। बच्चे के व्यक्तित्व पर परिवार का प्रभाव विशिष्ट प्रशिक्षण तथा इसके द्वारा निर्मित नियमों के रूप में पड़ता है। प्रमुख पारिवारिक निर्धारक हैं- 1)माता-पिता तथा बच्चा सम्बन्ध 2)घर का सांवेगिक वातावरण 3)परिवार की सामाजिक-आर्थिक स्थिति 4)परिवार का आकार।

(ग) शैक्षिक पर्यावरण (Educational environments)- शैक्षिक पर्यावरण के निम्नलिखित निर्धारक व्यक्तित्व विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं- 1.प्रारम्भिक स्कूली अनुभूतियाँ, 2.स्कूल का सांवेगिक वातावरण, 3. स्कूल के विषय, 4.स्कूल के प्रकार, 5.शिक्षक की मनोवृत्ति तथा व्यवहार, 6.पाठ्यक्रमेंतर क्रियाएँ , 7.विद्यालय के साथी।

3) **समाज-सांस्कृतिक निर्धारक (Socio-cultural determinants)-** व्यक्तित्व शीलगुणों (विशेषताओं) के विकास में समाज-सांस्कृतिक निर्धारकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। सामाजिक निर्धारकों में प्रमुख हैं- आरम्भिक सामाजिक अनुभूतियों (जैसे पास-पड़ोस), सामाजिक स्वीकृति, सामाजिक गतिशीलता (समाज में व्यक्ति का स्तर या पद परिवर्तित होता रहता है, फलस्वरूप सामाजिक सम्बन्यधों में भी परिवर्तन होता रहता है), समूह की स्थिति (सामाजिक स्तर) एवं पूर्वाग्रह और विभेद।

व्यक्तित्व पर संस्कृति का प्रभाव भी एक तथ्य है। संस्कृति एक व्यापक शब्द है जिसका अर्थ समाज के रीति-रिवाज, आदतें परम्पराओं, रहन-सहन, तौर-तरीकों इत्यादि से होता है। स्पष्ट है समूह के विश्वासों, मूल्यों, खान-पान, वेश-भूषा को संस्कृति कहते हैं। संस्कृति व्यक्ति को सामाजिक विरासत के रूप में प्राप्त होती है। यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को स्थानान्तरित होती रहती है।

18.6 व्यक्तित्व के शीलगुण

शीलगुण व्यक्ति के व्यवहारों की एक ऐसी विशेषता है, जो विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में प्रकट होती है। किसी व्यक्ति को ईमानदार, उत्साही, संवेदनशील इत्यादि कहा जाता है। ये सभी शब्द विशेषण हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति के प्रमुख लक्षणों को व्यक्त किया जा सकता है। इन्हीं लक्षणों को शीलगुण (Trait) कहते हैं।

1) **आलपोर्ट (Allport,G.W.)-** आलपोर्ट, जी0डब्लू0 और उनके सहयोगी आडबर्ट, एच0एस0 ने 1936 में अंग्रेजी शब्दकोश से 17,953 शब्दों का चयन किया, जिनके द्वारा किसी व्यक्ति की विशेषताओं को व्यक्त किया जा सकता है। पर्यायवाची और अस्पष्ट शब्दों को निकालने के बाद 4,505 शीलगुण बचे। इसके बाद आलपोर्ट ने शीलगुणों का समूह बनाया जो एक समान विशेषताओं का वर्णन करते थे। इस प्रकार अन्त में 200 शब्द बचे जो शीलगुणों को प्रतिबिम्बित करते थे।

आलपोर्ट के अनुसार यही 200 शीलगुण व्यक्तित्व की आधारशिला है। स्पष्ट है शीलगुण व्यक्तित्व की मूल इकाई है। आलपोर्ट ने शीलगुणों को दो प्रकारों में बाँटा है -

1. **सामान्य शीलगुण-** ऐसा शीलगुण जो अनेक लोगों में पाया जाता है इसको आलपोर्ट ने महत्वपूर्ण नहीं माना।
2. **व्यक्तिगत शीलगुण-** ऐसे शीलगुण जो व्यक्ति विशेष में पाया जाता है। इनसे व्यक्ति की विशेष समायोजन क्रियाएँ निर्देशित होती हैं, इन्हीं को आलपोर्ट ने महत्त्वपूर्ण माना है। इनको तीन भागों में बाँटा है -

   क- **मूलभूत (Cardinal) शीलगुण-** ऐसा शीलगुण जो व्यक्ति में इतना व्यापक होता है कि व्यक्ति का लगभग प्रत्येक कार्य इससे प्रभावित होकर होता है (जैसे महात्मा गाँधी का सत्य-अहिंसा, हिटलर की आक्रामकता)। यह शीलगुण अधिकांश लोगों में नहीं होता।

   ख- **केन्द्रीय शीलगुण-** केन्द्रीय शीलगुण प्रत्येक व्यक्ति में पाया जाता है। इनकी संख्या कुछ ही होती है (5 से 10 तक)। इन शीलगुणों की अभिव्यक्ति व्यक्ति के बारे में कुछ अनुशंसा करते समय प्रायः किया जाता है। जैसे अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता इत्यादि।

   ग- **गौण शीलगुण-** ऐसे शीलगुण अपेक्षाकृत सतही और कम महत्त्वपूर्ण होते हैं। यह विशिष्ट परिस्थितियों के प्रति व्यक्ति की अभिवृत्ति और प्रतिक्रियाओं से सम्बन्धित रहते हैं।

2) कैटेल (Cattell, R.B.)- कैटेल ने आलपोर्ट द्वारा दिये गये विशेषणों(शीलगुणों) की लम्बी सूची को घटाकर उनमें से केवल 171 शीलगुणों को स्वीकार किया। कारक विश्लेषण(factor analysis) विधि का उपयोग कर इन 171 शीलगुणों को 35 शीलगुण समूहों(trait clusters) में विभाजित किया। पुनः 35 शीलगुण समूहों का कारक विश्लेषण कर कैटेल 16 मूल शीलगुण (source trait) प्राप्त किये। प्रत्येक शीलगुण समूहों को सतही शीलगुण (surface trait) तथा सतही शीलगुण के निर्धारकों को मूल शीलगुण (source trait) बतलाया है।

कारक विश्लेषण के आधार पर कैटेल ने व्यक्तित्व के मूल कारक ज्ञात किये, जो द्विध्रुवीय (bipolar) स्वरूप के होते हैं। प्रत्येक कारक विशेषताओं का अनोखा सम्मिश्रण होता है उच्च छोर पर अलग विशेषताएँ होती हैं तो निम्न छोर पर अन्य विशेषताएँ होती हैं। इनके प्रतिरूप को 'व्यक्तित्व पार्श्वचित्र' पर संक्षिप्त करते हैं। इस प्रतिरूप को प्राप्त करने के लिए कैटेल ने 'सोलह व्यक्तित्व कारक प्रश्नावली' (16PF) का निर्माण किया। यह 187 एकांशों की मापनी है जो 16 अलग प्राप्तांक प्रदान करती है, प्रत्येक कारक के लिए एक।

16 मूल कारक और उनका मापन करने वाली 'सोलह व्यक्तित्व कारक प्रश्नावली' (16PF) का वर्णन, 'व्यक्तित्व का मापन' भाग में किया जायेगा।

3) **बिग फाइव प्रतिरूप (Big Five Model) -** आलपोर्ट तथा कैटेल के योगदानों पर विचार करने पर यह प्रश्न उठता है कि व्यक्तित्व के प्रमुख शीलगुण कौन-कौन हैं। शीलगुण उपागम का मुख्य उद्देश्य इसी प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ना है।

कैटेल के कार्य से प्राप्त मूल्य निर्धारण चरों का उपयोग कर डोनाल्ड फिस्क (1949) ने पहली बार पाँच दोहरे कारकों को प्राप्त किया। टुपीस और क्रिस्टल (1958, 1961) ने आठ प्रतिदर्शों से प्राप्त मूल्य निर्धारण आँकड़ों का पुनर्विश्लेषण किया और पाँच कारकों को प्राप्त किया जो इस प्रकार हैं- (1) आवेशिता(निश्चयात्मक बातूनीपन), (2) सहमतिजन्यता, (3) आश्रितता, (4) सांवेगिक स्थिरता और (5) संस्कृति। व्यक्तित्व कारकों का यह प्रथम समूह है जिसे बिग फाइव कहा गया (Tupes-Christal, 1958, 1961).

विगत दो दशकों में इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण अनुसंधान हुए हैं (Goldberg, 1993; Digman, 1990; McCare-Costa, 1997; Paunonen et al., 1992; Wiggins, 1999)। अध्ययनों में बच्चों, कालेज विद्यार्थियों, प्रौढ़ वयस्कों, स्त्री, प्ररूप और विभिन्न भाषाओं को प्रतिदर्श का आधार बनाया गया। प्रतिदर्श में संयुक्त राज्य अमेरिका (USA), कनाडा, फिनलैंड, जर्मनी, जापान, पोलैण्ड, फिलीपीन्स, चीन और अन्य देश के व्यक्ति सम्मिलित थे। इन शोधकर्ताओं के बीच इस बात की सहमति है कि व्यक्तित्व के निम्नलिखित पाँच कारक हैं जो सभी द्विध्रुवीय हैं -

(क) स्नायुविकृतता (Neuroticism)- इसके 6 शीलगुण हैं चिंता, क्रुद्ध आवेग, विषाद, आत्मचेतना, आवेगशीलता, अतिसंवेदनशीलता।

(ख) इस कारक का विरोधी छोर ऋणात्मक संवेगशीलता है।

(ग) बहिर्मुखता (Extraversion)- इसकी 6 विशेषताएँ हैं- उत्साह, सामुदायिकता, निश्चयात्मकता, क्रियाशीलता, उत्तेजनापसंद और धनात्मक संवेग।

(घ) इसका विरोधी कारक धनात्मक संवेगशीलता (positive emotionality) है।

(ङ) सहमतिजन्यता(Agreeableness)- इसमें छः विशेषताएँ होती हैं - विश्वास, स्पष्टवादिता, परोपकारिता, अनुपालक, शालीनता, आदर्शवादी- आशावादी-धार्मिक।

(च) कर्त्तव्यनिष्ठता(Conscientiousness)- इसके अन्तर्गत आने वाली छः विशेषताएँ हैं - सामर्थ्य, व्यवस्था, कर्त्तव्यपरायण, उपलब्धि की प्रतिस्पर्धा, आत्म अनुशासन, विचार-विमर्श।

(छ) अनुभव के प्रति खुलापन(Openness to experience)- इससे सम्बन्धित छः विशेषताएँ हैं - स्वैरकल्पना, सौन्दर्यबोध, अनुभूति, क्रियाएँ, विचारों और मूल्यों।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्त्व के इस प्रतिरूप के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में तीस विशेषताएँ (पाँच कारक , छः विशेषताएँ) होती हैं। उन विशेषताओं का मापन करने के लिए कोस्टा और मैकक्रे (1985) ने एक प्रश्नावली का निर्माण किया जिसे NEO-PI कहते हैं। इस मापनी में संशोधन 1992 (NEO-PI-R) में हुआ है।

18.7 व्यक्तित्व का मापन

जब भी हम व्यक्तित्व-मापन की चर्चा करते हैं तो हम व्यक्ति के अन्दर विभिन्न मात्राओं में पाये जाने वाले शीलगुणों के सम्बन्ध में बात करते हैं। व्यक्तित्व मापन करते समय हम कुछ विशेष शीलगुणों का चयन कर उसका मापन करते हैं।

अब हम व्यक्तित्व मापन के विभिन्न उपागमों और उससे सम्बन्धित प्रमुख परीक्षणों का वर्णन करेंगे।

1. व्यक्तित्व मापन के उपागम

मनोमितिक परीक्षण	प्रक्षेपी परीक्षण	व्यावहारिक मापन
(अ) सिद्धान्त निर्देशित प्रश्नावलियाँ 1- एडवर्ड्स व्यक्तिगत वरीयता अनुसूची (EPPS) 2-व्यक्तित्व शोध प्रारूप मापनी (PRFS)	(क)साहचर्य तकनीकें 1- रोर्शा इंक ब्लाट परीक्षण 2-होल्जमैन इंक ब्लाट परीक्षण (ख) निर्माण प्रविधियाँ 1-प्रसंगात्मक बोध परीक्षण (TAT) 2- बालक बोध परीक्षण (CAT)	(1) व्यावहारिक साक्षात्कार (2) व्यावहारिक प्रेक्षण (3) संज्ञानात्मक व्यावहारिक मापन (4) संज्ञानात्मक आत्म-प्रतिवेदन अनुसूचियाँ (5) मनोदैहिक मापन
(ब) कारक विश्लेषण से प्राप्त मापनियाँ 1- 16 व्यक्तित्व कारक प्रश्नावली (16PF) 2- आइजिंक व्यक्तित्व प्रश्नावली (EPQ) 3- नियो व्यक्तित्व मापनी संशोधित (NEO-PI-R)	(ग) पूर्ति प्रविधियाँ 1- वाक्य पूर्ति परीक्षण 2- रोजेनविग पी0एफ0 स्टडी (घ) अभिव्यक्त प्रविधियाँ 1- ड्रा-अ-परसन परीक्षण 2- हाउस-ट्री-परसन परीक्षण	

(स) कसौटी आधारित अनुसूचियाँ 1-मिनिसोटा बहुआयामी व्यक्तित्व अनुसूची-पुनर्संरचित प्रारूप (MMPI-2RF) 2- मिलोन नैदानिक बहुअक्षीय अनुसूची- III (MCMI-III) 3- कैलीफोर्निया मनोवैज्ञानिक अनुसूची (CPI)		

उपरोक्त वर्णन में आपने देखा कि व्यक्तित्व की विशेषताओं को मापने के लिए अनेक परीक्षणों का निर्माण हुआ है। सभी परीक्षणों का वर्णन एक इकाई में करना संभव नहीं है, इसलिए यहाँ पर केवल कुछ का वर्णन किया जाएगा।

2) सिद्धान्त निर्देशित प्रश्नावलियाँ:

कुछ आत्म-प्रतिवेदन प्रश्नावलियाँ औपचारिक या अनौपचारिक रूप से व्यक्तित्व सिद्धान्तों से निर्देशित होती हैं। सिद्धान्त निर्देशित प्रश्नावलियों में एडवर्ड्स व्यक्तिगत वरीयता अनुसूची (EPPS) और व्यक्तित्व शोध प्रारूप (PRF) दोनों मरे (1938) के आवश्यकता-दबाव (need-press) सिद्धान्त पर आधारित हैं। मेंयर्स-ब्रिज टाइप इन्डीकेटर (MBTI) युंग के व्यक्तित्व-प्रकार सिद्धान्त पर आधारित है। स्टेट-ट्रेट चिन्ता मापनी व्यक्तित्व के अत्यन्त विशिष्ट अवयवों को मापने का प्रयास करती है।

एडवर्ड्स व्यक्तिगत वरीयता अनुसूची (Edwards Personal Preference Schedule:

इसका निर्माण एडवर्ड्स (1959) ने किया। यह मरे द्वारा बतलाये आवश्यकताओं के मापन एवं मूल्यांकन की अत्यन्त व्यापक अनुसूची है। इस अनुसूची में कथनों के 210 एकांश युग्म हैं। 15 आवश्यकताओं में से किसी भी दो आवश्यकताओं से सम्बन्धित एकांशों को युग्म (pair) के रूप में रखा गया है। परीक्षण के एकांशों की रचना मरे की आवश्यकता सूची से किया गया है तथा केवल उन्हीं एकांशों का चयन किया गया जिनकी विषयवस्तु उनमें से किसी भी आवश्यकता में निहित हो सके।

इस परीक्षण में व्यक्तित्व चित्रण करने वाला एक पार्श्व-चित्र होता है जो विभिन्न आवश्यकताओं से सम्बन्धित शक्ति को प्रदर्शित करता है। इस परीक्षण का उद्देश्य व्यक्तित्व के अध्ययन में मरे द्वारा प्रतिपादित 15 आवश्यकताओं का मापन है।

3) कारक विश्लेषण के द्वारा निर्मित मापनियाँ -

कारक विश्लेषण विधि द्वारा निर्मित परीक्षणों में तीन प्रमुख हैं - (1) 16 व्यक्तित्व कारक प्रश्नावली (16 PF) (2) आइजिंक व्यक्तित्व प्रश्नावली (EPQ), (3) नियो व्यक्तित्व मापनी संशोधित (NEO-PI-R).

सोलह व्यक्तित्व कारक प्रश्नावली (Sixteen Personality Factor Questionnaire - 16 PF-5):

इस परीक्षण का निर्माण कैटेल, आर0बी0 और सैन्डर्स,डी0आर0 ने कारक विश्लेषण विधि से 1949 में किया। इसका दूसरा संस्करण 1956 में, तीसरा संस्करण 1962 में, चौथा संस्करण 1968 में और पाँचवाँ संस्करण 1993 में प्रकाशित हुआ। वर्तमान पाँचवें संस्करण का निर्माण कैटेल, आर0बी0; कैटेल, ए0के0; कैटेल, एच0ई0 ने किया है, इसको 16PF-5 कहा जाता है।

यह पेपर और पेन्सिल अथवा कम्प्यूटर प्रशासित प्रश्नावली है। इसके प्रशासन में 35 से 50 मिनट लगते हैं। इस परीक्षण में 185 एकांश हैं। एकांशों के पठन के लिए पाँचवीं स्तर की पठन क्षमता का होना आवश्यक है। एकांशों में से 76 प्रतिशत चार प्रारम्भिक संस्करणों के लिए गये हैं और 24 प्रतिशत एकांश नये हैं। इस परीक्षण के द्वारा 16 वर्ष और इससे अधिक आयु के व्यक्तियों के शीलगुणों का मापन होता है। यह परीक्षण पाँच प्रारूपों में उपलब्ध है। इस संस्करण में मनोमितिक विशेषताओं में सुधार किया गया है तथा नये मानकों का विकास किया गया है।

16 PF के पाँचवें संस्करण में तीन वैधता मापनियाँ, 16 कारक मापनियाँ और पाँच सार्वभौमिक मापनियाँ हैं।

(A) वैधता मापनियाँ (Validity Scale)

1. द्विध्रुवीय प्रभाव व्यवस्था मापनी (Bipolar Impression Management (IM) Scale)
2. मौन सम्मति मापनी (Acquiescence (ACQ) Scale)
3. विरलता मापनी (Infrequency (INE) Scale)

(B) 16 प्राथमिक कारक मापनियाँ (The 16 Primary Factor Scales)

प्राथमिक कारक	संदर्भ	कम प्राप्तांक की व्याख्या (स्टेन 1-3)	अधिक प्राप्तांक की व्याख्या (स्टेन 8-10)
Warmth (स्नेह/उत्साह/हार्दिकता)	A	संयमी, अवैयक्तिक, उदासीन, शांत, तटस्थ, औपचारिक, अलग-थलग	स्नेह/उत्साह, दूसरों के प्रति शिष्ट, भद्र, आराम तलब, सहभागी, व्यक्तियों को पसन्द करने वाला
Reasoning (तर्क)	B	मूर्त चिंतन, सामान्य मानसिक क्षमता की कमी, कम बुद्धि, अमूर्त समस्याओं का सामना करने की अयोग्यता	अमूर्त तर्क, अधिक बुद्धि, प्रसन्न चित्त, उच्च सामान्य मानसिक क्षमता, तीव्र गति से सीखने वाला
Emotional stability (सांवेगिक स्थिरता)	C	प्रतिक्रियात्मक, सांवेगिक रूप से परिवर्तनशील, भावनाओं द्वारा प्रभावित, सांवेगिक रूप से कम स्थिर, आसानी से अशान्त होने वाला	सांवेगिक रूप से स्थिर, अनुकूलनशील, परिपक्व, वास्तविकता का सामना करने वाला, शान्त
Dominance (प्रभुत्व)	E	श्रद्धापूर्ण, सहयोगात्मक, अन्तर्द्वन्द्व से दूर रहने वाला, दब्बू, विनम्र, आज्ञाकारी, आज्ञापरायण	प्रभुत्वशाली, प्रभावशाली, निश्चयात्मक, आक्रामक, प्रतियोगी, जिद्दी, रोब जमाने वाला
Liveliness (सक्रियता)	F	गंभीरर, नियंत्रित, समझदार, अल्पभाषी, आत्मविश्लेषी, निष्क्रिय	सक्रिय, जीवन्त, स्वतः पुनरावर्तक (स्वतःस्फुर्ति), उत्साही, लापरवाह, प्रसन्न, अभिव्यक्त, आवेगी
Rule Consciouness (नियम चैतन्य/बोध)	G	स्वार्थसाधक, नियमों के अनुसार न चलने वाला, नियमों की उपेक्षा करने वाला, असंयमी	नियम चैतन्य, आज्ञाकारी, कर्त्तव्यनिष्ठ, नियमों के अनुसार चलना, नैतिकवादी, संतुलित, नियमबद्ध
Social Boldness (सामाजिक निर्भीकता)	H	शर्मीला, भय के प्रति अतिसंवेदनशील, नियतकालिक(intimidated)	सामाजिक रूप से निर्भीक, साहसिक, भावशून्य, विरोध न करने वाला, प्रतिबल

प्राथमिक कारक	संदर्भ	कम प्राप्तांक की व्याख्या (स्टेन 1-3)	अधिक प्राप्तांक की व्याख्या (स्टेन 8-10)
			सहनशक्ति
Sensitivity (संवेदनशीलता)	I	स्वार्थी, निष्पक्ष, भावनाहीन, कठोर, आत्मनिर्भर, मूर्खता न करने वाला, रूखा	संवेदनशील, सौन्दर्यपरक, भावुक, कोमल, अन्तर्दर्शी, परिष्कृत
Vigilance (सतर्कता)	L	विश्वास करने वाला, शंका न करने वाला, अनुमोदन करने वाला, शर्तहीन, सहज	सावधान,शंकालु,संशयवादी, आशंकित, अविश्वसनीय, प्रतिरोधी
Abstractedness (absent-minded) (अन्यमनस्कता)	M	जीवन के प्रति संवेदी और वास्तविक अभिवृत्ति रखने वाला, व्यावहारिक, निरस, समाधान उन्मुख, गंभीरर, परम्परावादी	अन्यमनस्क, कल्पनाशील, absent minded (अन्यमनस्कता), अव्यावहारिक, विचारों में तन्मय
Privateness (व्यक्तिगतता)	N	स्पष्टवादी,यथार्थ,स्वाभावि, प्रकट, निष्कपट, भोला-भाला,निराभिमान (अहंकार से परे)	व्यक्तिगत, विवेकशील, अप्रकट, समझदार, परिष्कृत, संसारिक, धूर्त/चालाक, कूटनीतिक
Apprehension (आशंका)	O	आत्मविश्वासी, निश्चिन्त, आत्मसन्तुष्ट,सुरक्षित,अपराध से मुक्त, विश्वासपात्र, आत्मसंतोषी	आशंकित, आत्मसंदेही, शंकालु, अपराध प्रवृत्ति, असुरक्षित, चिन्ताग्रस्त, आत्मनिंदा करने वाला
Openness to change (परिवर्तन के प्रति खुलापन)	Q_1	परम्परावादी, अन्तरंग मित्र से सम्बद्ध, रुढ़िवादी, परम्परावादी विचारों को आदर देने वाला	परिवर्तन के प्रति खुलापन, प्रयोगवादी, विश्लेषणवादी, आलोचनात्मक, मुक्त चिंतन
Self-Reliance (स्वावलंबीन/आत्मनिर्भरता)	Q_2	समूह उन्मुख, सम्बद्ध, मिलानेवाला योजक और अनुयायी	आत्मनिर्भर, एकाकी, साधनसम्पन्न, व्यक्तिपरक, आत्म-अभिमानी
Perfectionism (पूर्णतावाद)	Q_3	अव्यवस्था बरदास्त करने वाला, अकठोर, लचीला,	पूर्णतावादी, संगठित, बाध्यताकारी, आत्म

प्राथमिक कारक	संदर्भ	कम प्राप्तांक की व्याख्या (स्टेन 1-3)	अधिक प्राप्तांक की व्याख्या (स्टेन 8-10)
		अनानुशासित, शिथिल, आत्म अन्तर्द्वन्द्व, आवंगी, सामाजिक नियमों के प्रति लापरवाह, अनियंत्रित	अनुशासित, सामाजिक यथातथ्य, (exact) यथार्थ आत्मबल, नियंत्रण, आत्मभावुक
Tension (तनाव)	Q_4	शिथिल, शान्तिप्रिय, शान्त, निष्क्रिय/आलसी, सहनशील, प्रकृतिस्थ, कम प्रेरणा	ऊर्जावान, बेचैन, असहनशील, सफलता के लिए कड़ी मेंहनत करने वाला, कुण्ठित, अत्यधिक कार्य करने वाला, उच्च प्रेरक का होना, निश्चित समय में सफलता के लिए अत्यधिक मेंहनत करने वाला।

(C) पाँच सार्वभौमिक कारक मापनियाँ (Five Global Factors Scales)

	कम प्राप्तांक की व्याख्या (स्टेन 1-3)	अधिक प्राप्तांक की व्याख्या (स्टेन 8-10)
Extraversion (बहिर्मुखता)	अन्तर्मुखी, सामाजक कार्यों से दूर रहने वाला	बहिर्मुखी, सामाजिक कार्यों में भाग लेने वाला।
Anxiety (चिन्ता)	कम चिन्ता, शिथिल, अविचलित, पूर्ण समायोजित	उच्च चिन्ता, बेचैन, विचलित, पाखण्डी
Tough-mindedness/ willpower (कठोरचिंतन/इच्छाशक्ति)	ग्रहणशील, खुली प्रवृत्ति, सहजानुभूत, भावुकता, संवेदनशीलता	कठोर चिंतन, कृत संकल्प, असहानुभूतिक, दृढ़निश्चय
Independence (स्वतंत्रता)	दब्बू, उदार, सहमत, निःस्वार्थ, दमित	स्वतंत्र, विश्वासोत्पादक/ आकर्षक, जिद्दी
Self-control (आत्मनियंत्रण)	असंयमित, आवेगी, अनियंत्रित	आत्मनियंत्रित, आवेगों का निरोधक।

4) **कसौटी आधारित अनुसूचियाँ-** कसौटी आधारित परीक्षणों में एकांशों का चयन विभिन्न कसौटी समूहों के बीच इसकी विभेदक शक्ति के आधार पर किया जाता है। मिनिसोटा बहुआयामी व्यक्तित्व अनुसूची.2 पुनर्संरचित प्रारूप, मिलोन नैदानिक बहुअक्षीय अनुसूची-III (MCMI-III) और कैलीफोर्निया मनोवैज्ञानिक अनुसूची (CPI) प्रमुख कसौटी आधारित अनुसूची हैं।

मिनिसोटा बहुआयामीय व्यक्तित्व अनुसूची-2 पुनर्संरचित प्रारूप (Minnesota Multiphasic Personality Inventory-2 Restructured Form-MMPI-2RF)

इस परीक्षण का निर्माण हाथवे, एस0आर0 तथा मैक्कीनले, जे0सी0 ने 1943 में किया (MMPI)। यह सत्य-असत्य आत्मप्रतिवेदन प्रश्नावली है। इस परीक्षण में 550 एकांश हैं। इस मापनी में 13 मापनियाँ (तीन वैधता तथा 10 नैदानिक) हैं।

इस परीक्षण का प्रथम संशोधन बुचर एवं अन्य ने 1989 में किया (MMPI-2)। 1992 में बुचर एवं अन्य ने किशोरों के लिए MMPI-A का निर्माण किया।

इस परीक्षण के वर्तमान संस्करण (MMPI-2 RF) का निर्माण 2008 में Auke Tellegen तथा Yossef S. Ben-Porath द्वारा किया गया। इस परीक्षण में एकांशों की कुल संख्या 338 है। इस परीक्षण में आठ वैधता मापनियाँ, तीन उच्च क्रम मापनियाँ, नौ पुनर्संगठित नैदानिक मापनियाँ, पच्चीस अतिरिक्त मापनियाँ तथा पाँच PSY मापनियाँ हैं। इस परीक्षण के द्वारा सोलह वर्ष और इससे अधिक आयु के व्यक्तियों की विशेषताओं का मापन होता है। परीक्षण के मापनियों का वर्णन निम्नलिखित है –

(अ) वैधता मापनियाँ- इसकी संख्या आठ है। सात संशोधित है और एक नई है।

1- परिवर्तनीय अनुक्रिया अस्थिरता-संशोधित (VRIN-r)

2- सत्य अनुक्रिया अस्थिरता-संशोधित (TRIN-r)

3- कभी-कभार (विरल) होने वाली अनुक्रियाएँ-संशोधित (F-r)

4- कभी कभार होने वाली मनोविकृति अनुक्रियाएँ-संशोधित (FP-r)

5- कभी कभार होने वाली कायिक अनुक्रियाएँ (Fs)

6- लक्षण वैधता-संशोधित (FBS-r)

7- असाधारण सद्गुण-संशोधित (L-r)

8- समायोजन वैधता-संशोधित (K-r)

(ब) उच्च क्रम और पुनर्संगठित मापनियाँ-

(I) उच्च क्रम मापनियाँ- इनकी संख्या तीन है -

1. संवेगात्मक/आन्तरिक दुष्क्रिया (EID)
2. विचार दुष्क्रिया (THD)
3. व्यावहारिक/बाह्य विशेषता में दुष्क्रिया (BXD)

(II) पुनर्संगठित नैदानिक मापनियाँ- नैदानिक मापनियाँ नौ हैं -

1. निराशाजनकता (RC1)
2. कायिक शिकायतें (RC2)
3. धनात्मक संवेग की कमी (RC3)
4. दोषदर्शित (RC4)
5. समाज विरोधी व्यवहार (RC5)
6. उत्पीड़न के विचार (RC6)
7. दुष्क्रियात्मक नकारात्मक संवेग (RC7)
8. विपथगामी अभिव्यक्ति (RC8)
9. अल्पउन्मादी क्रियाशीलता (RC9)

टिप्पणी - MMPI-2 के मापनी 5 और मापनी 0 को MMPI-2-RF में हटा दिया गया है।

(स) अतिरिक्त मापनियाँ- MMPI-2-RF में 25 अतिरिक्त मापनियाँ हैं जो पाँच क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं -

I) कायिक/संज्ञानात्मक- इनकी संख्या 5 है - मैलेज रुग्णता, आमाशयान्त्र शिकायत, सर दर्द शिकायत, स्नायुविक शिकायत, और संज्ञानात्मक शिकायत।

II) आन्तरिकता- इनकी संख्या नौ है- आत्महत्या/मृत्यु का विचार, असहायता/ निराशाजनकता, आत्मसंदेह, असमर्थता, प्रतिबल/आशंका, चिन्ता, क्रोध प्रवृत्ति, व्यवहार प्रतिबन्धन का डर, विविध विशिष्ट डर।

III) बाह्यता - इससे सम्बन्धित चार मापनियाँ हैं - किशोर आचरण समस्याएँ, मादक द्रव्य दुरुपयोग, आक्रामकता तथा सक्रियता।

IV) अन्तर्वैयक्तिक- ये पाँच हैं-पारिवारिक समस्याएँ, अन्तर्वैयक्तिक निष्क्रियता, सामाजिक पलायन, शर्मीलापन तथा असम्बद्धता।

V) रुचि- सौन्दर्यपरक साहित्यिक रुचियाँ और यांत्रिक भौतिक रुचियाँ।

(द) **PSY-5-r** इस मापनी में PSY-5 का संशोधित संस्करण सम्मिलित किया गया है। DSM-IV-TR त मापनियाँ Cluster ABC के व्यक्तित्व विकृतियों के Cluster ABC से सम्बन्धित हैं।

1- आक्रामकता (AGGR-r) नैमित्तिक लक्ष्य उन्मुख आक्रामकता,

2- मनोविक्षिप्तता (PSYC-r)वास्तविकता से असम्बद्ध,

3- अनियंत्रित व्यवहार (DISC-r)

4- ऋणात्मक संवेगशीलता/स्नायुविकृतता (NEGE-r)

5- अन्तर्मुखता/धनात्मक संवेगशीलता की कमी (INTR-r)।

18.8 सारांश

- व्यक्तित्व व्यक्ति के मानसिक और शारीरिक तन्त्रों का गतिशील संगठन है जो उसके व्यवहार को निर्धारित करता है। व्यवहार व्यक्ति के आन्तरिक मनोवैज्ञानिक संरचना, बाह्य पर्यावरण तथा इन दोनों में अन्तर्क्रिया का परिणाम होता है।
- शारीरिक गुणों के आधार पर क्रेश्मर ने व्यक्तित्व के चार प्रकार, शेल्डन ने तीन प्रकार बतलाया। मनोवैज्ञानिक गुणों के आधार पर युंग ने व्यक्तित्व को दो प्रकार, आइजिंक ने तीन प्रकार में बाँटा है।
- व्यक्तित्व विशेषताओं के जैविक निर्धारकों में आनुवांशिकता और हारमोन की प्रमुख भूमिका रहती है।

- पर्यावरणीय निर्धारकों में भौतिक पर्यावरण (जलवायु एवं भूस्थलाकृति, उपलबध संसाधन तथा परिसीमाएँ, जनसंख्या घनत्व), पारिवारिक निर्धारक (माता-पिता बच्चा सम्बन्ध, घर का सांवेगिक वातावरण, परिवार की समाज-आर्थिक स्थिति), शैक्षिक पर्यावरण प्रमुख हैं।
- व्यक्तित्व की विशेषताओं के निर्धारण में समाज और संस्कृति की प्रमुख भूमिका रहती है।
- शीलगुण से तात्पर्य व्यक्ति की विशेषताओं से होता है। आलपोर्ट ने इनकी संख्या 200 बतलाई जिनको तीन भागों (मूलभूत शीलगुण, केन्द्रीय शीलगुण, गौण शीलगुण) में बाँटा है।
- कैटेल ने कारक विश्लेषण विधि से 16 मूल शीलगुण जिन्हें वे कारक कहते है प्राप्त किये जो द्विध्रुवी स्वरूप के होते हैं। प्रत्येक कारण, विशेषताओं का अनोखा सम्मिश्रण होता है। उच्च छोर पर अलग विशेषताएँ होती हैं तो निम्न छोर पर अन्य विशेषताएँ होती हैं।
- बिग फाइव प्रतिरूप में पाँच कारक बतलाये गये। प्रत्येक कारक द्विध्रुवीय होते हैं। प्रत्येक कारक में 6 विशेषताएँ होती हैं। इस प्रकार शीलगुणों की संख्या 30 है।
- व्यक्तित्व मापन परीक्षणों के तीन उपागम हैं- मनोमितिक परीक्षण, प्रक्षेपी परीक्षण और व्यावहारिक मापन।
- मनोमितिक परीक्षण निर्माण के तीन तरीके हैं- (1) सिद्धान्त निर्देशित प्रश्नावलियाँ(EPPS, RFS, MBTI, STAT) (2) कारक विश्लेषण द्वारा निर्मित मापनियाँ(16PF-5, EPQ, NEO-PI-R) (3) कसौटी आधारित अनुसूचियाँ(MMPI-2-RF, MCMI-III, CPI)।
- प्रक्षेपी परीक्षणों में रोर्शा, होल्जमैन, टी0ए0टी0, सी0ए0टी0, रोजेनविग पी0एफ0 स्टडी, वाक्यपूर्ति परीक्षण, ड्रा-अ-परसन परीक्षण आते हैं।
- व्यावहारिक मापन प्रविधियों में व्यावहारिक प्रेक्षण, संज्ञानात्मक आत्मप्रतिवेदन अनुसूचियों का उपयोग होता है।
- एडवर्ड्स व्यक्तिगत वरीयता अनुसूची में 210 एकांश युग्म है, जो मरे द्वारा बतलाये आवश्यकताओं में से 15 आवश्यकताओं का मापन करते हैं।
- 16PF-5 का निर्माण कैटेल ने कारक विश्लेषण विधि से किया है। इसका वर्तमान पाँचवाँ संस्करण (16PF-5) का प्रकाशन 1993 में हुआ। इसमें 185 एकांश हैं। यह परीक्षण पाँच प्रारूपों में उपलब्ध हैं। 16PF-5 में तीन वैधता मापनियाँ, 16 कारक मापनियाँ (द्विध्रुवीय स्वरूप) और पाँच सार्वभौमिक मापनियाँ हैं।
- मिनिसोटा बहुआयामी व्यक्तित्व अनुसूची(MMPI) का निर्माण हाथवे तथा मैक्कीनले ने 1943 में किया। इसके वर्तमान संस्करण MMPI-2-RF का निर्माण Tellegen तथा Ben-Porath ने 2008 में किया। वर्तमान संस्करण(MMPI-2-RF) में कुल 338 एकांश हैं। इस परीक्षण में आठ वैधता मापनियाँ, तीन उच्च क्रम मापनियाँ, नौ पुनर्संगठित नैदानिक मापनियाँ, पच्चीस अतिरिक्त मापनियाँ तथा पाँच PSY मापनियाँ हैं।

18.9 शब्दावली

- **व्यक्तित्व:** आनुवंशिकता तथा परिवेश द्वारा निर्धारित प्राणी के वास्तविक या सक्षम व्यवहार प्रारूपों का समग्र योग व्यक्तित्व है।
- **शीलगुण:** व्यक्ति के व्यवहारों की एक ऐसी विशेषता है, जो विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में प्रकट होती है। किसी व्यक्ति को ईमानदार, उत्साही, संवेदनशील इत्यादि कहा जाता है। ये सभी शब्द विशेषण हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति के प्रमुख लक्षणों को व्यक्त किया जा सकता है। इन्हीं लक्षणों को शीलगुण कहते हैं।

18.10 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

1) निम्नलिखित में से कौन सी प्रक्षेपण विधि है -
   a) रोर्शा इंक-ब्लाट परीक्षण
   b) मीनीसोटा बहुव्यक्तित्व परिसूची
   c) कैटन्स 16 पी०एफ० प्रश्नावली
   d) एडवर्डस पर्सनल प्रिफरेन्स शेड्यूल

2) 16 P.F. प्रश्नावली के जन्मदाता..............है।
   a) शेल्डन b) कैटेल c) आलपोर्ट d) मैक्कीनले

उत्तर: 1) a 2) b

18.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- Cervone, D. and Pervin, L.A. (2009). Personality : Theory and Research (11th ed.). John Wiley - Sons.
- Friedman, H.S. and Schustack, M.W. (2003). Personality : Classic Theories and Modern Research (II Ed.). Pearson Education.
- Gary Groth-Marnat (2009). Handbook of Psychological Assessment (5th ed.). John Wiley - Sons.
- Gregory, R. (2004). Psychological Testing : History, Principles and Applications (4th ed.). Pearson Education.

- Matthews, G.; Deary, I.J.; Whiteman, M. (2009). Personality Traits (III ed.). Cambridge University Press.
- Hall, C.S.; Lindzey, G.; Campbell, J.B. (1998). Theories of Personality (4th ed.). John Wiley - Sons.
- John, O.P.; Robins, R.W.; Pervin, L.A. (2008, ed.). Handbook of Personality : Theory and Research (III ed.). New York : Guilford Press.

18.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. व्यक्तित्व के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
2. व्यक्तित्व के प्रकार से आप क्या समझते हैं ?
3. व्यक्तित्व के प्रमुख निर्धारकों पर एक लेख लिखें।
4. शीलगुणों से आप क्या समझते हैं ? इसके विभिन्न उपागमों की संक्षिप्त चर्चा करें।
5. व्यक्तित्व मापन के उपागमों के बारे में बतलाइए।
6. एडवर्ड्स व्यक्तिगत वरीयता अनुसूची पर टिप्पणी लिखें।
7. सोलह व्यक्तित्व कारक प्रश्नावली द्वारा मापे जाने वाले कारकों का वर्णन करें।
8. मिनिसोटा बहुआयामी व्यक्तित्व अनुसूची-2 पुनर्संरचित प्रारूप में सम्मिलित विभिन्न मापनियों का वर्णन कीजिए।